पुष्करिणी

[खड़ी बोली की कविता का प्रतिनिधि संकलन]

संकलनकर्त्ता—

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन

साहित्य-सदन,

चिरगाँव (झाँसी)

सूची

कवि-परिचय

पुष्कारिणी

भूमिका

हिन्दी में काव्य-संकलनों की कमी नहीं है। ऐसी स्थिति में और एक संकलन प्रस्तुत करने के लिए यथेष्ट कारण होना चाहिए। हमारा विश्वास है कि इस संकलन को देख कर पाठक स्वयं ही जान सकेंगे कि इस की विशिष्ट उपयोगिता क्या है; फिर भी उस के विषय में कुछ बातें कह देना उचित होगा।

'पुष्करिणी' खड़ी बोली की कविता का प्रतिनिधि संकलन है। वह तीन खंडों में विभाजित है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि प्रथम खंड में खड़ीबोली का आरम्भिक काव्य है, जिस की मूल प्रवृत्ति खड़ी बोली की दुर्बल काव्य-परम्परा को एक दृढ़ और सुगठित रूप देने की है, द्वितीय खंड में सांस्कृतिक नवजागरण का काव्य है और तृतीय खंड का मूल स्वर युग-चेतना का स्वर है। कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य की प्रगति में जब युग-परिवर्तन आता है अथवा उस की धारा नया मोड़ लेती है, तब परिवर्तन की क्रिया पन्ना उलटने की तरह एक ही क्षण में निष्पन्न नहीं हो जाती; संक्रान्ति में विभिन्न प्रवृत्तियाँ विभिन्न दशाओं में देखी जा सकती हैं। एक ओर बीतते युग की छाप बहुत दूर आगे तक मिलती जाती है, दूसरी ओर नये युग के पूर्व-संकेत बहुत पहले से पाये जाने लगते हैं। परिणामतः 'पुष्करिणी' के तीन खंडों में भी ऐसी स्पष्ट दो टूक विभाजन-रेखा की कमी लक्षित होगी। इतना ही नहीं, एक खंड के भीतर भी संगृहीत कवियों का अथवा उन की कविताओं का क्रम भी शुद्ध कालानुक्रम नहीं है। प्रवृत्तियों के विकास की दृष्टि से आन्तरिक पूर्वापरता का निर्वाह होता रहे, संकलनकर्ता ने निरे कालानुक्रम अथवा कवि के वय से इसे अधिक महत्त्व दिया है। थोड़ा बहुत काल-विपर्यय ऐतिहासिक दृष्टि का केवल विरोधी नहीं बल्कि साधन भी हो सकता है।

'पुष्करिणी' में यद्यपि हिन्दी काव्य की अत्याधुनिक कृतियों का कलन नहीं है, तथापि हम समझते हैं कि उसे खड़ी बोली का प्रतिनिधि संकलन कहना अनुचित नहीं है। अत्याधुनिक प्रवृत्तियाँ सदैव विवादास्पद होती हैं, विवाद उनकी अच्छाई या बुराई तक ही सीमित नहीं होता वरन् इस पर भी हो सकता है कि कोई लक्ष्य विशेषता वास्तव में नयी प्रवृत्तियाँ हैं भी या नहीं; या केवल एक अहेतुक, आधारहीन वैचित्र्य है, जैसे गेहूँ के खेत में अकस्मात् कभी पोस्ते का फूल दीख जाता है। इसलिये अगर अत्याधुनिक का एक स्वतन्त्र-संकलन ही न किया जाय, तो वह भ्रान्ति उत्पन्न कर सकता है। 'पुष्करिणी' खड़ी बोली की काव्य परम्परा की आधुनिक के उस संधि-स्थल तक ले आती है जहाँ से नयी कविता का आरम्भ होता है। इसके आगे क्रमशः और संकलन जोड़ देना तो सम्भव है, पर उससे 'पुष्करिणी' की प्रतिनिधिकता में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

हमारा विश्वास है कि अनेक संकलन-ग्रन्थों के रहते भी 'पुष्करिणी' जैसा संकलन हिन्दी में दूसरा नहीं है। क्यों ? एक तो इसीलिये कि संकलनों का आयतन और क्षेत्र प्रायः संकुचित रहता रहा है। इतना बड़ा संकलन अब तक नहीं किया गया। हमारा उद्देश्य यह नहीं रहा कि संकलित प्रत्येक कवि के थोड़े थोड़े पद्य चुन कर पाठ्यक्रमों के अनुकूल एक संग्रह तैयार कर दिया जाय। हमारा उद्योग यह था कि संग्रहीत प्रत्येक कवि का प्रतिनिधि संकलन दिया जाये—ऐसा संकलन जिस के द्वारा पाठक कवि की समूची काव्य-कृति से परिचित हो जाये, कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व के सभी पहलू जिस में प्रतिबिम्बित हों। इसके लिए जहाँ-जहाँ वैसा सम्भव था हमने स्वयं कवि से भी संकलन पर सम्मति ले ली, रुचि वैचित्र्य तो होता ही है (और रुचि के क्षेत्र में बहुधा कवि से काव्य-रसिक का मन अधिक ग्राह्य होता है।) पर हमने अपने संकलन को तब तक प्रामाणिक नहीं माना जब तक हम ने यह नहीं देख लिया कि उस से स्वयं कवि को यह सन्तोष हो सका है—या हो सकता—कि उसकी रचना के सभी पक्ष उसमें संकलित हो गये हैं।

संकलन की प्रतिनिधिकता और प्रामाणिकता के विषय में इतना ही अलम् होना चाहिए। किन्तु एक बात और भी कहना आवश्यक जान पड़ता है। यह संकलन मुख्यतया उस व्यक्ति को सामने रख कर प्रस्तुत किया गया है जो हिन्दी के समूचे काव्य-कृतित्व का परिचय तो चाहता है, पर प्रत्येक कवि के

अलग अलग अनेक ग्रन्थों का संग्रह और पारायण करने का साधन या समय जिस के पास नहीं है। अर्थात् इसका उद्देश्य कविता-प्रेमी को हिन्दी की कविता-भूमि का थोड़े में तीर्थाटन करा देना है। ऐसा संकलन हिन्दी अध्येता के लिए उपयोगी है। ऐसा सोचा जा सकता है कि अध्येता या रसिक के लिये जो उपयोगी है, वह परीक्षार्थी छात्र के लिये उपयोगी कदाचित् न हो, पर हमारा विश्वास है कि ठीक इस भ्रान्त धारणा के कारण हमारे पाठ्यक्रमों के लिए प्रस्तुत संकलन बहुधा घटिया होते हैं, वे यह मानकर चलते हैं कि पाठनोपयोगी काव्य के मानदण्ड शुद्ध साहित्यक मानदण्डों से इतर कुछ होते हैं। हमारा चयन काव्य-साहित्य के सर्वोच्च मानदंडों से हुआ है, उसमें कुछ रियायत हुई है तो इसी दृष्टि से कि कवि की प्रतिभा के सभी पक्षों का प्रतिबिम्बन अवश्य हो जाये—और जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ भी प्रत्येक पक्ष की कसोटी काव्योत्कर्ष की दृष्टि से हुई है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि पाठक के मानदंडों को शुद्ध साहित्यिक मानदंडों से अलग समझना भूल है; और इसलिए हम यह मानते हैं कि हमारा संकलन प्रथमतः विद्यार्थी के लिए न किया जाकर भी—बल्कि उस कारण ही !—उसके लिए सर्वाधिक उपयोगी है।

'पुष्करिणी' के प्रथम खंड में खड़ी बोली का आरम्भिक काव्य है। उसमें वह अनगढ़पन और साहित्यिक लक्ष्यों के विषय में अनिश्चितता स्पष्ट झलकती है जो आरम्भिक काल में अनपेक्षित न होती। इतना ही नहीं, यह भी कहना कदाचित् असंगत न होगा कि उसमें अनिश्चय से आगे एक प्रकार की उद्भ्रान्ति, एक अकुलाहट-भरा टटोलने का भाव भी है, किन्तु आदर्शों और प्रतिमानों की जिस संक्रान्ति में यह काव्य रचा गया उसे ध्यान में रखते हुए यह भी अप्रत्याशित तो नहीं कहा जा सकता। फिर भी इस काल में दो मुख्य धाराएँ पहचानी जा सकती हैं—यदि हम उस प्रवृत्ति को छोड़ दें जिसका एक मात्र उद्देश्य प्राचीन परम्परा से सम्बन्ध जोड़ना था—समस्या-पूर्तियों द्वारा, दिये गये विषयों पर अथवा रूढ़ अभिप्रायों पर छन्द रच कर, इत्यादि। एक धारा में नैतिक भावना या उपदेशात्मकता प्रधान थी, दूसरी मुख्यतया वर्णनात्मक या इतिवृत्तात्मक थी। गहरे देखें तो दोनों के मूल में आत्म-प्रतिष्ठापन की भावना थी—क्या अपना है, उस में क्या ऐसा है जो गौरव का विषय हो सकता है और जो आपसी फूट से हारे हुए देश में नये ऐक्य का आधार हो सकता है, इसे पाने और प्रतिष्ठित करने का आग्रह इस काल में सब कवियों में था। प्रतिमानों की

आवश्यकता भाषा की दृष्टि से भी कम नहीं थी : इस काल के कवियों की भाषा प्रायः अटपटी और अनगढ़ है, और निरन्तर एक ओर संस्कृत और दूसरी ओर फारसी, एक और पुस्तकीय कृत्रिमता और दूसरी और लोक-भाषाओं या बोलियों की प्राकृतता की टेक लेती हुई चलती है। 'अन्तरंग दृष्टि से जहाँ इस युग के काव्य में एक नयी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता जन्म ले रही थी, बहिरंग की दृष्टि से वहीं गतानुगतिकता की ओट में उसकी अभिव्यक्ति के लिए नयी काव्यभाषा का भी निर्माण हो रहा था।'

दूसरे खंड का काव्य उस युग का काव्य है जिसे खड़ी बोली का उत्कर्ष युग कहा जा सकता है और नहीं तो इसीलिये कि उसी की देन का यह परिणाम हुआ कि उसके बाद से खड़ी बोली को ही हिन्दी का पर्याय माना जाने लगा, हिन्दी काव्य और साहित्य का अर्थ खड़ी बोली का काव्य और साहित्य हो गया, और खड़ी बोली को छोड़ इतर भाषाओं को अपने अस्तित्व की घोषणा के लिए अलग नामों का प्रयोग करना पड़ा।

दूसरे खंड में भी 'दो प्रवृत्तियाँ समान्तर चलती हैं। एक तो राष्ट्रीय जागरण और उद्बोधन का—या उस की सम्पूर्ण व्याप्ति को देखते हुए सांस्कृतिक चेतना का काव्य है, दूसरा वह है जिसे 'छायावादी' कहा जाता है और जो गीतितत्त्व या अन्तर्भावना का नवोत्थान है।' और जिस प्रकार प्रथम खंड के "काव्य में, परम्परा के आग्रह के भीतर एक नयी और आधुनिक राष्ट्रीयता जन्म ले रही थी," उसी प्रकार दूसरे खंड के काव्य में भावनाओं के आग्रह के भीतर से वास्तववाद के नये अंकुर फूटते दीख जाते हैं।

ऐसा ही द्वैत-भाव तीसरे खंड में लक्षित होता है। जिस प्रकार दूसरे खंड का काव्य, पहले के काव्य के दाय को स्वीकार करता हुआ और आगे बढ़ाता हुआ उस के समान्तर एक दूसरी प्रवृत्ति प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार तीसरे खंड में भी एक और दूसरे की परम्परा आगे बढ़ती है तो दूसरी ओर एक समान्तर नयी प्रवृत्ति भी लक्षित हो जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से हम खड़ी बोली की कविता के क्रमिक विकास में पाश्चात्य विचार और साहित्य के विभिन्न प्रकार के प्रभावों का विश्लेषण कर सकते हैं, और छायावादी तथा परवर्ती काव्य में तो पाश्चात्य दर्शन और साहित्य—और विशेषतया अँग्रेज़ी साहित्य—का प्रभाव प्रत्यक्ष ही है, किन्तु हिन्दी कविता पर अँग्रेज़ी के रोमांटिक कवियों के प्रभाव का अध्ययन करते समय यह न भूलना चाहिये कि स्वयं अँग्रेज़ी काव्य में रोमांटिकवाद का

उदय बहुत दूर तक पूर्वीय प्रभावों का परिणाम था। अँग्रेज़ी ने सीधे उसका ग्रहण भले ही इटली और यूनान के साहित्यों से किया हो; पर इन्ह देशों के या साधारणतया सारे दक्षिणपूर्व यूरोप के वाङ्मय पर और अन्य कला-प्रकारों पर पूर्वी प्रभाव गहरा और असन्दिग्ध था। किन्तु इसके विस्तृत विवेचन का स्थान यह नहीं है। यहाँ इतना और कहना पर्याप्त होगा कि तीसरे चरण के मुख्यतया वास्तववादी स्वर में ही मानवता के आग्रह के उस नये स्वर की भनक पहचानी जा सकती है जिसे परवर्ती काव्य का मुख्य और विशिष्ट स्वर कहा जा सकता है। इस प्रकार 'पुष्करिणी' में संकलित काव्य सहज ही हमें उस नये युग की ड्योढ़ी तक पहुँचा देता है जिसे 'नयी कविता' की अभिधा दी जा रही है।

किसी भी काव्य संकलन को देखकर काव्य-प्रेमी के मन में प्रश्न उठ सकता है कि 'इसमें अमुक कविता क्यों नहीं ?' अथवा, अमुक कवि क्यों नहीं है ?' जहाँ कला है, वहाँ कुछ तो छूटेगा ही। पर जहाँ तक कविता का प्रश्न है, प्रत्येक कवि की लगभग सात-आठ सौ पंक्तियाँ संकलित करने की हमारी मर्यादा को देखते हुए ही उसका उत्तर पाना होगा। कहीं-कहीं पंक्ति-संख्या इससे आधी से भी कम है; ऐसे प्रसंग में यह बता देना उचित होगा कि एक तो अनुवादों को बिल्कुल नहीं लिया गया; दूसरे जिन कवियों ने खड़ी बोली के अलावा दूसरी बोलियों में भी काव्य रचा, उन की केवल खड़ी बोली की रचनाएँ सम्मुख रखी गयीं। और जहाँ तक कवियों का प्रश्न है, एक तो यह ध्यान में रखना होगा कि प्रत्येक खंड में कवियों की संख्या एक ही रखी गयी है, जैसा कि आरम्भ में बताया जा चुका है, थोड़ा सा काल-विपर्यय काव्य की अन्तर्धारा की स्पष्ट पहचान के लिए अनुज्ञेय समझा गया।

'पुष्करिणी' पारखी काव्य-प्रेमियों को समर्पित है। उन्हीं की सहृदयता और मर्मज्ञता काव्य के स्थायित्व और काव्य-संकलनों की उपयोगिता का निर्णय करती है।

—सम्पादक

——०○——

खड़ी बोली की कविता : पृष्ठभूमि

समकालीन साहित्य-प्रवृत्तियों का निरूपण और मूल्यांकन किसी भी देश या काल में एक दुस्तर कार्य होता है। हमारे आज के युग में तो यह कार्य और भी कठिन है, क्योंकि समकालीन जीवन की प्रगति इतनी द्रुत, उलझी हुई और जटिल है कि उसके विकास की दिशा पहचानना, उसकी प्रवृत्ति के सूत्र पकड़ना एक अन्तर्द्रष्टा का काम हो गया है। और अन्तर्द्रष्टा का सहज-बोध स्वभावतः ऐसी वस्तु है कि उसे हम तत्काल स्वीकार नहीं कर पाते, काल की कसौटी पर ही उस की परख होती है और कालान्तर में ही हम उसकी प्रामाणिकता पहचानते और अंगीकार करते हैं।

ऐसी स्थिति में समकालीन हिन्दी काव्य के बारे में दावे के साथ कुछ कहना जोखम का ही काम है। किन्तु यदि वादी हो कर कोई बात न कही जाय, अध्येता के रूप में निकट अतीत की प्रवृत्तियों को पहचान कर उनके आधार पर समकालीन कृतित्व के और सम्भाव्य प्रगति के बारे में कुछ अनुमान किया जाय, तो उसे निराधार कल्पना न कहा जा सकेगा, और समकालीन कृति-साहित्य के अध्ययन में उससे कदाचित् कुछ प्रकाश भी मिल सकेगा।

हिन्दी काव्य के इतिहास की परम्परा में जो विभिन्न आन्दोलन आये उन्हें ध्यान में रखते हुए, उन्नीसवीं शती में खड़ी बोली और उसके काव्य-साहित्य के नवजागरण के विषय में कोई एक साधारण स्थापना करनी हो तो यही बात सबसे अधिक युक्ति संगत और अभिप्रायपूर्ण होगी कि 'खड़ी बोली का अभ्युत्थान साहित्य में लौकिकता की प्रतिष्ठा और स्वीकृति का पर्याय था। निस्सन्देह रीतिकाल के साहित्य में भी एक प्रकार की लौकिकता थी, और उत्तर रीतिकाल की अतिरंजित श्रृंगारिकता में ऐन्द्रिय उत्तेजना के उपकरणों से आगे

किसी गम्भीर आध्यात्मिक अभिप्राय की खोज पाठक की विश्वास-क्षमता पर जोर डालती है; तथापि राजा के मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करने वाला कवि भी उस प्राचीन परम्परा का ही निर्वाह करता था जिसके अनुसार राजा में देवता का अंश होता है : राजभक्ति भी धर्म-भक्ति का और इस प्रकार भगवद्भक्ति का एक अङ्ग होती है। हिन्दी काव्य की परम्परा में उस समय तक धर्म-भावना प्रधान रही; मुस्लिम काल में जितने साहित्यिक आन्दोलन और उत्थान हुए सब की मूल प्रेरणा भी धार्मिक ही रही। उन्नीसवीं शती में जिस साहित्यिक उन्मेष का आरम्भ हुआ, वही पहले-पहल इसका अपवाद हुआ : उसकी मूल प्रेरणायें धार्मिक न हो कर लौकिक रहीं और उन में की लोक-चेतना न केवल बनी रही वरन् क्रमशः और भी स्पष्ट और व्यापक होती गयी। जिस सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति में इस लौकिकता का उदय हुआ, उस के सन्दर्भ में ही इसी का आविर्भाव और विकास ठीक-ठीक समझा जा सकता है।

खड़ी बोली का उत्थान उस समय आरम्भ हुआ जब कि भारत की केन्द्रीय सत्ता तो विघटित हो ही चुकी थी, उसके उत्तराधिकारी विभिन्न मुस्लिम राज्य भी हीन और निःसत्व थे और देशी रजवाड़े तथा सामन्ती शासन भी जीर्णावस्था को प्राप्त हो चुके थे। समाज दलित, निर्धन और असन्तुष्ट था। इस प्रकार समाज के भीतर विरोध और संघर्ष के लिए भूमि तैयार थी। किन्तु इन सोयी हुई सामाजिक शक्तियों को जगाने और धार देने के लिए जिस आध्यात्मिक प्रेरणा की आवश्यकता थी उसका अभाव था। वह प्रेरणा उसे पश्चिमी विचार-दर्शन के बौद्धिक और भाविक धक्के से मिली। लम्बी किन्तु ह्रासगत सांस्कृतिक परम्परा वाली एक वृद्ध, विशृंखल, वर्त्तमान दैन्य और भविष्यत् अनिश्चय के कारण अतीतोन्मुख जर्जर जाति को, एक मिश्र संस्कृति और तरुण परम्परा वाली किन्तु समृद्ध और समर्थ जाति की आत्म-विश्वास भरी भविष्योन्मुखता ने उसका सच्चा रूप उघाड़ कर दिखा दिया। इस मार्मिक आघात से भारतीय समाज तिलमिला उठा, साथ ही उसे एक नयी दृष्टि मिली; अपने ही सम्बन्ध में उसमें एक नया और तीव्र जिज्ञासा-भाव उत्पन्न हुआ। यह जिज्ञासा भी लौकिक थी और इसके उत्तर भी लौकिक ही हो सकते थे।

पश्चिम के सम्पर्क से जो बहुविध प्रमन्थन आरम्भ हुआ उससे भारतीय समाज बड़ी तेज़ी से बदलने लगा। सामाजिक क्षेत्र में विचारों के इस खमीर ने नयी केन्द्रोन्मुख प्रवृत्तियों को उकसाया : विशृंखल और विभाजित समाज को

पुनः संगठित करने की भावना एकाधिक सामाजिक आन्दोलनों में प्रकट हुई। आर्य समाज और ब्राह्म समाज दोनों उभय-क्षेत्रीय आन्दोलन थे, उनका धार्मिक पक्ष भी नगण्य नहीं था पर विशेष महत्व उनकी सामाजिक भावना का ही था। उनका धार्मिक आग्रह (यह बात ब्राह्म समाज की अपेक्षा आर्यसमाज के विषय में और अधिक सच है) सुधार द्वारा आत्मरक्षा का था, उनका सामाजिक आग्रह एक स्वस्थतर संगठन था। दोनों ही क्षेत्रों में रूढ़िभार से मुक्ति का प्रयत्न था।

राजनैतिक-आर्थिक क्षेत्र में इस खमीर ने इतिहास के नये शोध की प्रवृत्ति दी: विदेशीय सम्पर्क और प्रभाव का एक नया रूप हमारे सम्मुख आया। सामन्तों-रजवाड़ों के सन्धि-विग्रहों और गठबन्धनों से ऊपर उठकर हम यह स्पष्ट देखने लगे कि नयी विदेशी सत्ता राजनैतिक और आर्थिक शोषण का यन्त्र है, और हिन्दू-मुस्लिम सभी समान रूप से उसके शोषित और शोष्य हैं। ('चूरन साहेब लोग जो खाता, सारा हिन्द हजम कर जाता' अथवा भीतर-भीतर सब रस चूसै, हँसि-हँसि मैं तन-मन-धन मूसै...अँगरेज'—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)। भारत लुट रहा है, और भारत का धन विदेशों को चला जा रहा है, इसके नीचे अनुभव ने व्यापक राष्ट्रीयता की भावना को पुष्ट किया।

शिक्षा और मनोविकास के क्षेत्र में इसी खमीर ने मानवीय दर्शन की प्रतिष्ठा की। विकासवाद के सिद्धान्त और उससे उद्भूत मानव की श्रेष्ठता के बोध ने एक वैचारिक क्रान्ति ला उपस्थित की, उसके प्रभाव की गहराई और व्यापकता देखते हुए उसे आध्यात्मिक क्रान्ति कहना भी अत्युक्ति न होगा। मानव अभी तक एक देवोन्मुख अकिंचन तत्व था, अब वह सहसा सृष्टि का केन्द्रबिन्दु बन गया। निस्सन्देह ईश्वरीय सृष्टि का एक अंग होने के नाते भी उसके अधिकार और उत्तरदायित्व निश्चित किये जा सकते थे—धार्मिक आचार और धर्माश्रित नैतिकता में द्विधा या अनिश्चय नहीं था; पर प्राकृतिक सृष्टि का शीर्ष-स्थानीय अथवा मानवीय समाज का केन्द्र होने पर उसके सारे प्रतिमान और मूल्य बदल गये और उसके आचार अथवा नैतिकिता की कसौटी ईश्वर-निष्ठा न रह कर मानव-निष्ठा हो गयी। जिस लौकिकता की चर्चा हम कर रहे हैं, वह वास्तव में 'मूल्यों के पुनर्मूल्यन' का ही पहलू है। मूल्यों अथवा प्रतिमानों और संस्कृतियों का गहरा सम्बन्ध होता है—निश्चित प्रतिमानों पर आधारित सर्वतोमुखी रचनाशील प्रगति ही तो संस्कृति है—पर इस सम्बन्ध में ही यह बात निहित है कि नये प्रतिमान सहसा नहीं बन जाते, वे एक सांस्कृतिक

परम्परा माँगते हैं। सांस्कृतिक परम्पराओं का उन्मूलन तो सरल होता है, नयी परम्पराओं का रोपण उतना सुकर नहीं, पुराने मूल्यों का अवमूल्यन आसानी से किया जा सकता है पर नये मूल्यों की प्रतिष्ठा दीर्घकालीन प्रयास माँगती है। लौकिकता का उदय और विकास भी बिना अव्यवस्था के नहीं हुआ। इस काल में समय-समय पर जो नास्तिवादी या नकारात्मक दर्शन सामने आते रहे, वे उस दिग्भ्रम को ही सूचित करते हैं जो देवोन्मुखता से हट कर मानवोन्मुखता तक पहुँचने के संक्रमण-काल में स्वाभाविक थे। इस दिग्भ्रम ने और अधिक व्यापक अराजकता का रूप क्यों नहीं लिया, इसके विशद अध्ययन का यहाँ स्थान नहीं है, यहाँ इतना संकेत यथेष्ट होगा कि अराजकतावादी दर्शनों की धूम इसी काल में रही, पर उनका आदर्शवाद कार्यान्वित न हो सका क्योंकि व्यवहार को अनुशासित करने वाली सामाजिक शक्तियाँ भी इस काल में प्रकट हुईं। इंग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति और उसके प्रभावों का अध्ययन तत्कालीन राजनैतिक ही नहीं, सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों को भी समझने के लिए आवश्यक है। यूरोप में राष्ट्रीयतावाद की जो लहर फैली, उसका औद्योगिक क्रान्ति से गहरा सम्बन्ध था। इस कारण यूरोप में राष्ट्रीयतावाद ने एक आक्रामक रूप लिया जिसका चरम रूप उपनिवेशवाद हुआ। दूसरी ओर औद्योगिक क्रान्ति का इतना ही गहरा सम्बन्ध उस उदार मानवीय दृष्टि से था जिसने मानव-स्वाधीनतावादी अथवा 'लिबरल' दर्शनों को जन्म दिया। इधर के राजनैतिक और सिद्धान्तवादी संघर्षों के कारण हम बहुधा आर्थिक संघर्ष के प्रभावों को ही सर्वोपरि महत्व देने की भूल कर जाते हैं; हमें यह न भूलना चाहिये कि मानवी-स्वाधीनता के जो नये मूल्य हमें मिले वे इसी युग की देन हैं। 'मानव स्वतन्त्र है, या हो सकता है' लिबरल दर्शनों को अनुप्राणित करने वाला मूल विश्वास यह था; उस स्वतन्त्रता की परिभाषा और रक्षा-व्यवस्था के बारे में विचार भिन्न हो सकते थे। मानव की स्वतन्त्रता की परिभाषा का विवाद हल हो चुका हो ऐसा नहीं है; पर उसके लिए निरन्तर आन्दोलन और सर्वसत्तावादी प्रवृत्तियों के अतिवाद द्वारा मानव-मात्र के एक नयी मानसिक दासता में बँध जाने की सम्भावना का विरोध करने की शक्ति हमें इसी विश्वास से मिली। कलाकार की स्वाधीनता का आदर्श मानव की स्वधीनता के आग्रह का एक पहलू था। इसके अपने भी अतिवाद थे, जो आज ऐतिहासिक कौतुक-वस्तु से अधिक महत्व नहीं रखते, पर आज के आस्थावान् कलाकार की स्वाधीनता अथवा स्वतन्त्र विवेक का आग्रह उन्नीसवीं शती के

'कला के लिए कला' के आन्दोलन से सर्वथा भिन्न है।

तो खड़ी बोली के माध्यम से हिन्दी साहित्य का जो उन्मेष उन्नीसवीं शती के मध्य से आरम्भ हुआ, उसकी सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता यह नयी लौकिकता अथवा लौकिक दृष्टि ही है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस प्रवृत्ति को एक घना पुंजित, आत्म-चेतन और सोद्देश्य रूप दिया। ह्रासशील दरबारों के दूषित वातावरण में क्षयप्राप्त होते हुए हिन्दी साहित्य को वह उबार कर नयी लोक-भूमि पर लाये। इस प्रकार के मौलिक परिवर्तन किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं लाये जाते, यद्यपि मौलिक प्रतिभाशाली व्यक्तित्वों की छाप उनपर पड़ सकती है। भारतेन्दु भी जिस आन्दलोन के निमित्त बने, उसे ऐतिहासिक कारणों की पृष्ठिका के साथही देखना होगा। उन्नीसवीं शतीका भारत ऐसे परिवर्तन के लिए तैयार ही था। जैसी स्थिति थी, उसमें राष्ट्रीयतावाद वैसा विकृत रूप नहीं ले सकता था जैसा उसने यूरोप में लिया, भारत में वह स्वदेश प्रेम के रूप में ही प्रकट हुआ। उसने जातीय उत्कर्ष की भावना को उभारा और साधारणतया देश को एक नयी सांस्कृतिक चेतना दी। अपनी सभ्यता और संस्कृति का गर्व इस सांस्कृतिक नव-चेतन का ही फल था और स्वभाषा-प्रेम उस गर्व का एक पहलू।

किन्तु उन्नीसवीं शती के भारत में लौकिकता के उदय की, और उसके सम्बन्ध में भारतीय साहित्यों के अथवा विशेषतया हिन्दी साहित्य के नवोन्मेष की चर्चा एक बात है, और खड़ी बोली के अभ्युत्थान और व्यापक प्रसार की चर्चा दूसरी बात। खड़ी बोली के अभ्युदय के कारण स्वतन्त्र परीक्षण माँगते हैं, क्योंकि परवर्ती प्रगति को ठीक परिपार्श्व में रखने के लिए केवल साहित्य की अन्तः प्रवृत्तियों को नहीं, भाषा की प्रवृत्तियों को भी समझना अनिवार्य है।

हिन्दी साहित्य में लौकिक दृष्टि का आविर्भाव, और खड़ी बोली में साहित्य-रचना के नवयुग का आरम्भ दोनों एक साथ हुए, साहित्य के इतिहास का कोई भी अध्येता इसे लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या यह केवल आकस्मिक संयोग था, या कि दोनों घटनाओं में कोई सम्बन्ध था। क्या कारण था कि हिन्दी की रचनात्मक प्रतिभा ने साहित्य की एक सम्पन्न, मधुर और परिमार्जित प्रतिष्ठित भाषा से विमुख हो कर एक रूखी और अटपटी बोली को अपनाना आरम्भ कर दिया? दो हज़ार वर्ष पहले बौद्ध साहित्य ने भी संस्कृत को छोड़ कर प्राकृत को अपनाया था, किन्तु इस ऊपरी समानता का ऐतिहासिक अभिप्रेत कितना है इसपर विवाद हो सकता है। क्योंकि

ब्रज-भाषा केवल साहित्य की या किसी विशिष्ट अभिजात वर्ग की भाषा ही रही हो या रह गयी हो ऐसा नहीं था, वह भी एक जीवित सहज प्रचलित जन-भाषा थी। बल्कि इस काल की हिन्दी रचनाओं में जो खड़ी बोली व्यवहृत हुई—जिसे यथार्थ दृष्टि से देखने पर एक सीमा तक चेष्टित, कृत्रिम पुस्तकीय भाषा स्वीकार करना होगा—उससे ब्रज-भाषा कहीं अधिक जन-भाषा थी : उसका एक स्पष्ट निर्दिष्ट फिर भी विस्तीर्ण प्रदेश था जहाँ वह मातृभाषा के रूप में सहज-भाव से बोली और बरती जाती थी। और फिर यदि यह भाषा-परिवर्त्तन संस्कृत को छोड़ कर पालि प्राकृत अपनाने जैसी क्रिया थी, अर्थात् उसकी जड़ में एक अभिजात संस्कारी भाषा का तिरस्कार करके सहज लोक-भाषा का व्यवहार करने की सामाजिक विद्रोह की भावना थी, तो साहित्यक ब्रज-भाषा को छोड़ कर विभिन्न आंचलिक बोलियों या मातृभाषाओं को क्यों नहीं अपनाया गया ? केवल एक बोली और वह खड़ी बोली, क्यों इस सामाजिक विद्रोह का अस्त्र बनी ? और इससे भी अधिक मार्के की बात : इस अस्त्र का समर्थ और निष्ठापूर्ण प्रयोग खड़ी बोली के अपने प्रदेश में न हो कर दूर बनारस में क्यों हुआ, जो कि एक दूसरी और उतनी ही समर्थ जनभाषा का प्रदेश था ? स्पष्ट है कि इस परिवर्तन को समझने के लिए संस्कृत-पालि का उदाहरण सीधा-सीधा नहीं लागू किया जा सकता, और सामाजिक चेतना की प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं की पड़ताल आवश्यक है।

खड़ी बोली के उत्थान में ब्रजभाषा के प्रति किसी प्रकार का द्वेष, या एक प्रदेश की भाषा को छोड़ने का कोई आग्रह नहीं था। खड़ी बोली के अंगीकार में अगर ऐसा नकारात्मक कोई आग्रह था जिसे ब्रज-विरोधी कहा जा सके, तो वह भाषा के परित्याग का नहीं, उसकी सामन्ती परम्पराओं के परित्याग का आग्रह था। व्रज के एक सजीव आंचलिक भाषा होते हुये भी रीतिवादी परम्परा ने उसके साहित्यिक रूप को एक ऐसे साँचे में ढाल दिया था कि वह कृत्रिमता के कड़े बन्धन में बँध गया था और उसे अभिजात वर्गीय अथवा सामन्ती पूर्वग्रहों से मुक्त करना कठिन हो गया था।

सामन्ती परम्पराओं के प्रति उदासीनता खड़ी बोली के उत्थान का पहला (और नकारात्मक) कारण था। दूसरा—और इसका रचनात्मक महत्व स्पष्ट ही है—कारण था व्यापकता की खोज : राष्ट्रीयता की केन्द्रोन्मुख भावना के उदय और विकास के साथ-साथ एक व्यापक भाषा—या व्यापक भाषा की अनुपस्थिति में सबसे अधिक व्यापक घटक—की खोज स्वाभाविक थी। और यह

व्यापक घटक खड़ी बोली ही हो सकती थी : ब्रज भाषा का उपयोग अपने प्रदेश से बाहर केवल साहित्य-क्षेत्र तक सीमित था, जब कि खड़ी बोली अपने प्रदेश से बाहर लोक-व्यवहार में भी आती थी, भले ही अशुद्ध रूप में। यहाँ खड़ी बोली के अन्तर्गत हिन्दी-उर्दू के प्रश्न को उठाना अनावश्यक है। यहाँ तक कि उर्दू का कोई मताग्रही समर्थक खड़ी बोली को उर्दू का पर्याय भी कहना चाहे (जो कि आगे के विवेचन से भ्रान्त सिद्ध हो जायगा) तो उससे भी इस स्थल पर कोई परिवर्त्तन नहीं आता। और साम्प्रदायिक दृष्टि से देखने पर भी स्थिति ज्यों की त्यों रहती है : यह मान भी लें कि हिन्दी हिन्दू की और उर्दू मुसलमान की भाषा थी (यह भी ऐतिहासिक दृष्टि से मिथ्या है) तो भी स्पष्ट है कि खड़ी बोली को एक प्रकार की बहु-प्रदेशीय व्यापकता प्राप्त थी जो और किसी जन-भाषा की नहीं थी। और फिर केन्द्रोन्मुख राष्ट्रीयता के सम्मुख 'हिन्दू' और 'मुस्लिम' को एक ही संज्ञा 'भारतीय' की परिधि में ले आने की आवश्यकता का अपना एक दबाव भी था। जो पुनः खड़ी बोली के पक्ष में क्रियाशील होता था।

यह राष्ट्रीयता के उदय का, और उस भावना से उत्पन्न होने वाले नये उत्तरादायित्व के ज्ञान का ही परिणाम था कि साहित्य-रचना के लिए खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा, और ऐसे लेखक भी खड़ी बोली में लिखने लगे जो कि ब्रजभाषा पर अच्छा अधिकार रखते थे—अर्थात् जिन्हें अभिव्यक्ति के लिए न केवल ब्रजभाषा को छोड़ कर दूसरा माध्यम खोजने की कोई आवश्यकता नहीं थी, बल्कि जिन्हें दूसरे माध्यम की अपरिपक्वता अखरती भी थी। खड़ी बोली के व्यवहार का राष्ट्रीयता की भावना से कितना निकट सम्बन्ध था इसको जाँचने की एक विधि यह भी है कि देखा जाय, उस काल के किन-किन लेखकों ने खड़ी बोली को अपनाया या कौन-कौन ब्रज के आग्रह पर अड़े रहे, और किन में राष्ट्रीयता का स्वर कितना मुखर था, या कहाँ तक भाषा-परिवर्त्तन और राष्ट्रीय चेतना का आविर्भाव एक साथ हुआ। हमारा अनुमान है कि ऐसा अध्ययन दोनों के अभेद्य सम्बन्ध का प्रमाण देगा। इतना ही नहीं, इस दृष्टि से भी अध्ययन किया जा सकता है कि जिन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों का उपयोग किया, उन्होंने किस भाव—अथवा विचार—वस्तु के लिए किस भाषा को चुना; और यह भी राष्ट्रीयता और खड़ी बोली के सम्बन्ध को पुष्ट करेगा।

किन्तु भाषा-परिवर्तन के पूरे संक्रमण में ब्रज-भाषा से खड़ी बोली तक की

यात्रा केवल एक चरण थी। यात्रा वहीं जाकर समाप्त नहीं हो गयी। संक्रमण का दूसरा चरण खड़ी बोली के अन्तर्गत एक भाषा-रूप को छोड़ कर दूसरे भाषा-रूप का ग्रहण था। यह हो जाने पर ही राष्ट्रीयता की माँग का सम्पूर्ण उत्तर मिल सकता था और व्यापकता के दायित्व का समुचित निर्वाह हो सकता था। भारतेन्दु-काल में हिन्दी और उर्दू का जो संघर्ष चल रहा था, और जिसकी निष्पत्ति वास्तव में प्रेमचन्द में आकर हुई, वह व्यापकता के अन्दोलन का ही एक पहलू था। इस तर्क से ब्रजभाषा से खड़ी बोली तक आना पर्याप्त नहीं है, यह क्रमशः स्पष्ट होने लगा जब लेखकों ने यह अनुभव किया कि जिस भाषा का उन्होंने वरण किया है, उसकी व्याप्ति का क्षेत्र पढ़े-लिखे लोगों तक सीमित हुआ जा रहा है। अर्थात् ब्रज-भाषा के स्थान पर खड़ी बोली के एक परिष्कृत, परिमार्जित संस्कारी रूप उर्दू का ग्रहण एक दीक्षित भाषा के स्थान पर दूसरी दीक्षित भाषा की प्रतिष्ठा मात्र है और वास्तव में व्यापकता के लिए परिमार्जित भाषा का मोह छोड़ कर लोक-साधारण की भाषा को अपनाना होगा। यह इसी बोध का परिणाम था कि जिन लोगों का उर्दू पर अधिकार था उन्होंने भी क्रमशः मार्जन की दृष्टि से ही हिन्दी को अपनाया। स्वयं भारतेन्दु के खड़ी बोली काव्य के संस्कार उर्दू के अधिक थे : उनकी ग़ज़लें, उनकी फारसी शब्दावली, और उनका कविनाम 'रसा' इसके प्रमाण हैं। फिर भी वह हिन्दी के नवयुग के प्रवर्तक हुए इसका कारण उनकी लोकोन्मुखता ही थी। यह भाषा-क्रान्ति का दूसरा चरण था जिस का ध्येय था साधारण जन की भाषा का अंगीकार। संस्कृत-पालि के विकल्प की समानता यहाँ पर आकर यथातथ्य लागू होती है : ब्रज और खड़ी बोली के विकल्प से उसकी समानता नहीं थी पर उर्दू और हिन्दी का विकल्प उसकी ऐताहासिक आवृत्ति थी—जहाँ तक कि इतिहास में आवृत्ति अर्थ रखती है।

शब्द-चयन की दृष्टि से भारतेन्दु-युग का लेखक शुद्धिवादी नहीं था : वह उर्दू, फारसी, संस्कृत, अन्य प्रादेशिक भारतीय भाषा, लोक-भाषा कहीं से भी कोई भी उपयोगी शब्द या प्रयोग ले लेने को तैयार था। किन्तु हिन्दी के चरण के बारे में उसके मन में कोई द्विधा न बची थी—वह इतर भाषाओं के शब्दों से हिन्दी का ही भंडार भरता था, इतर भाषाएँ नहीं लिखता था। हिन्दी के प्रतिमानीकरण का संघर्ष बाद की बात थी : नयी भूमि पर अधिकार करने के लिए पहले चार-दीवारी बाँधी जाती है, पीछे झाड़-झंखाड़ साफ़ किये जाते हैं। यह

प्रतिमानीकरण का कार्य द्विवेदी-युग की मुख्य प्रवृत्ति थी। इस काल में खड़ी बोली हिन्दी एक संस्कारी भाषा हो गयी, और तभी से उसे खड़ी बोली कहना भी अनावश्यक हो गया—हिन्दी संज्ञा उसी के लिए रूढ़ हो गयी। इस प्रतिमानीकरण के आन्दोलन में भूलें न हुई हों या दुराग्रह न प्रकट हुए हों ऐसा नहीं है, फिर भी उसने लेखक में भाषा के प्रति एक जागरूकता उत्पन्न की जिसका गहरा रचनात्मक प्रभाव पड़ा। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि परवर्त्ती साहित्यिक आन्दोलनों में भाषा के रूप के सम्बन्ध में ऐसी जागरूकता फिर नहीं देखी गयी। छायावादी काल की भाषा-सम्बन्धी चेतना का आधार था शब्द-कौतूहल अथवा ध्वनि-योजना का सार्थक उपयोग, और इधर के तदाख्य प्रयोगवादी काव्य का मुख्य आग्रह प्रतीक-योजना का ही है—यद्यपि शब्द-कौतूहल भी उसमें है, जिसकी दिशा छायावाद के शब्द-कौतूहल से भिन्न है। यह ठीक है कि द्विवेदी युग में भाषा की—या भाषा के रचनाशील प्रयोक्ता कवि की—आवश्यकताएँ दूसरी थीं, फिर भी कभी यह लक्ष्य करके खेद होता है कि आज का लेखक भाषा के रूप-सौष्ठव और व्यापक प्रतिमानों के विषय में उतना सतर्क नहीं है जितना द्विवेदी-युग का लेखक था। उस काल का अतिवादी भाषा को इस जोखम में डालता था कि कहीं वह अपना लचकीलापन और ग्रहणशीलता खोकर काठ-सी कठैठी न हो जाय, आज का अतिवादी उसके सामने यह खतरा उपस्थित करता है कि कहीं वह अपनी सार्वभौमता खो कर एक दीक्षागम्य सांकेतिक भाषा न हो जाय। किन्तु भाषा की प्रवृत्तियों की पड़ताल में हम बहुत काल-व्यतिक्रम कर गये हैं।

* * * *

यह कहा जा चुका है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी को नयी लोक भूमि पर लाये और उसके साहित्य में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के निमित्त बने। भारतेन्दु-युग के सभी कवियों ने जोरों से अनुवाद भी किये—गतानुगतिक भाव से केवल संस्कृत से नहीं वरन् दूसरी भारतीय भाषाओं से (विशेषतया बंगला से) भी और भारतीयेतर भाषाओं से भी (मुख्यतया अँग्रेजी से या अँग्रेज़ी के माध्यम से अन्य यूरोपीय भाषाओं से)। स्वायत्तीकरण के इस बहुमुखी आन्दोलन की जड़ में नवजाग्रत राष्ट्रीय भावना तो थी ही, एक नयी उदार दृष्टि भी थी। साहित्य-शरीर की इस अभिवृद्धि से लेखक का मानसिक आकाश और खुला और उसके क्षितिज दूर-दूर तक फैले; साहित्य के आस्वादन, परीक्षण और

मूल्यांकन के लिए उसे नये साधन और प्रतिमान मिले, और इनका उसकी रचना पर गहरा प्रभाव पड़ा। किन्तु इस ग्रहणशीलता के साथ-साथ निरन्तर 'हिन्दी के कृतिकार में 'अपनेपन' की भावना पुष्ट होती गयी। 'प्रेम अपनों ही पर कर रे, (श्रीधर पाठक) निरी संकीर्णता का नारा नहीं था बल्कि नयी ऐतिहासिक प्रवृत्ति से अनुप्राणित सांस्कृतिक दृष्टि की एक उपलब्धि थी। आत्म-सम्मान के लिए पहले आत्म-साक्षात्कार आवश्यक है, किन्तु आत्म-साक्षात्कार तब तक कैसे हो सकता है जब तक हम में यह आस्था न हो कि हमारा एक विशिष्ट आत्मरूप है भी—कि 'अपने ही प्राणों के प्राण हैं'! इस प्रकार जहाँ एक ओर एक नयी मानवमूर्ति की प्रतिष्ठा हो रही थी और यह स्वीकार किया जा रहा था कि मानव रूप होने के नाते ही वह सुन्दर और सम्मान्य है, वहाँ दूसरी ओर भारतीय की एक नयी मूर्ति की प्रतिष्ठा हो रही थी और यह पहचाना जा रहा था कि वह मूर्ति मूलतः सुन्दर और सम्मान्य है, भले इस समय खंडित या हीनत्व-प्राप्त हो। 'प्राचीन और नवीन अपनी सब दशा आलोच्य है,...अब भी हमारी अस्ति है' (मैथिलीशरण गुप्त) नयी दृष्टि पर आधारित आत्म-प्रतिष्ठा का ही दूसरा पहलू था—यद्यपि कवि साथ ही यह स्वीकार करने को भी बाध्य था कि 'अवस्था शोच्य है'। बल्कि अपनी वर्त्तमान हीनावस्था को देखने और स्वीकार करने का साहस उसे इसी से मिलता था कि मूलतः उसका भाव आत्मावहेला अथवा अनास्था का नहीं रहा था।'

यहाँ यह अवश्य लक्ष्य करना होगा कि इस नव-प्रतिष्ठित आत्मभाव के मूल में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ थीं और सब ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील नहीं थीं—अर्थात् कुछ ऐसी भी थीं जिनकी शक्ति संकीर्णता और असहिष्णुता की शक्ति थी। सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन बहुधा प्रत्यभिमुख रूढ़िवादी प्रवृत्तियों को इतनी ओट दे देता है कि परम्पराओं की रक्षा के नाम पर वह सामाजिक प्रगति को रोकने का उपक्रम करने लगें, और भारतीयता की पुनः प्रतिष्ठा के इस युग में इन्होंने भी अपेक्षित तत्परता दिखायी। इस काल के सामाजिक-धार्मिक आन्दोलनों में जिस प्रकार एक ओर अन्ध-विश्वास और रूढ़ियों के उन्मूलन का और दूसरी ओर एक नयी कट्टरता और मतवादिता का (उसे मतान्धता न कहें तो) आग्रह लक्षित होता है, उसी प्रकार साहित्य में भी एक ओर पश्चिम की चुनौती के सम्मुख नव-निर्माण का उत्साही स्वर और दूसरी ओर निरी प्राचीन परम्परा या रूढ़ि की दुहाई सुनने को मिलती है। इस युग का बहुत सा 'नेकटाई-काव्य' तथा

खान-पान सम्बन्धी काव्य इस दोहरी प्रवृत्ति का अच्छा उदाहरण हो सकता है। नाथूराम शर्मा 'शंकर' की प्रार्थना 'द्विज वेद पढ़ें, सुविचार बढ़ें बल पाय चढ़ें सब ऊपर को:' से उन का यह विश्वास ही ध्वनित होता है कि सनातन वैदिक परम्पराओं से हटना ही हमारे ह्रास का कारण हुआ और उनकी ओर लौटने से ही समाज सुधर जायेगा। 'शंकर' तो खैर ध्वजधारी कवि थे ही, महावीरप्रसाद द्विवेदी भी उस युग के प्रति मोह की दुर्बलता से मुक्त नहीं थे 'भैंसें वेद-पाठ किया करतीं थीं'। किन्तु दूसरी ओर श्रीधर पाठक जब व्यंग्यपूर्वक कहते हैं कि 'मनूजी, तुमने यह क्या किया!' तब वह सनातन परिपाटी की दुहाई नहीं देते, और न उस परिपाटी को वेदों की भाँति अपौरुषेय अथवा पूर्वजों को त्रिकालदर्शी सर्वविद मानते हैं, वह स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि मानव ने ही मानव को रूढ़ियों में बाँधा है और ये बन्धन असहनीय हैं: 'और अधिक क्या कहें बापजी, कहते दुखता हिया; जटिल जाति का अटल पाँत का जाल है किस का सिया! मनुजी, तुमने यह क्या किया!' ऐसे स्वरों को ध्यान में रखकर, अनेक दोषों के रहते हुए भी इस समूचे युग की स्वस्थ, उदार, भविष्योन्मुख लौकिक सांस्कृतिक दृष्टि को स्वीकार करना ही होगा।

*　　　*　　　*　　　*

आत्म प्रतिष्ठापन के आरम्भिक युग में खड़ी बोली के काव्य में दो प्रधान धाराएँ रहीं इस का संकेत ऊपर किया जा चुका है। नैतिक-उपदेशात्मक काव्य का सम्बन्ध नयी सामाजिक दृष्टि से था; ऊपर के विवेचन के बाद इस पर जोर देने की आवश्यकता न होनी चाहिए। न इसी का अलग स्पष्टीकरण आवश्यक है कि उपदेश-काव्य की एक प्रेरणा प्रत्यभिमुख दृष्टि से भी मिलती थी। इतिवृत्त-काव्य अधिकतर जातीय उत्कर्ष के ऐतिहासिक अथवा पौराणिक युगों से प्रेरणा लेता था: आत्म-प्रतिष्ठापन के लिए अतीत गौरव का स्मरण और उसके प्रमाण से भावी उत्कर्ष की सम्भावना करना स्वाभाविक ही था। यों इस अनुक्रम में किसी भी स्थल पर रुका जा सकता था: कामताप्रसाद गुरु ऐतिहासिक घटनाओं की आवृत्ति से आगे नहीं बढ़े, और अयोध्यासिंह उपाध्याय की दृष्टि पौराणिक काल में ही रमी रही। भारतीयेतर प्रभाव दोनों कवियों में बहुत अल्प मिलेगा, अन्तरंग और बहिरंग दोनों की दृष्टि से इनकी प्रवृत्ति परम्परावादी रही फिर भी समकालीन राजनैतिक प्रभावों से वे बिल्कुल अछूते नहीं रह सके। 'हरिऔध' के 'भारत गीत' ('महती महा पुनीता मधुरा मनोहरा है, वसुधा ललाम भूता

भारत-वसुन्धरा है') में भारत के समकालीन संघर्ष का वैसा स्पन्दित प्रतिच्चित्र भले ही न हो जैसा 'सनेही' की 'कौमी गजल' ('मुनक्कश अपने दिल पर हिन्द की तस्वीर होने दो, कदम से उसके अपने सीने पर तनवीर होने दो') में है, पर इसमें सन्देह नहीं कि उस संघर्ष की हवा उन्हें भी लगी। 'भारतेन्दु' की मुकरी की सी स्पष्ट दो-टूक बात ('रूप दिखावत सरबस लूटे, फन्दे में जो पड़े न छूटे, कपट कटारी जिय में हूलिस, क्यों सखि, साजन ? नहीं सखि, पूलिस !') उनसे कभी कहते न बनी, पर बहुत बचा कर बात कहते हुये भी इतना तो उन्हें भी कहना पड़ा कि 'क्या टलेंगे न पीसने वाले, क्या सदा ही पिसा करेंगे हम ?'

इतिवृत्त-काव्य में भी संकीर्णता और प्रत्यभिमुखता के लिए यथेष्ट गुंजाइश थी। अतीत गौरव का स्मरण तीव्र साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह के साथ भी हो सकता था, जिसकी यत्किंचित् छूत इस काल के अनेक कवियों को थी और कामताप्रसाद गुरु में भी देखी जा सकती है अथवा उससे यह भाव भी जगाया जा सकता था कि भारतीय जाति (क्योंकि सम्पूर्ण मानव जाति !) क्रमशः और अनिवार्यतः पतन की ओर जा रही है—उस अनिवार्यतः से बचने का कोई उपाय हो सकता है तो अतीत की ओर लौटना या अतीत युग को फिर ले आना ही। काल्पनिक इतिवृत्त भी काव्य में आता था, इसका एक कारण तो यह था ही कि राजनैतिक प्रतिबन्धों के कारण जहाँ सामयिक स्वदेशी प्रसंग नहीं उठाये जा सकते थे वहाँ ऐसे इतर देश काल का सहारा लिया जाता था जिससे समयानुकूल भावनाओं को जगाया जा सके। उदाहरण के लिए रामनरेश त्रिपाठी के खंड काव्यों को इसी दृष्टि से देखा जा सकता है : 'मिलन' की घटना-भूमि उत्तर इटली में स्थापित की गयी है, और पथिक की एक कल्पित देश-काल में, किन्तु दोनों की भाव-वस्तु समकालीन भारत और उसके राजनैतिक संघर्ष से सम्बन्ध रखती है और उसी के संदर्भ में दोनों काव्यों का पूरा रसास्वादन किया जा सकता है।

राय देवीप्रसाद और गोपालशरणसिंह का काव्य एक दूसरी दृष्टि से विशेष स्थान रखता है। ऊपर बताया गया कि काल या प्रवृत्तियों का दो टूक विभाजन नहीं हो सकता : पूर्ववर्ती प्रवृत्तियाँ बहुत देर तक बनी रहती हैं और परवर्ती प्रवृत्तियों के लक्षण बहुत पहले प्रकट हो जाते हैं। एक ओर परम्परानुगतिक प्रवृत्ति को गोपालशरणसिंह बहुत बाद तक ले आये, और दूसरी ओर जो

रोमांटिक प्रभाव अनन्तर छायावाद में मुखर हुआ उसके पूर्व संकेत 'पूर्ण' के काव्य में मिलने लगे। 'बसन्त-वियोग' 'कल्पोधान-वर्णन' इस का उदाहरण है ही, अन्तिम 'था जहाँ बारामास ऋतु-राज-चारु-विलास, पहुँचा वहाँ भी रोग, भारी वसन्त-वियोग' को तो रोमांटिक भावना का पूरा प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है। और दूर की कौड़ी लाना प्रस्तुत संकलन की परिधि से बाहर जाना होगा, पर व्यापक परिपार्श्व के इंगित के लिए इतना कह देना अनुचित न होगा कि इसी प्रकार—और बाद की 'नयी कविता' की प्रवृत्तियों के अंकुर—श्रीधर पाटक में पाये जा सकते हैं। यह कहना कदाचित् इस युग के कवि-समुदाय के साथ अन्याय न होगा कि श्रीधर पाठक इसके सर्वाधिक कवित्व-सम्पन्न कवि थे। भारतेन्दु को खड़ी-बोली युग का प्रवर्तक मानकर भी कहा जा सकता है कि श्रीधर पाठक ही उसके वास्तविक आदि कवि थे। युग को प्रतिबिम्बित करते हुए भी उनका काव्य सबसे अधिक ऐसे तत्व हमें देता है जो युग के साथ ही बीत नहीं जाते—अर्थात् जो वास्तव में शुद्ध साहित्यक तत्व हैं।

*   *   *   *

द्विवेदी युग की परिस्थितियाँ और समस्याएँ आरम्भिक युग से भिन्न थीं। हिन्दी के प्रतिमानीकरण का कार्य अभी पूरा न हुआ था, पर खड़ी बोली की प्रतिष्ठापन्न के विषय में कोई द्विधा न रही थी। इसी प्रकार यद्यपि भारतीयता के स्वरूप की कोई सामान्य और सर्वसम्मत अवधारणा अभी नहीं हो सकी थी, तथापि उसकी अस्ति के बारे में कहीं कोई सन्देह नहीं रह गया था। राष्ट्र की रूप-कल्पना में कोई कठिनाई अब नहीं थी; एक व्यापक राष्ट्रीय आंदोलन की नींव पड़ चुकी थी और सारा देश अंगड़ाइयाँ ले रहा था। अपनी तत्कालीन परिवृत्ति के दबाव से मुक्त होकर कवि फिर उन व्यापक और जटिल प्रभावों का ग्रहण, अन्वेषण-विश्लेषण और आवश्यक परिवर्तन के साथ स्वायत्तीकरण कर सकता था जो नये ज्ञान-विज्ञान के कारण मानसिक अथवा बौद्धिक वायुमण्डल में क्रियाशील थे। इस नयी स्थिति का परिणाम वे दो धाराएँ थी जो खड़ी बोली काव्य के द्वितीय युग की विशेषताएँ हैं। नयी लौकिक दृष्टि ने मानव को जो नया गौरव दिया था, उसके विभिन्न अभिप्राय और आनुषंगिक परिणाम क्रमशः और स्पष्ट होते गये और उन से नयी प्रवृत्तियों का उदय हुआ; पर यह वास्तव में तीसरे उत्थान की बात है।

समकालीन प्रभाव हम इतर कवियों में तो देख ही सकते हैं,

मैथिलीशरण गुप्त जैसे मर्यादा-प्रेमी वैष्णव भक्त कवि की रचनाओं में भी लक्ष्य करते हैं। उनके राष्ट्रीयतावाद की ओर तो संकेत करना भी अनावश्यक होगा, लोकमत ने सहज ही उन्हें राष्ट्रकवि का पद दिया है और पाँच दशकों पर छाया उनका काव्य-कृतित्व राष्ट्र-प्रीति का सन्देश सुना कर देश को प्रेरणा और उद्बोधन देता रहा है। किन्तु मानवतावाद की छाप भी उन के काव्य पर स्पष्ट है : 'भारत-भारती' और 'झंकार' से लेकर 'दिवोदास' और 'पृथिवी-पुत्र' तक उन के काव्य की प्रगति पद पद पर उसे सूचित करती है। उनकी दृष्टि परलोक में नहीं इसी लोक में निबद्ध है; बार बार नर के नरत्व का, पुरुष के पुरुषार्थ का जयघोष उन्होंने किया है। 'भारत-भारती' की राष्ट्रीयता तत्कालीन वैचारिक स्थिति के अनुरूप ही अधूरी है, और आज वह वैसी प्रेरणा नहीं दे सकती जैसी उसने उस समय दी, किन्तु निरन्तर विकासशील विचारावली और आदर्श के कारण ही गुप्त जी इस द्रुत संक्रमित परिस्थिति में भी न केवल युग के साथ चलते रह सके वरन् समकालीन समाज को निरन्तर उद्बुद्ध करते रह सके हैं। उनकी नवीनतम रचना 'राजा-प्रजा' तक उनका काव्य निरन्तर हिन्दी-भाषी भारत की आशा-आकांक्षा का प्रतिनिधित्व करता रहा है : न केवल यही, उसे भारतीयता का काव्य कहा जा सकता है। क्योंकि उसमें उदारता भी है और मर्यादा प्रेम भी, प्राचीन का गर्व भी है और नये का अभिनन्दन भी, विशाल ऐतिहासिक अनुभव पर आधारित आस्था भी है और भविष्य के लिए एक संयत आशा भी। समकालीन चिन्तन को राष्ट्रीयतावाद और मानवतावाद में विरोध अनिवार्य दीखता है, और शुद्ध राष्ट्रीयतावाद की निष्पत्ति सर्वत्र जिस युयुत्सु संकीर्णता में होती रही है वहाँ इसका यथेष्ट प्रमाण है; परन्तु मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में ऐसा कोई विरोध लक्षित नहीं होता—एक तो इसलिए कि स्वातन्त्र्य-लाभ तक इन दोनों में विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं था, और जब तक राष्ट्रीयता शोषण से मुक्ति का आन्दोलन है तब तक वह मानवतावादी है ही, दूसरे इसलिए भी कि गुप्त जी का मानवतावाद निरन्तर उनके विश्वासों को संयत या विकसित करता रहा है। कुछ लोगों का कहना है कि इसी कारण उनका 'साकेत' उस पद को नहीं पा सका जो 'राम चरित मानस' का है; वह जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि उन की लोकोन्मुखता ही उन के काव्य को समाज के सब स्तरों में समान रूप से ग्राह्य बना सकी है। वाद-पीड़ित इस परवर्ती युग में प्रत्येक कवि विवाद का विषय बना है, पर गुप्त जी उस से मुक्त रह सके हैं।

भाषा के परिमार्जन और संस्कार में गुप्त जी की देन का उल्लेख करना आवश्यक है। इसका श्रेय महावीर प्रसाद द्विवेदी को दिया जाता है, और निस्सन्देह उनकी कर्मठता, दृढ़ता और विवाद-सन्नद्धता के बिना यह कार्य न हो सकता, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उन की भाषा सम्बन्धी अवधारणाओं को मैथिलीशरण गुप्त जैसा कुशल और परितोषदायी उदाहर्त्ता न मिलता तो ये संस्कार इतनी सुगमता से इतने गहरे न पैठ जाते। भाषा के प्रतिमान निर्धारित करने वाला चाहे कोई हो, एक अकेला कृतिकार भाषा के रचनाशील व्यवहार से उसे जो व्याप्ति और सार्वदेशिक मान्यता दिला सकता है वह बीसियों शास्त्रविद् नियन्ताओं के सामर्थ्य से परे होता है। मैथिलीशरण गुप्त का प्रभाव कितना गहरा पड़ा, इसका इस से अच्छा और क्या उदाहरण होगा कि उन्होंने जो चलाया वह तो चला ही, जो निषेध किया वह छूटा ही, पर जो उन्होंने निषेध नहीं किया, केवल स्वयं नहीं बरता, उस को बरतना केवल इतने ही से कठिन हो गया कि उन्होंने उसे नहीं अपनाया। हिन्दी छन्द में लघु-गुरु सम्बन्धी रियायतें जो द्विवेदीकाल तक प्रचलित थीं और जो उर्दू में आज भी सजीव बनी हुई हैं, केवल गुप्त जी के द्वारा प्रयुक्त न होने के कारण अप्रचलित हो गयी और आज बरती जाती है तो 'उर्दू की' मानी जाती है। नयी प्रवृत्ति उन्हें हिन्दी का परम्परागत अधिकार घोषित करके पुनः अपनाने के लिए सचेष्ट है, वह दूसरी बात है।

सियारामशरण गुप्त साधारणतया उसी धारा में आते हैं जिस का प्रतीक पुरुष उनके अग्रज को माना जाता है। उनकी सांस्कृतिक चेतना ने असहयोग के आन्दोलन से विशेष प्रेरणा पायी। दार्शनिक आधारों को ध्यान में रखते हुए मानना होगा कि यह आन्दोलन एक सांस्कृतिक आन्दोलन था। सियारामशरण गुप्त भारतीय सांस्कृतिक चेतना के नैतिक आधारों में बहुत गहरे पैठते हैं, अग्रज की भाँति मर्यादा में नहीं, जिस भित्ति पर मर्यादा खड़ी होती है उसी में उनकी रुचि है। सूक्ष्म नैतिक विवेचन में वह अद्वितीय हैं, आचार की मान्यताओं की जाँच में वह उनके आधारभूत नैतिक मूल्यों को पकड़ते हैं। अग्रज की भाँति वह कथा-काव्य लिखते हैं लेकिन उसकी वस्तु पौराणिक या ऐतिहासिक नहीं होती, वह समकालीन साधारण जीवन से ली जाती है। समकालीन साधारण जीवन का वृत्तान्त 'सनेही' ने भी लिखा है, 'सनेही' का आग्रह वस्तु पक्ष पर, आर्थिक वैषम्य, निर्धनता, उत्पीड़न, क्लेश पर है, सियारामशरण गुप्त का आग्रह वस्तुस्थिति के मूल में वर्तमान नैतिक समस्या पर

होता है। मैथिलीशरण गुप्त की दृष्टि ही मानवतावादी है, सियारामशरण जी अपनी वर्ण्य वस्तु से मानवीय सम्बन्ध भी स्थापित करना चाहते हैं। मैथिलीशरण जी ने इतिहास की उपेक्षिताओं की ओर ध्यान खींचा है, सियारामशरण जी समाज के—आज के समाज के—दलितों को सहानुभूति देते हैं। यहाँ फिर इस सहानुभूति और 'सनेही' अथवा और पहले 'शंकर' के करुणा-भाव में भेद करने की जरूरत है: उनकी करुणा का आधार व्यक्ति का कष्ट है, किन्तु सियारामशरण जी की व्यथा का कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व का असम्मान है। उनका आग्रह व्यक्ति के सुख-सुविधा का नहीं, व्यक्ति की प्रतिष्ठा का है। वह काव्य को लोक के और निकट लाने के आग्रही हैं क्योंकि वह लोक-साधारण से एकात्म्य के समर्थक हैं। मैथिलीशरण जी मातृभूमि के और पारिवारिक जीवन के कवि हैं, सियारामशरण जी मानव-सम्बन्धों के और सामाजिक जीवन के, मैथिलीशरण जी की दृष्टि ऐतिहासिक सांस्कृतिक है, सियारामशरण जी की सामाजिक-नैतिक, मैथिलीशरण जी निष्ठा के कवि हैं, सियारामशरण जी समवेदना के।

माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा भी मुख्यतया राष्ट्रीयता के कवि हैं, यद्यपि उनमें प्रवृत्तियाँ भी पायी जाती हैं जिन की हम अभी छायावाद के प्रसंग में चर्चा करेंगे; छायावाद के प्रारम्भिक काल की भाषा सम्बन्धी स्वच्छन्दता भी उनमें पायी जाती है। दोनों में न केवल संस्कारी भाषा का आग्रह नहीं है वरन् उसके प्रतिकूल कभी बहुत अटपटी और कभी बहुत मुहावरेदार, कभी ठेठ और कभी गरिष्ठ, कभी सीधी साधी और कभी दुरूह भाषा वे लिखते हैं। सिद्धान्ततः 'नवीन' संस्कृतनिष्ठ हिन्दी और अरबी फारसी से व्युत्पन्न शब्दों के बहिष्कार के समर्थक हैं अर्थात् शुद्धिवादी हैं; व्यवहार में उनका स्वच्छन्द और अराजक स्वभाव ऐसे कोई मर्यादा नहीं निभा पाता। किन्तु यह अराजकता दोनों कवियों के काव्य के आस्वादन में बाधा नहीं देती, क्योंकि कुछ ऐसी ही अव्यवस्था उस वर्ग में भी पायी जाती रही जो उस काव्य का पाठक था—साधारणतया राष्ट्रीयतावादी किन्तु इससे आगे अस्पष्ट और दिशाहीन असन्तोष और अशान्ति से भरा हुआ वर्ग, जो अधकचरी अँग्रेजी शिक्षा के कारण अपनी बोली से भी कट गया था और किसी अन्य भाषा से अन्तरंग सम्पर्क भी न स्थापित कर सका था। अब, जब एक ओर हिन्दी एक पुष्ट और परिमार्जित रूप पा चुकी है, और दूसरी ओर छायावाद के द्वारा लाये गये या सीधे अँग्रेजी से आये हुए प्रयोग भी किसी हद तक रूढ़ होकर अपना स्थान बना चुके हैं,

माखनलाल चतुर्वेदी अथवा 'नवीन' की भाषा की असमगति और उभर कर दीखती है, लेकिन हिन्दी पाठक (और समकालीन कवि) की चेतना पर उनके काव्य ने प्रभाव डाला यह असन्दिग्ध है। उसमें एक ओज और प्रवाहमयता है जो अभी तक अनुकरण को ललकारती है। परवर्ती काव्य आन्दोलनों में ठेठ बोली और देहाती मुहावरे के बारे में जो कौतुहल और प्रयोग-तत्परता लक्षित होती है, उसे इन बुजुर्गों के उदाहरण से प्रेरणा न मिली हो यह असम्भव है।

* * * *

यहाँ तक हम ऐसी काव्य कृतियों की बात करते आये हैं जिन्हें साधारतणया विषय-प्रधान कहा जा सकता है। यद्यपि विषय की प्रधानता सब में एक सी रही, और कभी-कभी विषयी की चिन्तना या अनुभूति विशेष रूप से मुखर हो उठती है, तथापि इन कवियों को उन से, जिन्हें छायावादी कहा जाता है, जो बात पृथक करती है वह यही है। विषयि-प्रधान दृष्टि ही छायावादी काव्य की प्राण शक्ति है।

ऊपर हम ने मूल्यों और प्रतिमानों के ह्रास और उन के स्थान पर नये मूल्यों और प्रतिमानों की स्थापना का उल्लेख किया है। विदेशी शिक्षा तो आयास पूर्वक पुराने मूल्यों को उच्छित कर ही रही थी; पाश्चात्य विचार-धारा का प्रभाव भी इसी दिशा में पड़ रहा था। ईश्वर-परक नैतिकता का स्थान मानव-परक नैतिकता ले रही थी; नयी नैतिकता की स्थापना धीरे-धीरे हो रही थी अतः एक स्वच्छन्दतावादी या कि नास्तिवादी अन्तराल बढ़ता जा रहा था। महायुद्धोत्तर अव्यवस्था और नैराश्य ने इस अन्तराल को और बढ़ा दिया। फलतः संवेदनाशील कृतिकार में गहरा अन्तर्द्वन्द्व प्रकट हुआ। यह अन्तर्द्वन्द्व उसे साधारण जन से दूर भी ले गया; और इस दूरी के बोध ने अन्तर्द्वन्द्व को नयी तीव्रता भी दी। इस ने नये कवि में एक अभूतपूर्व मनोवैज्ञानिक व्याकुलता उत्पन्न की। छायावादी काव्य मुख्यतया इस व्याकुलता को अभिव्यक्त करने के प्रयत्नों का परिणाम था। 'छायावाद' नाम सर्वथा अपर्याप्त है, किन्तु साहित्यिक वादों के नाम प्रायः ही अपर्याप्त और अनुपयुक्त होते हैं और प्रचलन ही उन्हें अर्थ देता है। 'छायावाद' नाम भी पहले अवहेलना-सूचक अर्थ में प्रयुक्त हुआ था।

छायावादी कवि की यह व्याकुलता नाना रूपों मे प्रकट हुई। किन्तु उन में सामान्य बात यह थी कि विषयी की प्रधानता थी; सभी रूपों की मूल प्रेरणा

वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति थी। वह वैयक्तिकता चाहे कल्पना की हो, चाहे चिन्तना की, चाहे अनुभूति की और चाहे स्वयं आध्यात्मिक व्याकुलता की ही। इस वैयक्तिकता के कारण ही छायावाद का काव्य मूलतः प्रगीत मुक्तक हुआ। निस्सन्देह वैयक्तिकता के उत्थान में मानसिक और आध्यात्मिक व्याकुलता के अतिरिक्त सीधे विदेशी प्रभाव भी कारण हुए: अंग्रेज़ी रोमांटिक काव्य से परिचय होना भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि विदेशी परम्परा से परिचय और अपनी परम्परा का अज्ञान (जो दोनों ही विदेशी शिक्षा के फल थे।) बहुत हद तक इस नयी प्रवृत्ति के, और इसलिए उस प्रवृत्ति के उपहास के भी, कारण बने। किन्तु आज जब छायावादी कविता हिन्दी परम्परा की एक प्रतिष्ठित कड़ी है और हमारी काव्य-सम्पदा की एक बहुमूल्य वस्तु, तब हम उपहास वृत्ति छोड़ कर यह भी पहचान सकते हैं कि इन 'विदेशी' प्रभावों में वास्तव में अपने ही स्वरों की प्रतिध्वनियाँ भी थीं, केवल दूरी और विभिन्न माध्यमों के प्रभाव ने उन का रूप इतना बदल दिया था कि उन्हें पहचानना कठिन हो जाय।

'अँग्रेज रोमांटिक काव्य ने इटली और यूनान से, या फ्रांस और जर्मनी से छन कर आये हुए इन देशों के प्रभावों से, प्रेरणा ग्रहण की, पर स्वयं इन देशों में, बल्कि सारे पूर्वी यूरोप और भूमध्य-सागर तट प्रदेश के साहित्य में पश्चिम एशिया के प्रभाव क्रियाशील थे, और उन में पूर्व की देन काफी थी। रोमांटिक आन्दोलन का नया बहुदेवतावाद प्राचीन यूनानी साहित्य का प्रभाव-मात्र नहीं था, यह तो इसी से स्पष्ट होना चाहिए कि यूनानी 'क्लासिकल' साहित्य सदैव यूरोपीय साहित्य की पृष्ठिका में रहा और 'क्लासिकल' के प्रति विद्रोही ही तो 'रोमांटिक' हुआ। प्रश्न साहित्य से परिचय का नहीं था, साहित्य के प्रति नयी दृष्टि का था। जर्मनी में गयटे ने शकुन्तला को सम्बोधन करके कविता लिखी, अथवा रूमानिया में एमेनेस्कू ने 'कामदेव' पर काव्य लिखा, इस का इटली या यूनान से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह बात चौंकाने वाली हो सकती है पर निराधार नहीं कि यदि छायावादी आन्दोलन की एक प्रेरणा हिन्दी कवि द्वारा शैली का आविष्कार था, तो यूरोप के रोमांटिक आन्दोलन की एक प्रेरणा यूरोपीय कवि द्वारा कालिदास का आविष्कार था। निस्सन्देह केवल एक प्रेरणा के आधार पर कोई व्यापक स्थापना करना भूल होगी, पर यह बात दोनों दिशाओं के प्रभाव के बारे में कही जा सकती है। वैसे हिन्दी पर रोमांटिक काव्य के प्रभाव में दूरागत भारतीय प्रतिध्वनि थी, इसे यों भी सिद्ध

किया जा सकता है कि उस काव्य के द्वारा प्रभावित हिन्दी कवि फिर कालिदास की ओर लौटे—उन्होंने एक नयी दृष्टि से कालिदास को देखा और अपनाया, या कहें कि कालिदास का पुनराविष्कार किया। यह उल्लेख्य है कि कालिदास के हिन्दी अनुवाद महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रभृति जिन कवियों ने किये उन्होंने कालिदास के बारे में नयी दृष्टि नहीं पायी; उन के लिए प्रबन्ध-काव्य प्रबन्ध-काव्य भर रहा जिस में वृत्तान्त मुख्य था और वर्णन काव्य-लक्षणों की दृष्टि से अनिवार्य, बस। किन्तु छायावादी कवि ने कहानी मानो पढ़ी ही नहीं, कालिदास नामक ऐन्द्रजालिक द्वारा सशरीर आँखों के सामने ला खड़ी की गयी प्रकृति की अनिर्वचनीय मूर्त्ति को वह अपलक देखता रह गया। यहाँ भी नये परिचय का प्रश्न नहीं था, नयी दृष्टि का ही प्रश्न था। इसीलिए कालिदास के 'पुनराविष्कार' की बात कही गयी; इसी प्रकार नया युग नयी दृष्टि दे कर नयी अर्थवत्ता की प्रतिपत्ति करता है।

वास्तव में अँग्रेज़ी में, या साधारणतया यूरोप में, रोमांटिक भावना के अभ्युदय के अनेक कारण थे। किन्तु यहाँ यूरोपीय साहित्य के इतिहास का ब्योरा आवश्यक नहीं है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि यद्यपि रोमांटिक आन्दोलन पर विज्ञान द्वारा बुद्धि के उन्मोचन का प्रभाव पड़ा, तथापि उस आन्दोलन की नयी दृष्टि का रहस्य बुद्धि के उन्मोचन में नहीं, भावना और कल्पना के उन्मोचन में, एक नयी संवेदना में था। इसके अतिरिक्त उसे उस नैतिक उन्मोचन से भी यथेष्ट सुविधा मिली जो धर्म अथवा ईश्वर-परक नैतिकता के स्थान में प्रकृति-परक नैतिकता के अंगीकार का स्वाभाविक परिणाम था। रोमांटिक आन्दोलन की परिधि के भीतर भी, ज्यों-ज्यों प्रकृति-सम्बन्धी धारणा बदलती गयी त्यों-त्यों प्रकृत नैतिकता की अवधारणा भी बदलती गयी और परिणामतः नैतिक उन्मोचन ने एक अभूतपूर्व स्वच्छन्दतावाद का रूप लिया। प्रकृति एक भव्य कल्याणमयी शक्ति है; प्रकृति नीति-अनीति से परे का एक सहज आकर्षक बन्धन है; प्रकृति मूलतः पापात्म है किन्तु उसके मोहमय रूप के आकर्षण से कोई बच नहीं सकता; पाप ही जब प्रकृत है तब स्वेच्छा पूर्वक उसका वरण ही प्रकृति-धर्म के अनुकूल आचरण है—इस परात्पर-भ्रम में रोमांटिक आन्दोलन के उत्कर्ष और अधःपतन के पूरे इतिहास का निचोड़ है।

नैतिक उन्मोचन के नये और स्फूर्तिप्रद वातावरण में कलाकार की कल्पना स्वच्छन्द विचरण करने लगी। इस स्वच्छन्दता के नये प्रतीकों की खोज में कवि

उन बहुदेवतावादी परम्पराओं की ओर मुड़ा जिन्हें ईसाइयत ने दबा दिया था। इन में एक ओर यूनानी देव-माला थी, जिससे 'क्लासिकल' साहित्य के कारण समूचे यूरोप का शिक्षित वर्ग परिचित था। इस के देवता अधिकतर प्राकृतिक शक्तियों के देव-प्रतिम रूप थे और इसलिए उस वातावरण में सहज ही ग्राह्य हो सकते थे जिसमें प्रकृति को एक नये प्रकाश में देखा जा रहा था। दूसरी ओर ईसा-पूर्व स्थानीय परम्पराओं के देवता अथवा देवाकार पूर्व-पुरुष थे—उदाहरणतया ट्यूटन अथवा नोर्स परम्परा के युद्ध और शान्ति के, प्रेम और ईर्ष्या के देवता। ये भी प्राकृतिक शक्तियों के देवता थे क्यों कि ये मानव की सहज प्रवृत्तियों के अतिमानवी रूप थे : धर्म-मूलक नैतिकता के स्थान पर प्रकृत नैतिकता की प्रतिष्ठा की क्रिया में ये भी अनुकूल और उपयोगी प्रतीक देते थे। तीसरी ओर परम्पराओं का वह समूह था जिसे यूरोप की दृष्टि से 'पूर्वीय' कहा जा सकता है; इनमें 'निकट-पूर्व' अथवा पश्चिम एशिया और भूमध्यसागर के दक्षिण पूर्वीय तट से आने वाले प्रभाव भी थे और भारत अथवा चीन तक से आने वाले प्रभाव भी। निकट-पूर्वीय प्रभावों में इस्लाम-धर्म बहुदेवतावादी नहीं था; परन्तु उसके प्रदेश में ऐसे अन्ध-विश्वासों की कमी नहीं थी जो स्वच्छन्दतावादी कल्पना को खुला क्षेत्र दे सकें। (इस अन्तर्विरोध को समझने के लिए हम स्मरण करें कि भारत में ही जब आक्रान्ता हो कर इस्लाम तलवार के ज़ोर पर अपने विशिष्ट एकेश्वरवाद का प्रचार कर रहा था, तब उसी के प्रचारकों का सांस्कृतिक प्रभाव हमारे आख्यान—और लोक-कथा-साहित्य को जिन्न-भूत और परी-फरिश्तों की चित्र-विचित्र वाहिनी से भर रहा था।) धर्म-युद्धों के काल में, और बैज़यन्ती साम्राज्य के कारण पश्चिम एशियाई प्रभाव विशेषतया दक्षिण यूरोप में पहले से सक्रिय थे। भारत-चीन के प्रभाव कुछ तो यूनान से प्राचीन परिचय के कारण बीज-रूप में रहे ही होंगे; कुछ पश्चिम एशिया से छन कर (और रूपान्तरित अथवा विकृत हो कर) ही यूरोप में पहुँचे, पर जहाँ उन की दूरी उन के आकार अस्पष्ट करती थी वहाँ कल्पना को मनमाने आकार गढ़ने की सुविधा भी देती थी।

इंग्लैंड में रोमांटिकवाद का झुकाव पहले और प्रधानतया यूनानी-इटालीय परम्परा की ओर हुआ, किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका, ये देश स्वयं पूर्व से प्रभावित हो रहे थे। परवर्त्ती अँग्रेज़ी कवियों पर फ्रांसीसी रोमांटिकवाद की छाप गहरी थी और उस में पश्चिम एशिया (और उत्तर अफ्रीका) के प्रभाव गहरे थे। जर्मन रोमांटिक काव्य में ट्यूटन परम्पराओं का प्रतिबिम्ब स्पष्ट है,

उसके अतिरिक्त पूर्व के प्रभाव भी पर्याप्त थे। कोलरिज के काव्य में भारत और चीन की ओर संकेतों की भरमार है; कीट्स पर यूनानी (हेलेनिक) प्रभाव मुख्य है; शैली पर इस्लाम का प्रभाव उल्लेख्य है (भले ही इस्लामकी उसकी अवधारण बिल्कुल अनैतिहासिक हो,) और इसका भी प्रमाण है कि उपनिषदों के अनुवाद उस ने पढ़े थे; बायरन में विभिन्न प्रभाव लक्ष्य हैं और फ्रांसीसी आन्दोलन से उस का निकट सम्बन्ध है; स्विनबर्न और रोज़ेटी भी अनेक प्रभावों को प्रतिबिम्बित करते हैं। गयटे और शिलर की पूर्वाभिमुखता असन्दिग्ध है। इन सभी के साहित्य से भारत का शिक्षित वर्ग परिचित था। फ्रांसीसी रोमांटिक कवियों का और उत्तरकालीन यूरोपीय रोमांटिकों अथवा सम्बद्ध सम्प्रदायों का अध्ययन रोमांटिक काव्य-परम्पराओं के परस्पर प्रभावों के बारे में हमारी स्थापना और पुष्ट करता है, किन्तु यहाँ उस का ब्योरा आवश्यक नहीं है क्योंकि हिन्दी का छायावादी कवि उन से विशेष परिचित नहीं था और उस के उन से प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, हिन्दी की अत्याधुनिक प्रवृत्ति के अध्ययन में वेलेरी और वर्लेन, बोदेलेयर की कृतियाँ अवश्य अपना महत्त्व रखेंगी।

* * * *

भारतीय और यूरोपीय साहित्यों के परस्पर आदान-प्रदान के परिपार्श्व में, उन्नीसवीं शती के अँग्रेज़ी साहित्य ने किस प्रकार हिन्दी में छायावाद के आविर्भाव में योग दिया, यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा। अंग्रेज़ी शिक्षा ने भारतीय पाठक का परिचय केवल समकालीन पश्चिमी साहित्य से नहीं वरन् एक साथ ही उस की पूरी परम्परा से कराया था, इसलिए विभिन्न प्रभावों का संकुल उपस्थित होना स्वाभाविक था, पर साहित्यों या संस्कृतियों के प्रभाव में यह बात भी महत्त्व रखती है कि परिस्थिति कहाँ तक किस प्रभाव के ग्रहण के अनुकूल है : ऐसा हो सकता है कि कोई बीज युगों के बाद सहसा अंकुरित हो उठे—जैसा कि कालिदास के विषय में ऊपर देखा जा चुका है।

तो छायावाद मुख्यतया पश्चिम से प्रभावित नयी व्यक्ति-परक दृष्टि का परिणाम था। किन्तु वह केवल विदेशी परम्परा में एक स्वदेशी कड़ी जोड़ने का प्रयत्न नहीं था; नये छायावादी कवि के पास अपना नया वक्तव्य अवश्य था और उसे कहने की तीव्र उत्कंठा भी। जिन कवियों में निष्ठा थी वे उपहास और अवमानना से संकल्प-च्युत न हो कर नये सामंजस्य के शोध में लगे रहे और क्रमशः जो अटपटा और अपरिचित जान पड़ता था उसे आत्मीय और प्रीतिकर

बनाने में, सफल हुए।

छायावादी के सम्मुख पहला प्रश्न अपने कथ्य के अनुकूल भाषा का—नयी संवेदना के नये मुहावरे का—प्रश्न था। इस समस्या का उसने धैर्य और साहस के साथ सामना किया। उपहास और अवमानना से च्युत-संकल्प न हो कर उस ने अपनी बात कही, और जो कुछ कहा उस के सुचिन्तित कारण भी दिए। क्रमशः उस की साधना सफल हुई और जो एक दिन उपहासास्पद समझे जाते थे आज हिन्दी के गौरव माने जाते हैं। छायावादी कवियों ने भाव, भाषा, छन्द और मण्डन-शिल्प सभी को नया संस्कार दिया; छन्द, अलंकार, रस, ताल, तुक आदि को गतानुगतिकता से उबारा; नयी प्रतीक-योजना की स्थापना की। इस प्रकार काव्य की वस्तु और रूपाकार दोनों में गहरा परिवर्तन प्रस्तुत हुआ।

छायावाद के चार प्रमुख कवि हैं—जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पन्त और महादेवी वर्मा। वैयक्तिकता के काव्य में यह अस्वाभाविक नहीं कि चारों एक वर्ग के हो कर भी परस्पर इतने भिन्न हों।

स्व० जयशंकर 'प्रसाद' के काव्य में वह उन्मुक्त स्वच्छन्द भाव नहीं है जो अन्य छायावादी कवियों में पाया जाता है, यद्यपि संसार की रूप-माधुरी को आकण्ठ पान करने की लालसा उन की कविता में स्पष्ट है। इस का एक कारण तो अतीत के प्रति, और विशेष रूप से बौद्ध उत्कर्ष-काल के प्रति, उन का आकर्षण है। जहाँ इस आकर्षण के कारण वह उस काल के मोहक और मादकता-भरे चित्र प्रस्तुत करते हैं, वहाँ उस से एकात्म हो कर वह अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों के प्रति एक संकोच और संयम का भाव भी पाते हैं। उन की आरम्भिक रचनाओं में तो इस संकोच का बन्धन इतना कड़ा है कि बहुधा जान पड़ता है वह जो कहना चाहते हैं कह नहीं पाये हैं; मण्डन और सज्जा का एक भारी आवरण उन के भावों पर है जो स्वयं तो लुभावना हो सकता है पर प्रकाशन में सहायक नहीं होता। इस संकोच-या झिझक का दूसरा कारण भाषा की अपर्याप्तता भी है जिस का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। फिर सामाजिक परिस्थिति के साथ असामंजस्य भी एक कारण रहा: एक ओर वह देश-काल की सीमाओं से परे किसी कल्प-लोक में विचरण करने की आकांक्षा जगाता था तो दूसरी ओर प्रकृत आकांक्षाओं की सहज अनुभूति को संकुचित करता था। इन दोनों प्रवृत्तियों की चरम परिणति क्रमशः पलायनवाद और निराशावाद में होती है। सौन्दर्य उपभोग्य है, इस विषय में 'प्रसाद' कभी द्विधा में

नहीं थे, न रूपाकर्षण को ले कर कोई गाँठ उन के मन में पड़ी; वह निरन्तर 'पार्थिव सौन्दर्य को स्वर्गीय महिमा से मंडित' करके देखते रहे। अतः वह पलायनवादी या निराशावादी न हुए; पर असामंजस्य के अनुभव ने उन्हें भी अपने भावों को आध्यात्मिकता के आवरण में व्यक्त करने को प्रेरित किया। भावनाओं को मूर्त्त रूप दे कर स्वतन्त्र कर्त्ता के रूप में उन का वर्णन करना इसी प्रवृत्ति का एक रूप है, और यह समान रूप से छायावादी कवियों में लक्षित होती है। 'प्रसाद' जी इस से आगे भी बढ़े; आरम्भ में जो केवल एक आवरण था, गम्भीर चिन्तन और मनन के कारण एक तत्त्वदर्शन बन गया: निजी अनुभूति से ऊपर उठ कर उन्होंने एक परम प्रेममय, परम आनन्दमय का आभास पाया और उन का काव्य उसी के प्रति निवेदित हुआ। इसी कारण उन का काव्य अतृप्ति का काव्य नहीं हुआ, जैसा कि कम समर्थ कवियों का हो गया जिन के कारण छायावाद के ग्राह्य होने में और भी देर लगी।

छायावाद का स्वच्छन्दतावादी पक्ष अपने पुष्ट और सबल रूप में श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के काव्य में व्यक्त होता है। अपने समूचे कृतिकाल में वह अपना कविनाम सार्थक करते हुए एक अविराम विद्रोह-भावना के कवि रहे हैं: किसी भी क्षेत्र में गतानुगतिकता उन्हें अवमान्य हुई है और एक प्रखर व्यक्तित्व की ओज-भरी और दुर्दान्त अभिव्यक्ति से उन्होंने पाठक और आलोचक को अभिभूत कर दिया है। किन्तु व्यक्तित्व की निर्बाध अभिव्यक्ति के इस कवि में व्यक्ति-वैचित्र्य की चेतना बहुत कम है; सहज भाव से ही उस तेजस्वी व्यक्तित्व की विशिष्टता और शक्ति प्रतिभासित हो गयी है। अनुभूति की तीव्रता के कारण उन के आवेग प्रायः निरंकुशता की सीमा पर रहते हैं; और 'छन्द के बन्ध' के प्रति कवि की घोर अनास्था इस खतरे को और भी बढ़ा देती है। किन्तु वास्तव में कवि का मुक्ति का आग्रह बाह्य प्रसाधन के प्रति विद्रोह है, आन्तरिक संयम की अवज्ञा नहीं; उन के मुक्त छन्द में भी एक झंकार और ताल विद्यमान है। और क्रमशः उन की रचनाओं में एक और गहरा संयम भी लक्षित होता है—उन के कथा-काव्य में: घटनाओं की पूर्वापर संगति अनिवार्यतः अंकुश का काम करती है और इस प्रकार सधी हुई शक्ति का जो आभास उन के कथा-काव्य में मिलता है वह अतुलनीय है। 'राम की शक्तिपूजा' जैसी दो रचनाएँ हिन्दी में नहीं हैं। निष्कम्प सन्तुलन के साथ आवेगों की ऐसी तीव्रता और भाषा का तदनुकूल प्रवाह दुर्लभ है। स्फुट गीत सर्वत्र ऐसे विमुग्धकारी नहीं हैं;

और उन में दुरूहता और दुर्बोधिता भी है और कहीं-कहीं असम्बद्धता या विसंगति भी (जिस से अपेक्षया लम्बी काव्य-कथाएँ भी मुक्त नहीं हैं), किन्तु उन में भी जो सफल प्रगीत हैं वे मानों खड़ी बोली के पाठक के लिए एक नया अनुभव हैं। बंगला साहित्य के गहरे अध्ययन का भी उन की रचनाओं पर प्रभाव रहा : बंगला के स्वच्छन्दतावादी और रहस्यवादी काव्य ने उन की भाषा और विचार-संयोजन को एक विशिष्ट दिशा देने में योग दिया। परवर्ती कविता में लोक-भाषा की ओर आने का नया प्रयास है; और पुष्टतर सामाजिक चेतना उन्हें तीखे व्यंग और कटाक्ष की ओर भी प्रेरित करती है।

छायावाद की शक्ति का प्रतिरूप जहाँ 'निराला' उपस्थित करते हैं, वहाँ उस की सूक्ष्म संवेदना श्री सुमित्रानन्दन पन्त में लक्षित होती है। पाश्चात्य रोमांटिकवाद ने किस तरह इस काल की हिन्दी कविता को प्रभावित किया, इसे समझने के लिए भी पन्त जी का काव्य ही अध्येय है। रोमांटिकवाद को 'द रनेसंस आफ़ वंडर'- आश्चर्य-कौतूहल का पुनरुज्जीवन कहा गया है। पन्त जी के प्रथम काव्य-संग्रह का इससे अच्छा वर्णन नहीं हो सकता; मानव और प्रकृति के सौन्दर्य के एक ऋजु कौतूहल इस का मूल स्वर है। सौन्दर्य के प्रति 'निराला' में एक पौरुष-दृप्त जयी का भाव है, 'प्रसाद' में पारखी उपभोक्ता का; पन्त में उस का अन्तर्निहित शोभा के प्रति एक मुग्ध अकृत्रिम विस्मय का भाव है। आरम्भिक अँग्रेजी रोमांटिक कवियों के साथ तुलना को और आगे बढ़ाना हो, तो 'पल्लव' की भूमिका की वर्ड्सवर्थ और कोलरिज के 'लिरिकल वैलेड्स' की भूमिका के साथ तुलना की जा सकती है : छायावाद की दृष्टि को स्पष्ट और उस के आन्दोलन को ग्राह्य बनाने में इस भूमिका ने वही काम किया जो रोमांटिक दृष्टि और आन्दोलन के लिए कोलरिज-वर्ड्सवर्थ ने किया था। पंत जी ने इस भूमिका में शब्दों की प्रवृत्ति और उनकी अर्थबोधन-क्षमता, छन्द, तुक और ताल का नयी दृष्टि से विवेचन किया, और उस के द्वारा समवर्ती काव्य-रसिक को नयी दृष्टि दी।

पन्त जी मूलतः गीतिकाव्य के कवि हैं। यह गीतिकाव्यात्मकता वर्ड्सवर्थ आर शैली से प्रभावित हुई यह असन्दिग्ध है : उन के अनेक लाक्षणिक प्रयोग और प्रतीक योजनाएँ भी अँग्रेजी रोमांटिक काव्य का प्रभाव सूचित करती हैं। किन्तु यह प्रभाव अनुकरण कदापि नहीं है; उस काव्य की विशेषता को स्वायत्त कर के एक नयी दृष्टि प्राप्त कर के पन्त जी आगे बढ़े हैं। भारतीय परम्परा से पहले से भली भाँति परिचित होने के कारण वह यों भी निरे नयेपन के आकर्षण में नहीं पड़ सकते थे,

और एक सचेत कलाकार के नाते वह निरन्तर नवीन विचारों के साथ अपनी साहित्यिक परम्परा का सामंजस्य भी खोजते गये। व्याप्ति पाती हुई उन की सांस्कृतिक दृष्टि उनके काव्य को तीन सोपानों पर ले गयी है। सौन्दर्य-बोध पर समाज-बोध हावी हुआ है, और फिर उस पर अध्यात्म-बोध। आरम्भ के मुग्ध विस्मय का स्थान पहले एक दायित्व ज्ञान ने लिया है, और फिर एक व्यापक कल्याण-भावना ने। इस संक्रमण में बीच-बीच में सहज कौतूहल मानों फूट कर निकलता रहा है — और सौन्दर्य के प्रति कौतूहल ने केवल रूप कौतूहल का नहीं, शब्द-कौतूहल, ध्वनि-कौतूहल, नाद-कौतूहल का भी रूप लिया है—किन्तु अब उस की शांतोदात्त गति मानो कल्पना की रंगीनी और आवेगों की चंचलता से ऊपर उठ गयी है: वह केवल एक अनिर्वचनीय आध्यात्मिक उन्मेष और आनन्द का सृजन करती है।

रामकुमार वर्मा भी छायावादी परम्परा के कवि हैं। उन की प्रतिभा की मुख्य अभिव्यक्ति नाटक के क्षेत्र में हुई है; उन की कविता में उच्च कोटि का परिमार्जन और सौष्ठव और अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रहते हुए भी उस कोटि की मौलिकता नहीं है जो कि 'निराला' और 'पन्त' के काव्य में की मूल शक्ति रही। रामकुमार वर्मा नया मार्ग बनाने वाले नहीं, प्रशस्त मार्ग का अनुसरण करने वाले रहे हैं, यह कथन उनके काव्य के गुणों को और साथ-साथ उन के कृतित्व की मर्यादा को सूचित करता है। छायावाद की भाव-प्रवण सहजता उन में एक नियन्त्रित और अलंकृत रहस्यवादिता के रूप में प्रकट होती है: कवि की संवेदना को सदैव कलाकार का रूप-बोध संस्कार देता रहता है, और कभी तो संवेदना केवल एक निर्दिष्ट रूपाकार में हल्के-हल्के रंग भरती है। 'गीत' के प्रतिमान और 'कविता' के प्रतिमान में अन्तर असार नहीं है।

छायावाद के उपर्युक्त कवि सहज ही दो धाराओं में बँट जाते हैं, यद्यपि जैसा कि हम पहले भी कह आये हैं, सब की वैयक्तिकता विशिष्ट है। भावी इतिहासकार कदाचित् 'निराला' और 'पन्त' को ही छायावाद के प्रतिनिधि कवि मानेगा, क्यों कि उस का शुद्ध रूप उन्हीं में प्रकट होता है। 'प्रसाद' का ऐतिहासिक ग्रह उस उच्छ्वसित वैयक्तिकता के आड़े आता है जो छायावाद का मूल लक्षण है; महादेवी वर्मा में भी 'प्रसाद' की भाँति एक संकोच है जिसका स्रोत दूसरा है। उन में तीव्र संवेदना है और उन का क्षेत्र भी गीति काव्यात्मक है पर संवेदना की अपनी मर्यादाएँ होती हैं। संकोच—जिसके मूल में वही

आशंका है कि भावों की सहज अभिव्यक्ति पाठक को अग्राह्य होगी और वह उसे सहानुभूति न दे सकेगा—उन्हें भी प्रतीकों का आश्रय लेने को बाध्य करता है। वह भी अपने भावावेगों को दबाती या आवृत करती हैं, और मनोवृत्तियों को मूर्त्त रूप दे कर उत्तम पुरुष में उन के क्रिया-व्यापारों का वर्णन करके तटस्थता या विषयि-निरपेक्षता का आभास उत्पन्न करती हैं। किन्तु यह बात भी उन के पहले के काव्य के विषय में ही कही जा सकती है। उन में सहज-द्रवित सूक्ष्म सवेदना तो थी, पर मुक्त अभिव्यक्ति को सम्भव बनाने वाला निःसंशय आत्म-विश्वास नहीं; फलतः उन के काव्य की दिशा उत्तरोत्तर अन्तर्मुख होती गयी और पीछे के काव्य को छायावादी न कह कर रहस्यवादी कहना ही उचित होगा। उस में भावोच्छ्वास क्रमशः कम होता गया है; प्रतीकों का उत्तरोत्तर अधिक सहारा लिया गया है। उन का काव्य एक 'चिरन्तन' और 'असीम' प्रिय के प्रति निवेदित है जिस में अशेष कोमलता है। सारी प्रकृति उस की प्रतीक्षा में निःस्तब्ध सजगता से खड़ी है, आसन्न मिलन और आसन्न विरह के दो ध्रुवों में दोलायित जीवन की धूप-छाँह ही उन के काव्य की वर्ण्यवस्तु है।

*   *   *   *

मानव की प्रतिष्ठापना के काव्य की और गहरी पड़ताल करने पर हम देखते हैं कि इन आन्दोलन के चलते-चलते ही हमारी मानव सम्बन्धी धारणायें बदलती गयीं हैं और प्रतिष्ठा का अर्थ तो बदला ही है। फलतः मानव की प्रतिष्ठा का समान आग्रह करने वालों में भी कई दल हो गये हैं, जो न केवल परस्पर भिन्न हैं वरन् बहुधा उग्र विरोधी भी हैं।

'मानव की प्रतिष्ठा' का पहला और व्यापक अर्थ था मानव-समाज के आधारभूत नैतिक मूल्यों का पुनः परीक्षण, और एक नये लौकिक आधार पर उन की स्थापना; अथवा देव-सम्भूत नैतिकता के बदले मानव-सम्भूत नैतिकता की प्रतिष्ठा। व्यापक दृष्टि से भी इस परिवर्तन के दो सोपान रहे : पहले लोकोत्तर नियमों अथवा ऋत का स्थान प्राकृतिक नियमों अथवा विज्ञान ने लिया, फिर प्रकृति के स्थान में मानव की प्रतिष्ठा हुई। परिवर्तन के इन दो सोपानों को ध्यान में रख कर ही हम उस वैविध्य को समझ सकते हैं जो इस काल की साहित्यिक प्रगति में लक्षित हुआ।

विज्ञान द्वारा प्राकृतिक नियमों के शोध का जहाँ एक ओर यह परिणाम हुआ कि संसार के घटना-चक्र को हम विधि की वामता या स्वैर गति से संचालित न

मान कर प्राकृतिक नियमों द्वारा संचालित मानने लगे और समझने लगे कि जीवन की प्रगति में एक स्पष्ट कार्य-कारण-परम्परा और संगति है, वहाँ दूसरी ओर यह भी एक परिणाम हुआ कि प्रकृति प्रत्यक्ष की अनैतिकता या अतिनैतिकता ने हमारे सद्सद् विवेचन को निरर्थक सिद्ध कर दिया। पुण्य पुरस्कृत होता है, पाप का दंड मिलता है (इस लोक में या पर लोक में) यह मानना असम्भव हो गया : यह असन्दिग्ध था कि प्रकृति पापी में और पुण्यवान् में कोई भेद नहीं करती। 'प्रकृति अति नैतिक है' विज्ञान की इस पहली स्थापना से बढ़ कर साहित्यकार का यह मान लेना कि 'प्रकृति पापवृत्ति है' शोचनीय भले ही रहा हो, सर्वथा अकल्पनीय तो नहीं था। इस प्रकार पाश्चात्य विज्ञान के बुद्धिवाद ने ही उस रोमांटिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन (और अपना पक्ष पुष्ट करने का उपकरण) दिया जो उस के विरोध में खड़ी हुई। निस्सन्देह प्राकृतिक नियमों के शोध में अग्रसर होते हुए विज्ञान ने हमें नये नैतिक मूल्य दिये, और रोमांटिक आन्दोलन की यह पाप-पूजा की आवृत्ति क्रमशः मरणोन्मुखता के दलदल में विलीन हो गयी—किन्तु इस बीच इस ने सारे यूरोप के साहित्य को आक्रान्त किया। और जहाँ वह इतने स्पष्ट रूप में नहीं भी प्रकट हुई, वहाँ भी उस ने अपना प्रभाव डाला। पाप पूजा का सिद्धान्त सर्वत्र नहीं खड़ा किया गया; पर पाप के आकर्षण के लुभावने चित्र प्रस्तुत किये गये, और उस आकर्षण के सम्मुख मानव की दुर्बलता या असहायता को कारुणिक रूप में प्रस्तुत कर के उस के लिए समवेदना की माँग की गयी। विज्ञान की प्रत्यक्ष प्रेरणा के जागे हुए विस्मय के भाव के साथ-साथ प्रच्छन्न-मार्ग से आयी हुई मानव के असहाय प्रेम और कारुणिक वासना की यह भावना भी रोमांटिक आन्दोलन की एक मुख्य विशेषता रही और आन्दोलन की अन्य विशेषताओं के साथ इस की भी अनुगूँज (भले ही बहुत दूर से और बहुत देर से आयी हुई) भारतीय साहित्यों में पहचानी जा सकती है।

निस्सन्देह करुण प्रेम के मूल में ('करुण है हाय प्रणय'—पन्त) सामाजिक रूढ़ियों, निषेधों और विरोधों की नयी चेतना भी रही जिसने कवि को उन घटनाओं की ओर देखने की प्रेरणा दी जिन्हें पहले का कवि अनदेखा कर जाता था, और जिस ने उसे यह भी दिखाया कि वे रूढ़ियाँ और निषेध जीर्ण, अनुचित अमान्य और खंडनीय हैं; कि प्रेम का करुण होना नितान्त अनावश्यक है—बल्कि करुणा इसी में है कि जीर्ण रूढ़ियों को न तोड़ कर मानव व्यर्थ ही में

उन का बोझ ढोता चलता है।

नयी सामाजिक चेतना का प्रभाव तो स्पष्ट था ही और क्रमशः स्पष्टतर होता गया; पर उसके उन्मेष के कारण भी विविध थे। उन की चर्चा हम अभी करेंगे। उस से पहले स्वच्छन्दतावाद के एक और उपेक्षित पक्ष की ओर संकेत कर देना उचित होगा। हमारे राष्ट्रीय काव्य पर अन्य प्रभावों के साथ एक प्रभाव यह भी था। 'विदेशी दासता के प्रति रोष, विगत गौरव की कसक, नये सांस्कृतिक अभिमान के साथ-साथ एक बलवती काव्य-प्रेरणा इस स्वच्छन्दता की भी थी। जहाँ एक ओर इस से प्रेरित कवि अपने 'फक्कड़पन', 'दीवानापन', 'मस्ती', 'अलमस्त फकीरी' का दावा करता था, वहाँ इसी के कारण वह स्वातन्त्र्य का भी दावा करता था: अर्थात् अपने स्वच्छन्दता के आदर्श को वह आध्यात्मिक पहिरावे में फकीरी या अनिकेतनत्व का दावा कर के, सामाजिक पहिरावे में फक्कड़पन या दीवानगी का दावा करके, और राजनीतिक पहिरावे में विद्रोह या 'शहादतेवतन' का दावा कर के उपस्थित करता था।' छायावाद के आरम्भ के कवियों में यह बात उतनी स्पष्ट नहीं है; पर उन के सम्मुख मुख्य प्रश्न काव्य के तत्कालीन बहिर्मुख परिवेश के विरुद्ध अपनी अन्तरोन्मुखता का आग्रह करना, और गीति तत्व की प्रतिष्ठा के उपयुक्त भाषा का निर्माण करना ही है। इस के अतिरिक्त भारतीय चिन्तन और दर्शन के संस्कार उन में अधिक गहरे हैं; इतर पश्चिमी प्रभाव चिन्तन के उतने नहीं जितने कृति साहित्य के हैं। छायावाद के प्रमुख कवियों में पन्त ने ही अपनी सूक्ष्मतर संवेदना के कारण इन प्रभावों को ग्रहण कर के अभिनव रचनात्मक रूप दिया। फिर छायावाद के आरम्भ के कवियों में राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय स्वाधीनता का आग्रह भी उतना नहीं है, उन्होंने सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन पर ही अधिक बल दिया है। 'रोमांटिक स्वच्छन्दतावाद और राष्ट्रीय विद्रोहवाद का सम्बन्ध हम जितना स्पष्ट आतंकवादी विप्लव आन्दोलनों में देख सकते हैं, उतना ही समवर्ती साहित्यिक कृतियों में भी। नज़रुल-इस्लाम का 'भगवान् के वक्ष पर पदचिह्न आँक देने' वाला 'विद्रोही भृगु', 'नवीन' का 'कारावासी लौह शक्ति' मस्त 'फ़कीर', भगवतीचरण वर्मा का 'मस्ती का आलम साथ लिये' 'बन्धन तोड़ चलने' वाला 'दीवाना', और 'बच्चन' का 'लहरों से उलझने को फड़कती भुजाओं' वाला अधीर तीर वासी—ये सब सगे नहीं तो धर्म-भाई अवश्य हैं, और इन्हें मिलाने वाला धर्म स्वच्छन्दतावाद है। इतना ही नहीं, अविराम अटनशील यात्री का जो प्रतीक हम न केवल

इन कवियों में वरन् नरेन्द्र शर्मा और 'सुमन' में भी पाते हैं (कहीं वह शाप ग्रस्त है, कहीं नियति से बंधा, कहीं पथ के रहस्यमय आकर्षण से मर्यादित), वह भी रोमांटिक साहित्य की देन है। इन परवर्ती कवियों ने पाश्चात्य साहित्य (काव्य और अकाव्य) अधिक पढ़ा, और भारतीय चिन्तन-परम्परा से इतनी प्रेरणा नहीं पा सके; अतः उन की रचनाओं में उन प्रभावों को पहचानना कम कठिन है जो उन से पहले भी क्रियाशील थे।

किन्तु साहित्यिक प्रभावों से अधिक गहरा और तीव्र प्रभाव सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों का था जो बड़ी द्रुत गति से बदल रही थीं। वैज्ञानिक शोधों के कारण जीव-जगत् में मानव के स्थान के विषय में धारणाएँ मूलतः बदल गयी थीं, और दूसरी ओर यन्त्र उद्योगों के विकास से सामाजिक सम्बन्ध बड़ी तेज़ी से बदल रहे थे—अर्थात् मानव-समाज में व्यक्ति के स्थान के विषय में नयी धारणाएँ बन रही थीं। प्राणि जगत् की योजना में मानव के स्थान का नया निरूपण एक प्रकार की आध्यात्मिक क्रान्ति था। उस से जीव मात्र के प्रति एक नये भाव का उदय हुआ और नये, मानव-सम्भूत नैतिक मूल्य प्रतिष्ठित होने लगे। नीति-स्रोत ईश्वर के स्थान पर जो नीति-निरपेक्ष प्रकृति बिठा दी गयी थी, उस का स्थान फिर नैतिक मानव को दिया गया। इस वैज्ञानिक मानववाद ने नये मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा की, और एक आत्मानुशासित नीतिवान् मानव व्यक्ति की परिकल्पना करने लगा। वास्तव में मानव ऐसा नहीं पाया गया, फिर भी उस की प्रबोधन की सम्भावनाएँ अमित हैं और ज्यों-ज्यों वह प्रबुद्ध होता जायगा त्यों-त्यों वह स्वतः अधिक नीतिवान् होता जायगा, ऐसा इस नये मानववाद का आग्रह था। दूसरी ओर यन्त्र-उद्योगों ने श्रम-सम्बन्धों के विषय में जो नयी दृष्टि दी, वह वर्ग-संघर्षों पर आधारित सामाजिक क्रान्ति का स्रोत बनी। इस ने सामूहिक कर्म को ही महत्त्व दिया और व्यक्ति के विकास के आग्रह को भ्रान्त और असामाजिक प्रवृत्ति घोषित किया। दोनों प्रकार के आग्रह मानव की प्रगति को और तीव्रता दे सकते या अपना स्वतन्त्र सन्तुलन स्थापित कर सकते, किन्तु राजनैतिक घटना-चक्र ने परिस्थिति को दूषित कर दिया और सामाजिकता का स्वस्थ आग्रह राजनैतिक संगठन द्वारा नियन्त्रण का मतवाद बन गया।

इस संघर्ष की जो निष्पत्ति हुई, वह वास्तव में इस संकलन के आगे की बात है। यह संघर्ष का उल्लेख ही पर्याप्त है, क्यों कि संगृहीत कवियों की

काव्य रचना इसी पृष्ठिका पर हुई। इस संघर्ष का बोध इन कवियों में लक्षित होता है, और समय समय पर विभिन्न कवियों ने उस के सम्बन्ध में, या उस से प्रेरित विचार भी प्रकट किये हैं। कभी परस्पर-विरोधी विचार भी प्रकट किये गये हैं, और कभी ऐसा भी हुआ कि कवि ने अपने रचना कर्म को दो खंडों में बाँट दिया है। यह विभाजन कवि के अनिश्चय अथवा विभाजित मानस का ही प्रतिबिम्ब है, और प्रायः कवि को स्वयं अपनी स्थिति का बोध भी रहता है। वह दो प्रकार की रचना करता है, एक को वह स्वयं 'क्षय ग्रस्त' या 'रोमानी' कह कर उस के प्रति अवहेलना दिखाता है, तो दूसरी को वही 'सामयिक प्रवृत्ति के अनुकूल' अथवा 'वाद को पुष्ट करने के लिए लिखी गयी' बता कर अवमान्य ठहरा देता है।

*　　　　*　　　　*　　　　*

संग्रहीत कवियों में सुभद्राकुमारी चौहान ही पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त हैं और उन की 'राष्ट्रीयता' राजनैतिक राष्ट्रवादिता की अपेक्षा शुद्ध भारतीयता ही अधिक है। उन के काव्य में प्रसाद गुण भी है और ओज गुण भी : स्त्री कवियों में वह अपने ढंग की अद्वितीय रहीं। राष्ट्रीय अथवा भारतीयता की कविताओं के अतिरिक्त उन की अन्य रचनायों को एक ऋजु ममत्व, एक व्यापक वात्सल्य अनुप्राणित करता है। सियारामशरण गुप्त के उपन्यासों की सहज आत्मीयता का काव्यात्मक प्रतिरूप सुभद्राकुमारी चौहान की कविताओं में मिलता है।

रामधारीसिंह 'दिनकर' के काव्य की मस्ती और तीव्र सामाजिक चेतना— जो कभी-कभी आक्रोश की सीमा तक पहुँच जाती है और जिस के कारण उन्होंने सामाजिक व्यंग्य की कविता भी लिखी है — उन्हें अपने समवर्ती कवियों से सम्बद्ध करती है। किन्तु इसके बावजूद वह एक विशेष कारण से अपने समवर्तियों से पृथक हो जाते हैं। यहाँ हमारा इंगित उन के राष्ट्रीयतावादी या उद्बोधन काव्य की, अथवा उन की सामाजिक मंगलाकांक्षा की ओर नहीं है बल्कि इस बात की ओर कि एक व्यक्तिवादी वातावरण में आगे आकर भी उन्होंने न केवल व्यक्तिवादी दृष्टि को अपनाया नहीं बल्कि उस का प्रत्याख्यान भी किया। कहा जा सकता है कि मस्ती और मौज के उपासक, पौरुष के दर्प के कवि हो कर भी उन्होंने स्वच्छन्दतावाद का दर्शन नहीं अपनाया। प्रवृत्तिगत भेदों के रहते हुए भी किसी को यदि मैथिलीशरण गुप्त का उत्तराधिकारी कहा जा सकता है तो 'दिनकर' को ही। 'कुरुक्षेत्र' इस कथन को और भी बल देता है। वह उस अर्थ में कथा-काव्य नहीं है

जिस अर्थ में 'साकेत' कथा-काव्य है। क्यों कि उस में घटना-वर्णन तो है ही नहीं; न ही वह 'यशोधरा' के ढंग का कथा-काव्य है जिस में घटनाओं का वर्णन तो नहीं है, पर विभिन्न पात्रों की विभिन्न समयों की मनस्थिति के वर्णन द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से घटना-प्रवाह सूचित कर दिया गया है। 'कुरुक्षेत्र' वास्तव में एक नाटकीय संवाद है, उसकी नाटकीय तीव्रता ही उसके मानसिक ऊहापोह और तत्वचिन्तन को नीरस होने से बचा लेती है और उस कथा को मानो मूर्त्त कर देती है जो उसके पीछे घटित हुई है और उस स्थिति को लायी है जिसमें संवाद हो रहा है। किन्तु फिर भी 'कुरुक्षेत्र' परिपाटी-सम्मत प्रबन्ध-काव्यों से सर्वथा भिन्न और गुप्त जी के काव्यों के निकट है; क्योंकि उनकी दृष्टि में साम्य है और वे मानवता और मानवीयता की प्रतिष्ठा करते हैं।

श्रीभगवतीचरण वर्मा और श्री हरिवंशराय 'बच्चन' छायावाद के उत्तर काल के कवि हैं। कवि की कवि से तुलना किये बिना कहा जा सकता है, जैसे स्विनबर्न या रोजे़टी रोमांटिक युग के उत्तर काल के कवि थे।

यह कथन इस सन्दर्भ में सार्थक होता है कि पन्त और निराला छायावाद के पूर्वकाल के कवि हैं। रोमांटिक प्रवृत्ति का विस्मय-भाव वर्मा जी या 'बच्चन' की कविता में प्रायः बिल्कुल नहीं है, किन्तु प्रकृति की शक्तियों के और अपनी वासना के आकर्षक के सम्मुख असहाय मानव उसका केन्द्र विन्दु है। उसकी असहायता की उसके जीवन को अस्थिर, उसकी नैतिक मान्यताओं को निराधार और उस के सुख दुख को क्षणभंगुर बना देती है। मोहाविष्ट वह निरन्तर चलता है: जीवन एक प्रकार की मदिरा है जो उस के मोह को बनाये रखती और उसे पथ पर प्रवृत्त किये चलती है। 'बच्चन' का मुहावरा उमर खै़याम (अर्थात् फ़िट्ज़ जैरल्ड के अँग्रेज़ी उमर खै़याम) का मुहावरा है, और उन के प्रतीक भी उसी से प्रभावित हैं, पर उन की कविता रोमांटिक प्रवाह से अलग नहीं है।

परवर्ती आध्यात्मिक प्रवृत्ति उन्हें पृथक न करती, तो श्री नरेन्द्र शर्मा इन दोनों के अधिक निकट हो सकते; पर आरम्भ से ही उन का पथ कुछ भिन्न रहा क्योंकि उन का प्रकृति प्रेम उन्हें पन्त के निकट ले जाता था। यद्यपि प्रकृति के प्रति वैसा विस्मय-भाव उन में नहीं था। कई दृष्टियों से उन का विकास पन्त के ही समान्तर चलता है।

श्री बालकृष्ण राव मूलतः रोमांटिक कवियों से प्रभावित और छायावाद के

सहयात्री होते हुए भी संकलित अन्य कवियों से अलग कोटि में आते हैं। इस के अनेक कारण हैं। एक तो भारतीय और विदेशी काव्य साहित्य से विस्तृत परिचय के कारण उन की दृष्टि व्यापक है। दूसरे—कदाचित् उपर्युक्त कारण से भी—उन का भाषा प्रयोग अधिक 'आधुनिक' है। उन की वाक्य-रचना गद्य के अधिक निकट आती है। तुकान्त छन्दोबद्ध रचना में, लय के नियमों का निर्वाह करते हुए भी वे आधुनिक प्रवृत्ति के अनुकूल यति को स्थिर न रख कर पंक्तियों में वैचित्र्य उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार छायावाद से आरम्भ कर के भी वह वैज्ञानिक आधुनिक दृष्टि के कारण उस से पृथक हो गये हैं।

हंसकुमार तिवारी पर बंगला का और विशेषतया रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य का प्रभाव रहा है। इसलिए उन का काव्य समकालीन द्विधा को भरपूर अभिव्यक्ति देता है। एक ओर उस में छायावाद की गीत्यात्मकता है और दूसरी ओर समकालीन सामाजिक दबावों का बोझ भी। उन के काव्य में एक स्वस्थ भाव है जो उसे समकालीन परुष और तीव्र स्वरों से बचाता रहा है।

शिवमंगलसिंह 'सुमन' और शम्भूनाथसिंह अपने जनवादी आग्रह के बावजूद उत्तरकालीन छायावाद से अधिक दूर नहीं गये हैं। कहा जा सकता है कि खंडित कवि-कर्म वाला पथ उन्होंने भी अपनाया है: मुख्य प्रवृत्ति रोमांटिक रहते हुए अनेक कविताएँ उन्होंने अलग ढंग की लिखी हैं। वादाक्रान्त वातावरण में ऐसी कविताओं ने पाठकों के कुछ वर्गों में प्रतिष्ठा पायी है, जब कि बहुसंख्य समाज दूसरे प्रकार की कविताओं में रस लेता रहा है, और कदाचित् ये दूसरे प्रकार की कविताएँ ही अपने रचयिताओं के भावी कवि-यश का आधार होंगी। प्रबल व्यक्तित्व का आकर्षण 'सुमन' को सदैव ही प्रभावित करता है और उन की कविता में वीर-पूजा का स्वर बराबर मुखर होता है। छन्द की दृष्टि से उन्होंने मुक्त वृत्त का भी सफल उपयोग किया है। शम्भुनाथसिंह ने लोक-गीतों की धुनों से पर्याप्त प्रेरणा ली है और अनेक ऐसे प्रतीक और अभिप्राय अपनाये हैं जिन से उन के गीतों का प्रभाव क्षेत्र और व्यापक हो जाता है।

साहित्य में युग-विभाजन मानचित्र की सीमा-रेखाओं की भाँति नहीं होता और विशेषतया समकालीन अथवा निकट काल की प्रवृत्तियों का पृथककरण और भी जटिल होता है। एक युग की प्रवृत्तियाँ परवर्ती युग में भी लक्षित होती रहती हैं और अनन्तर मुखर होने वाले स्वरों के पूर्व संकेत अतीत युग में भी मिल जाते हैं। फिर भी कहा जा सकता है कि प्रस्तुत संकलन जिस युग की कविता का प्रतिनिधित्व

करता है उस के बाद हिन्दी कवियों ने एक नया मोड़ लिया। नये संक्रमण में हिन्दी कविता के स्वरूप में आमूल परिवर्तन हुआ। खड़ी बोली का काव्य पहले लोक-भूमि पर उतरा, उस की दृष्टि ईश्वर-परक से बदल कर मानव-परक हुई, फिर उस ने मानव-समाज के भीतर व्यक्ति और समाज के रूप और उन की परस्परता को पहचाना—देखा कि यह परस्पर-विरोधी और परस्पर-पूरक, अन्योन्याश्रित और अन्यान्य-सम्भूत हैं। फिर कविता के बहिरंग या अन्तरंग के परिष्कार या उन्मोचन से आगे बढ़ कर एक नये आन्दोलन ने आग्रह किया कि वह कवि की संवेदना को एक नये स्वर पर ले जाय, ग्रहण करने वाली चेतना और गृहीत सम्पूर्ण इयत्ता के सम्बन्ध को ही नया रूप दे देगा। और यह किसी असाधारणत्व के दावे के साथ नहीं बल्कि अपनी साधारणता को उतनी ही सहजता के साथ स्वीकार करते हुये जितनी से अपनी अद्वितीयता को। उसे कहाँ तक सफलता मिली है, या मिल भी सकती है, यह अन्यत्र भी विवादास्पद है, और यहाँ तो अप्रासंगिक भी। यहाँ तो हम हिन्दी कविता के एक संचरण की पूर्ति पर विश्राम लेते हैं।

—स० ही० वा०

—oo—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ('रसा')

पी प्रेम-पियाला भर-भर कर

श्री राधा-माधव जुगल-चरन-रस का अपने को मस्त बना,
पी प्रेम-पियाला भर-भर कर कुछ इस मै का भी देख मजा।
यह वह मै है जिस के पीने से और ध्यान छुट जाता है,
अपने में औ' दिलबर में फिर कुछ भेद नहीं दिखलाता है।
इस के सुरूर से मस्त हरेक अपने को नज़र बस आता है,
फिर और हवस रहती न ज़रा कुछ ऐसा मज़ा दिखाता है।
टुक मान मेरा कहना, दिल को इस मैखाने की तरफ झुका,
पी प्रेम-पियाला भर-भर कर कुछ इस मै का भी देख मज़ा।

यह वह [illegible] है जिस का कि नशा जब आँखों में छा जाता है,
मैखाना, काबा, बुतखाना, सब एकी-सा दिखलाता है।
हुशियार समझता अपने को जग को अहमक बतलाता है,
वह काम खुशी से करता जिस के नाम से जग शर्माता है।
जिस का कि नाम है शर्म आप वह इस मै से जाती शरमा—
पी प्रेम-पियाला भर-भर कर कुछ इस मै का भी देख मज़ा॥

[illegible]शियार वही है आलम में इस मै से जो सरशार बने
हो कार उसी का पूरा जो इस दुनिया से बे-कार बने,
हो यार वही उसका जो इस जग में सब से अग़यार बने,
पहिने कमाल का जामा वह जिसका कि गरेबाँ तार बने।
गर लुत्फ़ उठाना हो इस का तो तू भी मेरा मान कहा।
पी प्रेम-पियाला भर-भर कर कुछ इस मै का भी देख मज़ा॥

गो दुनिया में उस दाना को हर शख्स बड़ा नादान कहे,
पर उसे मज़ा वह हासिल है जिस से वह हेच सब को समझे।
कभी न उतरे उसका नशा जिसके सिर इसका भूत चढ़े,
हँसते-हँसते इस दुनिया से झट उस का बेड़ा पार लगे।
इतबार न हो तो देख न ले क्या 'हरीचन्द' का हाल हुआ—
पी प्रेम-पियाला भर-भर कर कुछ इस मै का भी देख मज़ा॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ('रसा')

फूलों का गुच्छा

नहीं का बाक़ी वक्त नहीं है ज़रा न जी में शरमाओ ,
लब पर जाँ है, भला अब तो प्यारे मिलते जाओ ।

'कहाँ गयीं वह पिछली बातें कहाँ गया वह था जो प्यार ,
किधर छिपाया चाँद-सा मुखड़ा दिखलाता जा यार !'
बेहोशी में घबड़ा-घबड़ा कर के यही कहता हूँ पुकार ,
मर्ज़ बढ़ गया बहुत इस से बचना अब है दुश्वार ।
करो आरज़ू दिल की मेरे पूरी सूरत दिखलाओ ,
लब पर जाँ है, भला अब तो प्यारे मिलते जाओ ।

गरचे उम्र-भर खराब रुसवा ज़लीलो परेशान रहा ,
हमेशा मुझ को तुम्हारे मिलने का अरमान रहा ।
जिया बेहयाई से अब तक कितना भी हैरान रहा ,
जान न दे दी, हमेशा कौल का तेरे ध्यान रहा ।
पै मरने के सिवा है अब तदबीर कौन वह बतलाओ—
लब पर जाँ है, भला अब तो प्यारे मिलते जाओ ।

तुम्हें कहे जो झूठा प्यारे उसे ही बनाये झूठा ,
मुझ को तुमसे नहीं कुछ बाकी है करना शिकवा ।
इस में तुम्हारा कसूर क्या है, होता है किस्मत का लिखा ।
मर जायेंगे पर न इस जबाँ से होगा तेरा गिला ।
हुई जो होनी थी इस से तुम जरा न जी में शरमाओ—
लब पर जाँ है, भला अब तो प्यारे मिलते जाओ ।

हम तो खैर हसरत लाखों ही जी में अपने ले के चले ,
पर य ख़ौफ़ है तुम्हें बेरहम न प्यारे कोई कहे ।
हँस के रुखसत करो, न जी में तो कुछ भी अरमान रहे ,
कोई जुदा गर होय तो मिलते हैं सब जाके गले ।

'हरीचंद' से भला रस्म इतनी तो अदा कर के आओ—
लब पर जाँ है, भला अब तो प्यारे मिलते जाओ।

ग़ज़ल

तेरी सूरत मुझे भायी मेरा जी जानता है,
जो झलक तूने दिखायी मेरा जी जानता है।
अरे ज़ालिम तेरे इस तीरे निगह से हमने
चोट जैसी कि है खाई मेरा जी जानता है।
खायेंगे जहर नहीं डूब मरेंगे जा कर,
जो है कुछ जी में समायी मेरा जी जानता है।
कत्ल कर के न ख़बर ली मेरे कातिल, अफसोस!
जाँ इसी दुख में गँवायी मेरा जी जानता है।
प्यार की वह तेरी चितवन, व' नशीली आँखें,
दिल को किस तरह हैं भायी मेरा जी जानता है।
दे के जी और पै जीने का मज़ा खो बैठे—
जीते जी जी पै बन आयी मेरा जी जानता है।
सब्र की फ़ौज के पा उठ गये, दिल हार गया,
आँख तूने जो लड़ायी, मेरा जी जानता है।
ख्वाब-सा हो गया शब को तेरी सुहबत का खयाल,
रात वह फेर न आयी मेरा जी जानता है।
दाग दिल पर ये रहेगा कि तेरे कूचे तक
थी 'रसा' की न रसाई मेरा जी जानता है।

ग़ज़ल

दिल मेरा ले गया दग़ा कर के,
बेवफ़ा हो गया वफ़ा कर के!
हिज्र की शब घटा ही दी हमने
दास्ताँ ज़ुल्फ़ की बढ़ा कर के।

ओ' लारू कह तो क्या मिला तुझको
दिलजलों को जला-जला करके !
वक्ते रेहलत जो आये बालीं पर ,
खूब रोये गले लगा कर के ।
सरबकामत ग़ज़ब की चाल से तुम
क्यों कयामत चले बपा कर के !
खुद-ब-खुद आज जो व बुत आया ,
मैं भी दौड़ा खुदा-खुदा कर के !
क्यों न दावा करे मसीहा का
मुर्दे ठोकर से वह जिला कर के ।
क्या हुआ यार छिप गया किस तरफ़
इक झलक-सी मुझे दिखा कर के !
दोस्तो कौन मेरी तुरबत पर
रो रहा है रसा-रसा कर के !

——

अपने को तब पाया हमने

खाक किया सब को तब यह अक्सीर है कमाया हमने ।
सब को खोया यार अपने को तब पाया हमने ।

अपना बेगाना किया दोस्त को दुश्मन ठहराया हमने ,
दीन व ईमाँ बिगाड़ा धरम सब डुबाया हमने ।
काम रंज से रहा चैन दम भर न कहीं पाया हमने ,
दोनों जहाँ के ऐश को खाक में मिलाया हमने ।
जिस का नाम है शरम उसी को जग में शरमाया हमने ,
सब को खोया यार अपने को तब पाया हमने ।

जब से दिल में मेरे वह दिलबर जलवा-अफरोज़ हुआ ,
मिला मज़ा वह नहीं इस दुनिया में सानी जिस का ।

जब से आँखों में उस के मिलने का मेरी छा गया नशा,
सब कुछ भूला कुछ ऐसा हासिल मुझ को हुआ मज़ा।
काम किसी से रहा न ऐसा नशा है जमाया हमने,
सब को खोया यार अपने को तब पाया हमने।

छिपा न उस का इश्कराज़ आखिर को सब कुछ फ़ाश हुआ,
बेदीनी का व' शुहरा हुआ कि काफ़िर सब ने कहा।
हुई यहाँ तक बरबादी घर-बार खाक में सभी मिला,
ली बदनामी हुआ बेशर्मो-हया दर-दर रुसवा।
बेईमाँ बेदीं काफ़िर अपने को कहलाया हमने,
सब को खोया यार अपने को तब पाया हमने।

मिला मेरा दिलबर मुझको अब किसी बात की चाह नहीं,
कोई ख़फ़ा हो या खुश हो कुछ मुझ को परवाह नहीं।
सिवा यार के कूचे जाना दैरो-हरम की राह नहीं,
सब कुछ मेरा यार है और कोई अल्लाह नहीं।
'हरीचंद' क्या बयाँ हो गूँगे हो कर गुड़ खाया हमने,
सब को खोया यार अपने को तब पाया हमने।

चूरन का लटका

चूरन अमल बेद का भारी, जिसको खाते कृष्ण मुरारी।
मेरा पाचक है पचलोना, जिसको खाता श्याम सलोना।
चूरन बना मसालेदार, जिस में खट्टे की बाहार,
मेरा चूरन जो कोइ खाय, मुझ को छोड़ कहीं नहिं जाय॥

हिन्दू चूरन इस का नाम, विलायत पूरन इस का काम,
चूरन जब से हिन्द में आया, इस का धन-बल सभी घटाया,

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ('रसा')

चूरन ऐसा हट्टा-कट्टा, कीन्हा दाँत सभी का खट्टा ,
चूरन अमले सब जो खावैं, दूनी रिश्वत तुरत पचावैं ॥

चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हजम कर जाते ।
चूरन खावैं एडिटर जात, जिनके पेट पचे नहिं बात ।
चूरन साहेब लोग जो खाता, सारा हिन्द हजम कर जाता ।
चूरन पुलिस वाले खाते, सब कानून हजम कर जाते ॥
ले चूरन का ढेर—
बेचा टके सेर !

नये ज़माने की मुकरियाँ

सब गुरुजन को बुरा बतावे ,
अपनी खिचड़ी अलग पकावे ।
भीतर तत्त्व न झूठी तेज़ी ।
क्यों सखि, साजन ? नहिं, अँगरेज़ी ।
तीन बुलाये तेरह आवे ,
निज-निज बिपता रोइ सुनावे ।
आँखों फूटे भरा न पेट—
क्यों सखि, साजन ? नहिं ग्रेजुएट ।
सुन्दर बानी कहि समुझावे ,
बिधवागन सों नेह बढ़ावे ।
दयानिधान परम गुन-आगर
सखि, साजन ? नहिं, विद्यासागर ।
सीटी दे कर पास बुलावे ,
रुपया ले तो निकट बिठावे ।

ले भागै मोहिं खेलहिं खेल ,
　　क्यों सखि, साजन ? नहिं सखि, रेल ।
धन लै कर कछु काम न आवै ,
　　ऊँची-नीची राह दिखावै ।
समय पड़े पर साधै गुंगी ।
　　क्यों सखि, साजन ? नहिं सखि, चुंगी ।
मतलब ही की बोलै बात ,
　　राखै सदा काम की घात ।
डोलै पहिने सुन्दर समला—
　　क्यों सखि, साजन ? नहिं सखि, अमला ।
रूप दिखावत सरबस लूटै ,
　　फन्दे में जो पड़ै न छूटै ।
कपट कटारी जिय मैं हुलिस—
　　क्यों सखि, साजन ? नहिं सखि, पुलिस ।
भीतर-भीतर सब रस चूसै ,
　　हँसि-हँसि कै तन-मन-धन मूसै ।
जाहिर बातन में अति तेज ,
　　क्यों सखि, साजन ? नहिं, अँगरेज ।
सतएँ अठएँ मो घर आवै ,
　　तरह-तरह की बात सुनावै ।
घर बैठा ही जोड़ै तार—
　　क्यों सखि, साजन ? नहिं, अखबार ।
एक गरभ में सौ-सौ पूत ,
　　जनमावै ऐसा मजबूत ।
करै खटाखट काम सयाना—
　　सखि साजन ? नहिं, छापाखाना ।
नयी-नयी नित तान सुनावै ,
　　अपने जाल में जगत फँसावै ।
नित-नित हमैं करै बल-सून
　　क्यों सखि, साजन ? नहिं, कानून ।

इन की उन की खिदमत करो ,
    रुपया देते-देते मरो ।
तब आवै मोहि करन खराब—
    क्यों सखि, साजन ? नहीं, खिताब ।
लंगर छोड़ि खड़ा हो झूमै ,
    उलटी गति प्रतिकूलहि चूमे ।
देस-देस डोलै सजि साज ,
    क्यों सखि, साजन ? नहीं, जहाज ।
मुँह जब लागै तब नहिं छूटै ,
    जाति मान धन सब कुछ लूटै ।
पागल करि मोहिं करे खराब ।
    क्यों सखि, साजन ? नहीं, सराब ।

नाथूरामशंकर शर्मा ('शंकर')

प्रार्थना-पंचक

द्विज वेद पढ़ें, सुविचार बढ़ें, बल पाय चढ़ें सब ऊपर को ,
अविरुद्ध रहें, ऋजु पन्थ गहें, परिवार कहें वसुधा-भर को ,
ध्रुव धर्म धरें, पर दुःख हरें, तन त्याग तरें भव-सागर को ,
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि शंकर को ।

विदुषी उपजें, क्षमता न तजें, व्रत धार भजें सुकृती वर को ,
सधवा सुधरें, विधवा उबरें, सकलंक करें न किसी घर को ,
दुहिता न बिकें, कुटनी न टिकें, कुलबोर छिकें तरसें दर को ,
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि शंकर को ।

नृपनीति जगे, न अनीति ठगे, भ्रम-भूत लगे न प्रजाधर को ,
झगड़े न मचें, खल-खर्ब लचें, मद से न रचें भट संगर को ,
सुरभी न कटें, न अनाज-घटें, सुख-भोग डटें, डपटें डर को ,
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि शंकर को ।

महिमा उमड़े, लघुता न लड़े, जड़ता जकड़े न चराचर को ,
शठता सटके, मुदिता मटके, प्रतिभा भटके न समादर को ,
विकसे विमला, शुभ कर्म-कला, पकड़े कमला श्रम के कर को ,
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि शंकर को ।

मत-जाल जलें, छलिया न छलें, कुल फूल फलें तज मत्सर को ,
अघ-दम्भ दबें, न प्रपंच फबें, गुरु मान नबें न निरक्षर को ,
सुमरें जप से, निरखें तप से, सुर-पादप से तुझ अक्षर को ,
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि शंकर को ।

रंक-रोदन

क्या शंकर प्रतिकूल काल का अन्त न होगा ,
क्या शुभ गति से मेल मृत्यु पर्य्यन्त न होगा ,
क्या अब दुःख-दरिद्र हमारा दूर न होगा ,
क्या अनुचित दुर्दैव-कोप कर्पूर न होगा ?

हो कर मालामाल पिता ने नाम किया था ,
मैं ने उन के साथ न कोई काम किया था ।
विद्या का भरपूर इष्ट अभ्यास किया था ;
पर औरों की भाँति न कोई पास किया था ।

उद्यम की दिन-रात कमान चढ़ी रहती थी ,
यश के सिर पै वर्ण उपाधि मढ़ी रहती थी ।
कुल गौरव की ज्योति अखंड जगी रहती थी ,
घर पै भिक्षुक-भीड़ सदैव लगी रहती थी ।

जीवन का फल शुद्ध पूज्य पितु पाय चुके थे ,
कर पूरे सब काम कुलीन कहाय चुके थे ।
सुन्दर स्वर्ग समान विलास विसार चुके थे ,
हा, हम उन का अन्त अनन्त निहार चुके थे ।

बाँध जनक की पाग बना मुखिया घर का मैं ,
केवल परमाधार रहा कुनबे-भर का मैं ।
सुख से पहली भाँति निरंकुश रहता था मैं ,
घर का देख बिगाड़ न कुछ भी कहता था मैं ।

जिन का संचित कोश खिला कर खाया मैं ने ,
कर के उन की होड़ न द्रव्य कमाया मैं ने ।
अटका हेकड़ ह्रास नहीं पहचाना मैं ने ,
घटती का परिणाम कठोर न जाना मैं ने ।

चेते चाकर चोर पुरानी बान बिगाड़ी ,
दिया दिवाला काढ़ बनी दूकान बिगाड़ी ।
आधे दाम चुकाय बड़ों की बात बिगाड़ी ,
छोड़ धर्म का पन्थ प्रथा विख्यात बिगाड़ी ।

अटके डिगरीदार दया कर दाम न छोड़े ,
छीन लिये धन-धाम, ग्राम अभिराम न छोड़े ।
बासन बचा न एक विभूषण-वस्त्र न छोड़े ,
नाम रहा निरुपाधि पुलिस ने शस्त्र न छोड़े ।

न्याय-सदन में जाय दरिद्र कहाय चुका हूँ ,
सब दे कर इन्सालवेंट पद पाय चुका हूँ ।
अपने घर की आप विभूति उड़ाय चुका हूँ ,
पर संकट से हाय न पिंड छुड़ाय चुका हूँ ।

* * *

दुखड़ों की भरमार यहाँ सुख साज नहीं है ,
किस का गोरस, भात, मुठी-भर नाज नहीं है ।
भटकें चिथड़े धार धुले पट पास नहीं हैं ,
कुनबे-भर में कौन अधीर, उदास नहीं हैं ।

मक्की, मटरा, मोठ भुनाय चबा लेते हैं ,
अथवा रूखे रोट नमक से खा लेते हैं ।
सत्तू, दलिया, दाल, पेट में भर लेते हैं ,
गाजर, मूली पाय कलेवा कर लेते हैं ।

बालक चोखे खान-पान को अड़ जाते हैं ,
खेल-खिलोने देख पिछाड़ी पड़ जाते हैं ।
वे मनमानी वस्तु न पा कर रो जाते हैं ,
हाय, हमारे लाल सुबकते सो जाते हैं ।

सिर से संकट-भार उतार न लेगा कोई,
मुझ को एक छदाम उधार न देगा कोई।
करुणा-सागर वीर कृपा न करेगा कोई,
हम दुखियों के पेट न हाय भरेगा कोई।

फूल-फूल कर फूल, फली फल खाने वाले,
व्यंजन, पाक, प्रसाद यथारुचि पाने वाले।
गोरस आदि अनेक पुष्ट रस पीने वाले,
हाय, हुये हम शाक, चनों पर जीने वाले।

घर में कुरते, कोट, सलूके सिल जाते हैं,
उजरत के दो-चार टके यों मिल जाते हैं।
जब कुछ पैसे हाथ शाम तक आ जाते हैं,
तब उन का सामान मँगा कर खा जाते हैं।

लड़के लकड़ी बीन-बीन कर ला देते हैं,
ईंधन-भर का काम अवश्य चला देते हैं।
वृद्ध चचा जल डोल घड़ों से भर देते हैं,
माँग-माँग कर छाछ, महेरी कर देते हैं।

ठाकुर जी का ठौर मँगेनू माँग लिया है,
छोटा-सा तिरपाल पुराना टाँग लिया है।
गूदड़ बोरे बेच उसारा छवा लिया है,
केवल कोठा एक दुबारा दबा लिया है।

छप्पर में बिन बाँस, घुने ऐरंड पड़े हैं,
बरतन का क्या काम, घड़ों के खंड पड़े हैं।
खाट कहाँ दस-बीस फटे-से टाट पड़े हैं,
चकिया की भिड़ फोड़ पटीले पाट पड़े हैं।

सरदी का प्रतियोग न उष्ण विलास मिलेगा,
गरमी का प्रतिकार न शीतल वास मिलेगा।
घेर रही बरसात न उत्तम ठौर मिलेगा,
हा, खँडहर को छोड़ वहाँ घर और मिलेगा!

बादल केहरि-नाद सुनाते बरस रहे हैं,
चहुँ दिस विद्युद्दश्य दौड़ते दरस रहे हैं।
निगल छत्त के छेद कीच जल छोड़ रहे हैं,
इन्द्रदेव गढ़ घोर प्रलय का तोड़ रहे हैं।

दिया जले किस भाँति तेल को दाम नहीं है,
अटके मच्छर-डाँस कहीं आराम नहीं है।
फिसल पड़े दीवार यहाँ सन्देह नहीं है,
कर दे पनियाँढाल नहीं तो मेह नहीं है।

बीत गयी अब रात महा तम दूर हुआ है,
संकट का कुल हाय न चकनाचूर हुआ है।
आज भयंकर रुद्र रूप उपवास हुआ है,
हा हम सब को घोर नरक में वास हुआ है।

निदाघ-निदर्शन

बीते दिन वसन्त ऋतु भागी, गरमी उग्र कोप कर जागी।
ऊपर भानु प्रचंड प्रतापी, भू पर भभके पावक पापी।
आतप-वात मिले रस-रूखे, झाबर-झील, सरोवर सूखे।
जिन पूरी नदियों में जल है, उन में भी काँदा-दलदल है।

नाथूरामशंकर शर्मा ('शंकर'

अवनी-तल में तीत नहीं है, हिमगिरि पे भी शीत नहीं है।
पूरा सुमन-विकास नहीं है, और लहलही घास नहीं है।
गरम-गरम आँधी आती है, भुलभुल बरसाती जाती है।
झाँखर, झाड़, रगड़ खाते हैं, आग लगे वन जल जाते हैं।

लपकें लट लू लहराती हैं, जल-तरंग सी थहराती है।
तृषित कुरंग वहाँ आते हैं, पर न बूँद वन की पाते हैं।
सूख गयी सुखदा हरियाली, हा, रसहीन रसा कर डाली।
कुतल जवासों के न जले हैं, फूल-फूल कर आक फले हैं।

पावक-बाण दिवाकर मारे, हा, बड़वानल फूँक-पजारे।
खौल उठे नद-सागर सारे, जलते हैं जलजन्तु विचारे।
भानु-कृपा न कढ़े वसुधा से, चन्द्र न शीतल करे सुधा से।
धूप हुताशन से क्या कम है, हाय, चाँदनी रात गरम है।

जंगल गरमी से गरमाया, मिलती कहीं न शीतल छाया।
घमस घुसी तरु-पुजों में भी, निकले भभक निकुंजों में भी।
सुन्दर वन, आराम घने हैं, परम रम्य प्रासाद बने हैं।
सब में उष्ण व्यार बहती है, घास घमस घेरे रहती है।

फलने को तरु फूल रहे हैं, पकने को फल झूल रहे हैं।
पर, जब घोर घर्म पाते हैं, सब के सब मुरझा जाते हैं।
हरि, मृग प्यासे पास खड़े हैं, भूले नकुल भुजंग पड़े हैं।
कंक, शचान, कबूतर, तोते, निरखे एक पेड़ पर सोते।

विधि यदि वापी, कूप न होते, तो क्या हम सब जीवन खोते।
पर पानी उन में भी कम है, अब क्या करें नाक में दम है।
कभी-कभी घन रुप जाता है, वृषारूढ़ रवि छिप जाता है।
जो जल बादल से झड़ता है, तो कुछ काल चैन पड़ता है।

हरित बेल, पौधे मनभाये, बैंगन, काशीफल, फल पाये।
ख़रबूजे, तरबूजे, ककड़ी, सब ने टाँग पित्त की पकड़ी।
इमली के विधु बाल कटारे, आम अपक्व लुकाट गुदारे,
सरस फ़ालसे श्यामल दाने, ये सब ने सुख-साधन जाने।

दीपक ज्योति जहाँ जगती है, चमक चंचला-सी लगती है।
व्याकुल हम न वहाँ जाते हैं, जा कर क्या कुछ कर पाते हैं।
ग्राम-ग्राम प्रत्येक नगर में, घूमें घोर ताप घर-घर में।
रुद्र रोष दिनकर के मारे, तड़प रहे नारी, नर सारे।

भीतर-बाहर से जलते हैं, अकुलाकर पंखे झलते हैं,
स्वेद बहे तन डूब रहे हैं, घबराते मन ऊब रहे हैं।
काल पड़ा नगरों में जल का, मोल मिले उष्णोदक नल का—
वह भी कुछ घंटों बिकता है, आगे तनक नहीं टिकता है।

* * *

जेठ जगत को जीत रहा है, काल-विदाहक बीत रहा है,
भभक भभूके मार रहे हैं, हाय-हाय हम हार रहे हैं।
पावक-बाण प्रचंड चले हैं, पंचराज भी बहुत जले हैं,
बादल को अवलोक रहे हैं, गरमी की गति रोक रहे हैं।

जब दिन पावस के आवेंगे, वारि-बलाहक बरसावेंगे।
तब गरमी नरमी पावेगी, कुछ तो ठंडक पड़ जावेगी।
भाट बने कालानल रवि का, ऐसा साहस है किस कवि का।
शंकर कविता हुई न पूरी, जलती-भुनती रही अधूरी।

सूर्य-ग्रहण

हे रजनीश, निरंकुश तूने दिन नायक का ग्रास किया,
नेक न धूप रही धरणी पै घोर तिमिर ने वास किया।

जिस को पाय चमकता था तू अधम, उसी को रोक रहा ,
धिक, पापिष्ठ कृतघ्न कलंकी तेज त्याग तम पास किया ।
मन्द हुआ सुन्दर मुख तेरा छिटकी छवि तारा-गण की ,
अपने आप जाति में अपना क्यों इतना उपहास किया ।
जुगुनू जाग उठे जंगल में दिये नगर में जलवाये ,
मूँद महा महिमा महान की अणु का तुच्छ विकास किया ।
मंगल मान निशाचर सारे चरते और विचरते हैं ,
दिन को रूप दिया रजनी का देव-समाज उदास किया ।
उष्ण प्रभा बिन वन-पुष्पों से सार सुगन्ध न कढ़ते हैं ,
रोक चाल नैसर्गिक विधि की, दिव्य हवन का ह्रास किया ।
चकित चकोर चाह के चेरे चिनगी चुगते फिरते हैं ,
मुख, पग पंख जलाने वाला ज्वलित चन्द्रिकाभास किया ।
श्वान, शृगाल, उलूक पुकारे, सकुचे कंज, कुमोद खिले ,
जोड़-तोड़ चकई-चकवों के, खण्डित प्रेम-विलास किया ।
दिन में चुगने वाली चिड़ियाँ हा, अब कहीं न उड़ती हैं ,
सब के उद्यम हरने वाला सिद्ध तामसिक त्रास किया ।
नाम सुधाकर है पर तेरी लघुता विष बरसाती है—
विरहानल को भड़काने का अतिनिन्दित अभ्यास किया ।
बढ़ बढ़ कर पूरा होता है घटता-घटता छिपता है ,
यों उन्नति, अवनति के द्वारा पक्ष-भेद प्रति मास किया ।
तेरी आड़ हटा कर निकली कोर प्रचण्ड प्रभाकर की ,
फिर दिन का दिन हो जावेगा, हट क्यों वृथा प्रयास किया ।
दिव्य उजाला दे कर तुझको परसों फिर चमकावेगा ,
कह दे कब सविता स्वामी ने श्रीहत अपना दास किया ।
शंकर के मस्तक पर तेरा अविचल वास बताते हैं ,
पौराणिक पुरुषों ने इस पर सदा अटल विश्वास किया ।

नख-शिख

कज्जल के कूट पर दीप-शिखा सोती है कि,
श्याम घन-मंडल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है कि,
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है।
शंकर कसौटी पर कंचन की लीक है कि,
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि,
ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है॥

तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी,
मंगल मयंक मन्द मन्द पड़ जायेंगे।
मीन बिना मारे मर जायँगे सरोवर में,
डूब-डूब शंकर सरोज सड़ जायेंगे॥
चौंक-चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायेंगे।
बोलो इन अँखियों की होड़ करने को अब,
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायेंगे॥

आँख से न आँख लड़ जाय इसी कारण से,
भिन्नता की भीत करतार ने लगायी है।
नाक में निवास करने को कुटी शंकर की,
छबि ने छपाकर की छाती पै छवायी है॥
कौन मान लेगा कीर तुंड की कठोरता में,
कोमलता तिल के प्रसून की समायी है।
सैकड़ों नुकीले कवि खोज-खोज हारे पर,
ऐसी नासिका की और उपमा न पायी है॥

उन्नत उरोज यदि युगल उमेश हैं, तो
काम ने भी देखो दो कमाने ताक तानी हैं।

शंकर कि, भारती के भावने भवन पर ,
मोह महाराज की पताका फहरानी है ।
किंवा लट नागिनी की साँवली सँपेलियों ने ,
आधे विधु-बिम्ब पै विलास-विधि ठानी है ।
काटती है कामियों को काटती रहेंगी कहो ,
भृकुटी कटारियों का कैसा कड़ा पानी है ।

अम्बर में एक यहाँ दोज के सुधाकर दो ,
छोड़े वसुधा प सुधा मन्द मुसकान की ।
फूले कोकनद में कुमुदनी के फूल खिले ,
देखिये विचित्र दया भानु भगवान की ।
कोमल प्रवाल के से पल्लवों पै लाखा लाल ,
लाखे पर लालिमा विलास करे पान की ।
आज इन ओठों का सुरंगी रस पान कर ,
कविता रसीली भयी शंकर सुजान की ।

उन्नति के मूल ऊँचे पर अवनीतल पै
मन्दिर मनोहर मनोज के यमल है ।
मेल के मनोरथ मथेंगे प्रेम-सागर को ,
साधन उतंग युग मन्दर अचल है ।।
उद्धत उमंग भरे यौवन खिलाड़ी के ये ,
शंकर से गोल कड़े कन्दुक युगल हैं ।
तीनों मत रूखे रसहीन हैं उरोज पीन ,
सुन्दर शरीर सुर-पादप के फल हैं ।।

——

काल का वार्षिक विलास

सविता के सब ओर मही माता चकराती है ,
घूम-घूम दिन, रात, महीना, वर्ष बनाती है ,

कल्प लौं अन्त न आता है।
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है।

छोड़ छदन प्राचीन, नये दल वृक्षों ने धारे,
देख विनाश, विकाश, रूप, रूपक न्यारे-न्यारे,
दुरंगी चैत दिखाता है,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है।

सूख गये सब खेत सुखा दी सारी हरियाली,
गहरी तीत निचोड़ मेदिनी रूखी कर डाली,
धूल वैशाख उड़ाता है।
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है।

झील, सरोवर फूँक, पजारे नदियों के सोते,
व्याकुल फिरें कुरंग प्राण मृगतृष्णा पै खोते,
जलों को जेठ जलाता है,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है।

दामिनि को दमकाय दहाड़े धाराधर धाये,
मारुत ने झकझोर झुकाये झूमे झर लाये।
लगी आषाढ़ बुझाता है,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है।

गुल्म, लता, तरु-पुंज अनूठे दृश्य दिखाते हैं,
बरसे मेह विहंग विलासी मंगल गाते हैं,
झुलाता श्रावण भाता है,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है।

उपजे जन्तु अनेक झिलारे झील, नदी, नाले,
भेद मिटा दिन-रात एक-से दोनों कर डाले,

मघा भादों बरसाता है ,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ।

फूल गये सर काँस बुढ़ापा पावस पै छाया ,
खिलने लगी कपास शीत का शत्रु हाथ आया ,
कृषी को क्वार पकाता है ,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ।

शुद्ध हुए जल-वायु, खुला आकाश, खिले तारे ,
बोये विविध अनाज, उगे अंकुर प्यारे-प्यारे ,
दिवाली कातिक लाता है ,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ।

शीतल बहे समीर, सभी को शीत सताता है ,
हायन-भर का भेद जिसे दैवश बताता है ,
अग्रहायन से पाता है ,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ।

टपके ओस तुषार पड़े, जम जाता है पानी ,
कट-कट बाजें दाँत मरी जल-शूरों की नानी ,
पुजारी पोष न न्हाता है ,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ।

हुआ मकर का अन्त, घटी सरदी, अम्बा बौरे ,
विकसे सुन्दर फूल अरुण, नीले, पीले, धौरे ,
माघ मधु को जन्माता है ,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ।

खेत पके अब आँख ईश ने उन्नति की खोली ,
अन्न मिला भरपूर प्रजा के मन मानी होली ,

फल्गुन फाग खिलाता है ,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ।

विधु से इन का अब्द बड़ाई इतनी लेता है ,
जिस का तिगुना मान मास पूरा कर देता है ,
वही तो लोंद कहाता है ,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ।

किया न प्रभु से मेल, करेगा क्या मन के चीते ,
अबलों बावन वर्ष वृथा शंकर तेरे बीते ,
न पापों पै पछताता है ,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ।

रुबाई

बुढ़ापा नात वानी ला रहा है
ज़माना जिन्दगी का जा रहा है ।
किया क्या ख़ाक ? आगे क्या करेगा ?
आख़िरी वक्त दौड़ा आ रहा है ।

आनन्दोद्‌गार

सिज में नट राज ला चुका है ,
उस नाटक में नचा चुका है ।
जिस के अनुसार खेल खेले ,
वह शैशव दूर जा चुका है ।

नाथूरामशंकर शर्मा ('शंकर')

उस यौवन का न खोज पाता,
अपना रस जो चखा चुका है।
तन-पंजर हो गया पुराना,
मन मौज नवीन पा चुका है।
अब शीकर सिन्धु में मिलेगा,
शुभ काल समीप आ चुका है।
शिव शंकर का मिलाप होगा,
दिन अन्तर के बिता चुका है।

श्रीधर पाठक

शान्ति

ओ आ जा आ जा, शान्ति ! शक्तिदा, आ जा
चर-अचर-विश्व-अभ्रान्त-भक्तिदा, आ जा ।

जग-हृदय-पटल पर आशु अटल पद पा जा ,
सुर-नर-समाज में, सदय, सप्रेम समा जा ,
भ्रम-भूल, निपट जग-भूल, भूल बहुधा जा ,
कृत यदा-कदा त्रुटि-काज सदा बरका जा ।
द्रुत-दुरित-द्वेष-भव-क्लेश-मुक्तिदा, आ जा ,
ओ आ जा आ जा, शान्ति ! शक्तिदा, आ जा ।

ह्री-श्री-शोभिनि, शुचि-प्रेम-अम्बुदा, आ जा ,
प्रिय-त्रिजग-अम्ब, त्रिभुवन-वशंवदा, आ जा ,
जग-संजीवनि, अग-जग प्रलम्बदा, आ जा ,
जग-सजग-ज्योति, जग-सुखद-संविदा, आ जा ।
भूलोक-स्वर्ग-संयोग-युक्तिदा, आ जा ,
ओ आ जा आ जा, शान्ति ! शक्तिदा, आ जा ।

विज्ञान-ज्ञान-आनन्द अमृतदा, आ जा ,
सर्वत्र-सुकृत-सम्मान-सुमतिदा, आ जा ,
बुध-सन्त-रमनि, सुख-सवनि, भुवन-मनि, आ जा ,
अविरत-अखंड-ब्रह्मांड-धमनि-ध्वनि, आ जा ।
अधिकृत-अशेष-उपभोग-भुक्तिदा, आ जा ,
ओ आ जा आ जा, शान्ति ! शक्तिदा, आ जा ।

भू-व्योम-सोम-रवि-रोम-रोम में छा जा ,
अणिमादि-मयी, ओ अणु-अणु बीच अमा जा ,
महिमा-महि-पोहिनि, मोह-अपोहिनि, आ जा ।
सुखमा-सुख-दोहिनि-विश्वविमोहिनि आ, जा ।
बस-कारिणि, ओ रस-ओक-उक्तिदा, आ जा ,
ओ आ जा आ जा, शान्ति ! शक्तिदा, आ जा ।

हेमन्त

बीता कातिक मास शरद का अन्त है ,
लगा सकल-सुख-दायक ऋतु हेमन्त है ।
ज्वार बाजरा आदि कभी के कट गये ,
खल्यान के काम से किसान निबट गये ।
थोड़े दिन को बैल परिश्रम से थमे ,
रब्बी के लहलहे नये अंकुर जमे ।
ज़मींदार को मिली उगाही खेत की ,
मूल ब्याज सब देन महाजन की चुकी ।
खाने भर को जिस किसान को बच रहा
उस के घर आनन्द हर्ष सुख मच रहा ।
जिन को कुछ नहिं बचा, करम को टो रहे—
किस्मत को दे दोष बैठ घर रो रहे ।
ख़रीफ़ के खेतों में अब सुनसान है ,
रब्बी के ऊपर किसान का ध्यान है ।
जहाँ-तहाँ पर रहँट-परोहे चल रहे
बरहे जल के चारों ओर निकल रहे ।
जौ-गेहूँ के खेत, सरस सरसों घनी ,
दिन-दिन बढ़ने लगी विपुल सोभा सनी ।

सुघर सौंफ सुन्दर कसूम की क्यारियाँ,
सोआ, पालक, आदि विविध तरकारियाँ,
अपने-अपने ठौर सभी ये सोहते,
सुन्दर सोभा से सब का मन मोहते।
बढ़ा कातिकी चीज़ों का व्यौपार है,
रुई का रुज़गार गरम बाज़ार है।
दिन-दिन सरदी बढ़, धूप की चाह है,
ग़रीब-गुरबा का जिस से निर्वाह है।
रात बड़ी और दिन छोटे होने लगे
बन्द गरम कोठों में सब सोने लगे।
लोगों के कपड़ों का बदला रंग है,
तरह-तरह का काट निराला ढंग है;
सौड़ रज़ाई, फ़र्द, गलेफ़, लिहाफ़ है—
गलेबन्द, अम्मामा, लुंगी साफ़ है।
शाल, दुशालों का होता बर्ताव है,
नये-नये वस्त्रों का सब को चाव है।
चपकन, ओवरकोट, कोट, पतलून है,
फ़ैशन पर लग रही हर जगह दून है।
गली-गली आग़ा अफ़ग़ानी डोलते,
मेवा औ हींग से तराजू तोलते।
लगे पारसी तथा सरकसी आवने,
बड़े-बड़े शहरों में खेल मचावने।
चारों ओर विवाह आदि की धूम है,
रात-रात भर चढ़े बरात, हुजूम है।
नव जोवन वालों पर आया रंग है,
अंग अंग में भरी अनंग-उमंग है।
बालाओं को पिया-मिलन की चाह है,
गले लिपट कर सोने का उत्साह है।
सुखी सुहागिन करें कन्त संग केलियाँ
जीवन की सुख सुधा पियें अलबेलियाँ।

दुखी बाल-विधवाओं की जो है गती ,
कौन सके बतला किस की इतनी मती ?
जिन्हें जगत की सब बातों से आन है ,
दुख, सुख, मरना, जीना एक समान है ,
जिन को जीते जी दी गयी तिलांजली
उन की कुछ हो दशा किसी को क्या पड़ी !
लगा दिसम्बर मास, बड़ा दिन पास है
आ पहुँचा त्यौहार निकट 'क्रिस्मास' है ।
बाजारों में मची, बड़ी एक धूम है—
सभी तरफ़ को छाया हुआ हुजूम है ।
साहब लोगों के घर जाती डालियाँ—
फल मेवा से भरीं खचाखच थालियाँ ,
ईसाईगन फिरें मगन, मन-मोद में ,
सुख से समय बितावें विविध विनोद में ।
करें घरों में उत्सव की तैयारियाँ
बना-बना कर सुन्दर बन्दनवारियाँ ,
फूल-माल के जाल अनूठी चाल के ,
ललित पताका-पंक्ति रचें रंग लाल के ।
भाँति-भाँति के नाच-रंग बहु ढंग के
कर-कर करें कलोल उमंग-उमंग के ।
आश्रम बद्रीनाथ बन्द जाना हुआ—
पहाड़ पर से उतर तले आना हुआ ।
शिमला, नैनीताल, आदि रीते हुए ,
'हिल सीज़न' के मास गये बीते हुए ।
अफ़सर लोगों के दौरे होने लगे ,
भाग ऊँट और छकड़े वालों के जगे ।
पड़ने लगा तुषार, बरफ़ गिरने लगी ,
अद्‌भुत शोभा के कौतुक करने लगी ।
इस की शोभा को जो देखा चाहिए
चले हिमालय के पर्वत में जाइये ।

घर, दर, दीवारों पर, बन के पेड़ पर ,
खेतों, बागों में, औ उन की मेंड़ पर ,
जम कर धरती वहाँ अनेकों आकृती ,
दृश्य बनाती विविध विलक्षण प्राकृती ।
ह्वाँ से उत्तर ओर दृष्टि जो कीजिए ,
अकथनीय छबि-अवलोकन-सुख लीजिए ।
स्वच्छ स्वेत हिमयुक्त हिमाचल-चोटियाँ
रजतमयी कैलास शिखर की जोटियाँ ।
चमक रहीं चहुँ ओर अतुल छवि छाजतीं ,
भारत-सुजस-समूह समान विराजतीं ।
विस्तृ त जो बहु दूर धवल पर्वत-थली ,
मानो भारत-भाल भस्म उज्ज्वल मली ,
अथवा मुनि-जन-पुण्य-पुंज की ये निधी
धर्म-कर्म की रहे जहाँ रक्षित विधी ।
किंवा उज्ज्वल-ज्योति विमल मोती-जड़ीं
हैं ये नृप-हेमन्त-चरण-चौकी पड़ीं ।
अहो धन्य हेमन्त, अनोखे बहुगुनी ,
ऋतुओं के सरदार बड़े बाँके धनी ,
तेरी शोभा सुघर कहाँ लौं गाइये—
करनी शुभ करतूत अनेक सुनाइये ।
ख्यात जगत में ऋतु वसन्त 'ऋतुराज' है ,
किन्तु नहीं, तू ही सब का सरताज है ।
जो सुख जो उपकार जगत में तू करै
उस का आधा भी औरों से ना सरै ।
हो तू सब को सुखद सकल संसार में ,
सुख-पूरित अद्भुत अचरज आगार में ।
जिस से मिल कर इस जीवन व्यापार में
बर्तें मनुज समाज परस्पर प्यार में ।

मैना

सुन सुन री प्यारी ओ मैना !
ज़रा सुना तो मीठे बैना ।
काले पर, काले तेरे डैना ,
पीली चोंच, कटीले नैना ;
स्याम बरन कोयल तेरी भैना
यद्यपि तेरी तरह पढ़ै ना ।
पर्वत से पकड़ी तू आयी ,
जगह बन्द पिंजड़े में पायी ;
बानी विविध भाँति की बोलै ,
चंचल पग पिंजड़े में डोले ,
उड़ जाने की राह न पावै ,
अचरज में आ कर घबरावै ।
विस्तृत बन में मा ने पाली ,
मनुष्य ने बन्दी में डाली ;
ज़रा मधुर हरिनाम सुना दे—
कलित-कंठ कोमल पद गा दे !

मोर

अहो सलोने मोर पंख अति सुन्दर तेरे ,
रंगित चन्दा लगे गोल अनमोल घनेरे ।
हरा, सुनहला, चटकीला, नीला रंग सोहै ,
रेशम के सम मृदुल बुनावट मन को मोहै ।
सिर पर सुघर किरीट, नील कलकंठ सुहावै ,
पंख उठा कर नाच तेरा अति जी को भावै ।
'केका' कर के विदित श्रवण-प्रिय तेरी बानी ,
ज़रा सुना तो सही वही हम को रस-सानी ।

बादल जब दल बाँध गगन-तल पर घिर आवैं ,
स्याम घटा की छटा सकल थल पर छा जावै ,
तब तू हो मद-मत्त मेघ को नृत्य दिखावै ,
अति प्रमोद मन आन हर्ष के अश्रु बहावै ।
ऐसा अपना नाच दिखा हम को भी प्यारे ,
जिसे देख हे मोर मोद मन होय हमारे ।

धन जननी धन कोख वह

क्या ऐसे नर नारि भी जग में हैं शोभित ,
जिन का जीवन-लक्ष्य हो केवल एक पर हित ,
सब के सुख में जो स्वयं सच्चा सुख पावैं ,
दुखियों का दुख देख के विलखें दुखियावैं !
जग के हित के उदय में जिन का हिय हरसै ,
जिन के हितमय हृदय में हित ही हित सरसै ,
क्रिया, कामना, कल्पना, जग को अपनावैं ,
निज-सुख पर-सुख-सिन्धु में अवगाह मिलावैं !
पर-हित-साधन-लीन हो निजता बिसरावैं ,
निज-पर-द्वन्द्वी-भाव को जड़ मूल मिटावैं ,
जन-समाज सुख-साज में तन-मन-धन वारैं ,
हो तत्पर पर-काज में निज जन्म सुधारैं !
क्लेश-द्वेष का शेष कर विश्वास बढ़ावैं ,
विश्व मात्र पे स्नेह का रस रंग चढ़ावैं ,
असत अविद्या अस्त कर सत बोध विकासैं ,
घर-घर गुण-गण-ज्ञान का मणि-दीप प्रकाशैं !
ईश्वर के ऐश्वर्य की महिमा विस्तारैं ,
उस के चरण-सरोज में दृढ़ प्रेम प्रचारैं ,

जिनके वचन-विचार-गण, निर्दूषण निर्भय ,
जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति भी पर-हित चिन्तनमय !
जन्म, अहो ! जिस कुक्षि से ऐसे जन पावैं
धन जननी धन कोख वह, त्रिभुवन जस गावैं ।

वीरभोग्या वसुन्धरा

प्रथित पुरातन नाम भूमि का वसुन्धरा है
क्योंकि विश्व-भर का इस में सर्वस्व भरा है ।
उसका परम पुनीत अंग प्रिय भरत देश है
जिस में वसुधा के सर्वस का समावेश है ।
उस सर्वस के उपभोग के अधिकारी हैं हम सभी ,
इस वसुन्धरा के वीर सुत बलधारी हैं हम सभी ।

देश गीत

जय जय प्यारा भारत-देश !

जय जय प्यारा, जग से न्यारा ,
शोभित सारा देश हमारा ,
जगत-मुकुट, जगदीश-दुलारा ,
जग-सौभाग्य, सुदेश !
जय जय प्यारा भारत-देश !

प्यारा देश, जय देशेश ,
अजय अशेष, सदय विशेष ,
जहाँ न सम्भव अघ का लेश ,

सम्भव केवल पुण्य-प्रवेश !
जय जय प्यारा भारत-देश !

स्वर्गिक शीश-फूल पृथिवी का ,
प्रेम-मूल, प्रिय लोकत्रयी का ,
सुललित प्रकृति-नटी का टीका ,
ज्यों निशि का राकेश ।
जय जय प्यारा भारत-देश !

जय जय शुभ्र हिमाचल-शृंगा ,
कल-रव-निरत कलोलिनि गंगा ;
भानु-प्रताप-चमत्कृत अंगा
तेज-पुंज तप-वेश ।
जय जय प्यारा भारत देश !

जग में कोटि-कोटि जुग जीवै ,
जीवन-सुलभ अमी-रस पीवै ,
सुखद वितान सुकृत का सीवै ,
रहै स्वतन्त्र हमेश ।
जय जय प्यारा भारत-देश !

——

बलि-बलि जाऊँ

१

भारत पै सैयाँ मैं बलि-बलि जाऊँ ।

बलि-बलि जाऊँ हियरा लगाऊँ ,
हरवा बनाऊँ घरवा सजाऊँ ,

मेरे जियरवा का, तन का, जिगरवा का,
मन का, मदिरवा का प्यारा बसैया—
मैं बलि-बलि जाऊँ।
भारत पै सैयाँ मैं बलि-बलि जाऊँ।

भोली-भोली बतियाँ, साँवली सुरतिया,
काली-काली ज़ुल्फ़ों वाली मोहनी मुरतिया,
मेरे नगरवा का, मेरे डगरवा का,
मेरे अँगनवा का, क्वारा कन्हैया—
मैं बलि-बलि जाऊँ।
भारत प सैयाँ मैं बलि-बलि जाऊँ।

२

भारत पियरवा पै बलि-बलि जाऊँ।

बलि-बलि जाऊँ गरवा लगाऊँ,
फुलवा मँगाऊँ गजरा गुँथाऊँ,
नीकी नजरिया पै, जी पै, जिगरवा पै,
सिजिया बिछाऊँ सजाऊँ सिंगरवा
मैं बलि-बलि जाऊँ
प्यारे लँगरवा पै बलि-बलि जाऊँ।
भारत पियरवा पै बलि-बलि जाऊँ।

साँवली सुरतिया, मोहनी मुरतिया,
लागी पिरितिया, दिन और रतिया,
बाँका रँगीला-सा, छैला छबीला-सा,
फिरे अलबेला-सा दिल के दगरवा—
मै बलि-बलि जाऊँ।
प्यारे लँगरवा पै बलि-बलि जाऊँ,
भारत पियरवा पै बलि-बलि जाऊँ।

३

मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ,
गुइयाँ मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ।

भारत है मेरा प्राणों का प्यारा,
दिल का दुलारा, जीवन-अधारा,
उस पे तन मन को वारूँ उस पै त्रिभुवन को हारूँ,
उस को पलकों पें धारूँ उस को दिल पै बैठारूँ,
मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ,
गुइयाँ मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ।

भारत है मेरा कुँवर कन्हैया,
बन-बन में मेरी चराता है गैया,
उस को बन से बुलाऊँ उसको माखन खिलाऊँ,
उस से बंसी बजवाऊँ अपने अँगना नचाऊँ,
मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ,
गुइयाँ मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ।

भारत है मेरा प्यारा ललनवा,
करता कलोलें (मेरे) दिल के पलनवा,
उस को गोदिया उठाऊँ उस के कजरा लगाऊँ,
उस को मल-मल न्हिलाऊँ उसको अँचरा पिलाऊँ,
मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ,
गुइयाँ मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ।

भारत है मेरा दुनिया से न्यारा,
मेरी बलन्दी, मेरा सितारा,
उस पै दिठिया लगाऊँ, उस से रोशन हो जाऊँ,
मैं तो उसमें समाऊँ, अपना आपा भुलाऊँ,

मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ,
गुइयाँ मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ।

प्रेम अपनों ही पर कर रे

प्रेम अपनों ही पर कर रे
तू ऐ मेरे मन मान, प्रेम अपनों ही पर कर रे।

अपनों का कर बार-बार धर,
अपनों का घर बार-बार भर,
अपनों से डर बार-बार, अपनों ही पर मर रे।
प्रेम अपनों ही पर कर रे।

अपनों ने अपने पहचाने,
बढ़ा अपनपा हुए दिवाने,
अपनों-सा नहिं कोई आन, अपनों ही को बर रे।
प्रेम अपनों ही पर कर रे।

अपने ही सब गुन की खान हैं,
अपने ही प्रानों के प्रान हैं
अपनों का कर गान, तान अपनों ही पर भर रे।
प्रेम अपनों ही पर कर रे।

अपना मोल

मन तू जान अपना मोल।
आँच में तप साँच की, तब जाँच, तब कर तोल।

खोल कर अंदाज कर, खुद बार-बार टटोल,
देख तो सब ठोस है, या ढोल में है पोल।
मन तू जान अपना मोल।

मोल अपना जान यों, पर मान है अनमोल,
हानि इस अनमोल की जो सह सके तो बोल।
मन तू जान अपना मोल।

सावधानी

तू प्यारे कहना मान, अभी मत चल रे।

गहरा दरिया, नाव पुरानी,
चल रहा अंधड़, चढ़ रहा पानी,
औघट घाट, थाह अनजानी
केवट कर रहा आना-कानी;
मत होवे नादान, ज़िद्द से टल रे।

थका हुआ है, कुछ सुस्ता ले,
पता पार का कुछ पुछवा ले,
अपना बेड़ा आप बना ले,
क्यों पड़ता ग़ैरों के पाले,
होगा जल्द उतार आज या कल रे।

तू प्यारे कहना मान, अभी मत चल रे।

मनूजी

मनूजी तुमने यह क्या किया ?
किसी को पौन, किसी को पूरा, किसी को आधा दिया !

सरस प्रीति के थल में बोया बिस-अनीति का बिया ,
लुब्ध पाप का, क्षुब्ध शाप का स्यापा सिर पर लिया !
मनूजी तुमने यह क्या किया ?

और अधिक क्या कहैं बाप जी, कहते दुखता हिया—
जटिल जाति का, अटल पात का, जाल है किस का सिया ?
मनूजी तुमने यह क्या किया !

बिछड़ने-वाले

बिछड़ने वाले यों बिछड़े, पिछड़ने वाले यों पिछड़े ।

हमें है सारा क़िस्सा याद, पुराना सुना हुआ संवाद ,
भरे हैं उस से वेद पुरान, करैं हैं सभी गुनी जन गान ,
ध्यान दो करके कान खड़े ।
बिछड़ने वाले यों बिछड़े, पिछड़ने वाले यों पिछड़े ।

हमारा प्यारा हिन्दुस्तान, पुराना है आर्यों का स्थान ,
कभी था जग में यही प्रधान, कहैं हैं ऐसा सभी सुजान ,
जगत में थे वह आर्य बड़े ।
बिछड़ने वाले यों बिछड़े, पिछड़ने वाले यों पिछड़े ।

प्रेम का था यह आदि निवास, सभ्यता, विद्या का घर खास ,
प्राप्त था सब सुख विना प्रयास, व्याप्त था विक्रम विभव विकास ,

द्रोह के पथ में नहीं पड़े ।
बिछड़ने वाले यों बिछड़े, पिछड़ने वाले यों पिछड़े ।

सोम-रस का करते थे पान, साम-पद का करते थे गान ,
होम और यज्ञों की थी बान, सत्त्व और स्वत्वों का था मान ,
कृत्य पर बीसों बार लड़े ।
बिछड़ने वाले यों बिछड़े, पिछड़ने वाले यों पिछड़े ।

उन्होंने लेकिन यह क्या किया, किये पर एकदम चौका दिया ,
सोम-रस छाँड़ द्रोह-मद पिया, प्रेम का गला घोट बिस दिया ,
गिरे हो औंधे खोद गढ़े ।
बिछड़ने वाले यों बिछड़े, पिछड़ने वाले यों पिछड़े ।

शीघ्र ही बढ़ा देश का क्लेश, बदल गयी सूरत बिगड़ा वेश ,
मेल का नाम हुआ निश्शेष, फूट का धाम हो चला देश ,
पुण्य के फिसल पाँव पिछड़े ।
बिछड़ने वाले यों बिछड़े, पिछड़ने वाले यों पिछड़े ।

मोद का मेला टूट गया, प्रीति का पैंदा फूट गया ,
एक दम विधना रूठ गया, क़ौम का पौधा ठूँठ भया ;
जो मिलने वाले थे बिछड़े, जो चलने वाले थे पिछड़े ,
जो उठने वाले थे उखड़े, जो बनने वाले थे बिगड़े ।
बिछड़ने वाले यों बिछड़े, पिछड़ने वाले यों पिछड़े ।

परिवर्तन-तत्त्व

परिवर्तन-रत जयति सतत संसार सत्य-मय ,
सुन्दर सरल सुढाल सुगम सुविधा-सुकृत्य-मय ।

परिवर्तन है प्राण प्रकृति के अविकल क्रम का ,
परिवर्तन-क्रम-ज्ञान मर्म है निगमागम का ।
परिवर्तन है हीर सृष्टि के सौंदर्यों का ,
परिवर्तन है बीज विश्व के आश्चर्यों का ।
निभ सकता नहिं प्रकृत धर्म-क्रम परिवर्तन बिन ,
चल सकता नहिं प्रगति-कर्म-क्रम परिवर्तन बिन ।
परिवर्तन का अतः अरे मत कर अवहेलन ,
लख ले उस का सुघर स्व-सत्ता से शुचि मेलन ।
पाय तत्व का ज्ञान तथ्य को स्वीय बना ले—
परिवर्तन-आदर्श आशुता से अपना ले ।

भ्रमर गीत

भ्रमर तुम बन-बन भ्रमण करौ ।
सकल सुरम्य सुख-स्थलियों में रुचियुत रमण करौ ।

विटप-विटप पर प्रचुर प्रेम का परिचय दे बिचरौ ,
पुष्कल पुष्ट पुष्प मधु पी-पी पथ-श्रम-खेद हरौ ।
भ्रमर तुम बन-बन भ्रमण करौ ।

कुंज-कुंज में जाय प्रेम की मंजुल गुंज भरौ ,
प्रेम-पुंज-संजनित मंजु-श्री तरु-तरु प्रति बितरौ ।
भ्रमर तुम बन-बन भ्रमण करौ ।

मृदु मंजरियों के अंचल पर चंचल पग न धरौ ,
मृत पंखड़ियों के पंजर प्रति प्रणमन मत बिसरौ ।
भ्रमर तुम बन-बन भ्रमण करौ ।

अ-नत, अ-तन्त्र, लता-गुल्मों में उन्नत हो न अड़ौ,
सु-नत, सु-तन्त्र, सुमन-ततियों की रति में अति न पड़ौ।
भ्रमर तुम बन-बन भ्रमण करौ।

बिहरौ निज-परता-विवाद की विपदा से न डरौ,
गुंज-गुंज में मसृण मंजु रव 'नारायण' उचरौ।
भ्रमर तुम बन-बन भ्रमण करौ।

विज्ञान-मंगल

जग का जिसने घटाटोप-तम प्रथम हटाया,
मानव कुल-अभिलषित, सुलभ, सुख-पथ प्रगटाया,
रज से कंचन-रजत-रत्न-परिवर्त दिखाया,
विद्या-बल-आनन्द-अमृत-फल स्वादु चखाया,
रस, राग, रंग, रुचि, आदि का जो आदिम आधार है,
उस भारतीय विज्ञान का जग भर पर ऋण-भार है।

जिसने सबसे प्रथम सृष्टि के क्रम को जाँचा,
जाँच-जन्त्र का रचा प्रथम ही अद्भुत ढाँचा,
जिस के सम्मुख साँच लाज तज निर्भय नाँचा,
ऊँचे स्वर सद्ग्रन्थ गूढ़-गाथा का बाँचा।
जिसने स्व-साँच की आँच से जगती-तल दीपित किया,
उस भारतीय विज्ञान का ध्यान करै हर्षित हिया।

*　　*　　*　　*

उठता है एक प्रश्न जगत से पहले क्या था,
जब तक दृश्य-प्रपंच कहीं कुछ नहीं बना था,
यह सुदृश्य, आकाश-भूमिमय था कि नहीं था,
चारु चराचर सृष्टि-समुच्चय था कि नहीं था?

यह कह सकता है कौन नर, किसको इतना ज्ञान है,
पर वर्द्धमान विज्ञान से सम्भव कुछ अनुमान है !

* * * *

ब्रह्म-लोक जिस को कहते हैं, कहो, कहाँ है ?
अमर-ओक किस को कहते हैं, अहो, कहाँ है ?
सुख का क्या है रूप, सुखद संसर्ग कहाँ है ?
त्यों सुकृत्य-फल, आनन्द-स्थल, स्वर्ग कहाँ है ?
क्या इन बातों का ज्ञान भी मिलता है विज्ञान से ?
क्यों नहीं, प्राप्य है क्या नहीं पूरन अनुसन्धान से ?

सान्ध्य-अटन

विजन वन प्रान्त था,
प्रकृति-मुख शान्त था,
अटन का समय था,
रजनि का उदय था :
प्रसव के काल की लालिमा में लिहसा,
बाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा ।

सद्य उत्फुल्ल-अरविन्द-नभ
नील सुविशाल नभ-वक्ष पर जा रहा था चढ़ा
दिव्य दिङ्नारि की गोद का लाल-सा
या प्रखर भूख की यातना से प्रहित
पारणा-रक्त-रस-लिप्सु,
अन्वेषणा-युक्त या क्रीड़नासक्त, मृगराज-शिशु
या अतिव क्रोध-संतप्त जर्मन्य नृप-सा, किया
अभ्र-बैलून-उर में छिपा
इन्द्र, या इन्द्र का छत्र, या ताज, या

स्वर्ग्य गजराज के भाल का साज, या
कर्ण उत्ताल, या स्वर्ण का थाल-सा।
कभी यह भाव था, कभी वह भाव था;
देखने का चढ़ा चित्त में चाव था।

विजन वन शान्त था,
चित्त अभ्रान्त था,
रजनि-आनन अधिक
हो रहा कान्त था:

स्थान-उत्थान के सात ही चन्द्र-मुख भी
समुज्वल लगै था अधिकतर भला।

उस विमल बिम्ब से अनति ही दूर, उस
समय एक व्योम में बिन्दु-सा लख पड़ा,
स्याह था रंग कुछ गोल गति डोलता,
किया अति रंग में भंग उसने खड़ा;
उतरते-उतरते आ रहा था उधर
जिधर को शून्य सुनसान थल था पड़ा;
आम के पेड़ से थी जहाँ दीखती
प्रेम-आलिंगिता मालती की लता।

बस, उसी वृक्ष के सीस की ओर कुछ
खड़खड़ाकार एक शब्द-सा सुन पड़ा,
साथ ही पंख की फड़फड़ाहट, तथा
शत्रु निःशंक की कड़कड़ाहट, तथा
पक्षियों में पड़ी हड़बड़ाहट, तथा
कंठ औ चोंच की चड़चड़ाहट, तथा
आर्त्ति-युत कातर-स्वर, तथा शीघ्रता-युत उड़ाहट-भरा

दृश्य इस दिव्य-छवि-लुब्ध-दृग-युग्म को
घृणित अति दिख पड़ा ।
चित्त अति चकित, अत्यन्त दुःखित हुआ ।

सुसन्देश

कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमंजु वीणा बजा रही है ।
सुरों के संगीत की-सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है ।
हरेक स्वर में नवीनता है, हरेक पद में प्रवीनता है,
निराली लय है औ लीनता है, अलाप अद्भुत मिला रही है ।
अलक्ष्य पर्दों से गत सुनाती, तरल तरानों से मन लुभाती,
अनूठे अटपट स्वरों में स्वर्गिक सुधा की धारा बहा रही है ।
कोई पुरन्दर की किंकरी है कि या किसी सुर की सुन्दरी है,
वियोग-तप्ता-सी भोग-मुक्ता हृदय के उद्गार गा रही है ।
कभी नयी तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन कभी विनय है,
दया है, दाक्षिण्य का उदय है, अनेकों बानक बना रही है ।
भरे गगन में हैं जितने तारे हुए हैं मदमस्त गत पै सारे,
समस्त ब्रह्मांड भर को मानों दो उँगलियों पर नचा रही है ।
सुनो तो सुनने की शक्ति वालो सको तो जा कर के कुछ पता लो।
है कौन जोगन ये जो गगन में कि इतनी चुलबुल मचा रही है ।

राय देवीप्रसाद ('पूर्ण')

अमलतास

छबीले अमलतास तरु-जाल, तुम्हारे दरसीले अभिराम
रँगीले पीले सुमन-समूह, धूप काले में भी छवि-धाम ।
देख, कुछ रोचक नये विचार, हृदय में उदय हुए दो-चार ,
उन्हीं का है यह आविर्भाव, रसिक प्रति प्रीति-पूर्ण उपहार ।

वाटिका-विपिन-नासिका-रूप सघन किंशुक प्रसून परिवार ,
कमल, गेंदा, गुलाब, कचनार, विमल सेमल, अनार, गुलनार
लालिमा से जिन की यह भूमि, बनी अनुराग-समुद्र अपार ,
उन्हें यह भीष्म ग्रीष्म की आज, किये देती है ज्वाला क्षार ।

सेवती, जाही, जुही, अगस्त, चाँदनी, कुमुद, चमेली-फूल ,
मोगरा, बेला, विशद कनैर, निवारी फुलवारी-छवि-मूल—
सभी की परिमल निर्मल कान्ति, हुई निर्मूल मलिनता संग ,
जगत के पादप सभी निदान, किये इस आतप ने बदरंग ।

धन्य पर तुझ को वारंवार, चिरंजीवी द्रुम सुखमागार ,
चंडकर-किरण प्रचंड अखंड, हुई तव हेतु चन्द्रिका-सार ।
नहीं यद्यपि सिंचन-सुविधान, अकिंचन के धन हैं भगवन्त ;
पीत फूलों से तेरे, मीत, बीत कर दरसै पुनः वसन्त ।

देख तव वैभव, द्रुम-कुल-सन्त ! विचारा उस का सुखद निदान ;
करै जो विषम काल को मन्द, गया उस सामग्री पर ध्यान ।
रँगा निज प्रभु ऋतुपति के संग, द्रुमों में अमलतास तू भक्त ,
इसी कारण निदाघ प्रतिकूल, दहन में तेरे रहा अशक्त ।

———

वसन्त-वियोग

संवत् क्या था, इस का कुछ भी नहीं विवेक ,
देश समझ लो मृत्युलोक में कोई एक ।
किसी पान्थ का एक मनोहर कुसुमाकर में हुआ प्रवेश ,
जिस की छवि पर एक बार तो विवश मुग्ध होता अलकेश ।

थे जो उस के वासी सज्जन मालाकार ,
किया सहित सत्कार पथी का स्वागतकार ।
अभ्यागत को स्वागत देना सेवा के दरसाना भाव ,
थी उन लोगों की परिपाटी था सुनीति से सदा बनाव ।

लम्बा-चौड़ा था अनेक योजन आराम ,
अगणित कुंजें थीं अन्तर्गत शोभा-धाम ।
उन में ही से एक कुंज में लगा पथिक करने आराम ,
प्राकृत छवि से था वह आवृत आगे-पीछे, दक्षिण-वाम ।

सुन्दर वृक्ष तुंगवर उस में थे छविसार ,
बकुल, अशोक, चनार, बेल, कचनार, अनार ,
चन्दन, चम्पा, सेमल, किंशुक, खैर, कनैर, सरो, सहकार ,
तूत, लवंग, कदम्ब, आँवला, सेव, नाशपाती, खम्भार ।

पीपल, पनस, उदुम्बर, जम्बू, बट, जम्भीर ,
बेर, बहेर, करंज, निम्ब, निम्बू, अंजीर ,
अगर, तगर, खूर्जर, ताल, कर्पूर, नारियल, शाल, तमाल ,
पारिजात, अर्जुन, अगस्त, आदिक समस्त तरु शस्त रसाल ।

ललित लहर लेती थी तरलित उन के तीर ,
लतावल्लिकावली मल्लिका, मृदु वानीर ।
विष्णुप्रिया, मोगरा, चाँदनी, सोमलता, देवना, गुलनार ,
जाही, जूही, एला, केला, बेला, कनकबेल, सुकुमार ।

गुललाला, गुलमेंहदी, खुश्बो, गुल अब्बास ,
गेंदा, गुलदाऊदी, मेंहदी, कुन्द सुबास ,
तुलसी, सूरजमुखी, निवारी, गुललाला, गुलाब, जसवन्त ,
विचल नमित हो अमित डालियाँ करती थीं रसवन्त दिगन्त ।

हरियाली से सुखमाशाली थी अति कान्ति ,
गुणसम्पन्नों को भी पन्नों की थी भ्रान्ति ।
नीले-पीले, लाल-सेत सुन्दर फूलों का था सामान ,
नीलम पुष्पराज मणि-माणिक-मुक्तों का था पूरा भान ।

हिलते थे वृक्षों के पल्लव रुचिर अधीर ,
लगती थी आगत शरीर में सुखद समीर ।
मानो कर के कर सहस्र निज, सेवा आतुर चातुर बाग ,
व्यजनक्रिया से मनरंजन कर व्यंजन करता था अनुराग ।

भौंरों की थीं गुंजन-झनकारें भरपूर ,
करते थे ध्वनि चातक, कोकिल, कीर, मयूर ,
बुलबुल, चक्रवाक, पारावत, मैना, मुनिया, लाल, निदान ,
तम्बूरे पर मधुर स्वरों में अतिथि-मान-सूचक था गान ।

थी उपवन की पवन परिमलित, मिलित पराग ,
पुष्पसार से सिंचित था उस का प्रतिभाग ।
अनायास ही बन जाता था अर्घ्यदान का पूर्ण विधान ,
बनता क्यों न ? सदा जब सजित था जल-चन्दन का सामान ।

तरु-शाखाएँ फल गुच्छों का पा कर भार ,
झुक-झुक भूमि छुए लेती थीं वारंवार ।
मानो उस उपवन के किंकर समझ अतिथि-सेवा की नीति ,
रखते थे फल-फूल सामने निज पवित्र उपहार सप्रीति ।

माली भी थे सभी जानते सेवा-नीति ,
लिये डाली साज फूल-फल सादर प्रीति ।
विस्मयमय तत्समय बटोही हुआ जभी जाँचे फल-फूल ,
है ऐसी ही सृष्टि यहाँ की किंवा हुई दृष्टि की भूल ?

अमलतास के सरस सुहावन पीले फूल ,
संग उन्हीं के हैं कदम्ब शोभा के मूल ।
हरसिंगार भी हैं डाली में तथा चाँदनी, कुन्द, सरोज ,
छ ऋतुओं के फूलों की है एक साथ ही अद्भुत ओज ।

विमल फलों में भी है पूरी वही बहार ,
पके आम, खिरनी, जम्बूफल, बिही, अनार ।
लीभू, लीची, कटहल, बड़हल, कदली, दाख, सेब, अंगूर ,
हैं प्रस्तुत फल बारामासी रुचिर रंग रस में भरपूर ।

बोला भोला पथी, "आर्यजन ! है आश्चर्य ,
है आकर महिमा का वा कुसुमाकरवर्य ।
विविध देश अरु विविध काल के हों जिस में प्रस्तुत फल-फूल ,
ऐसे उपवन में निवास हो परम भाग जब हों अनुकूल ।"

"सच है श्रीमन्" । बोल उठा इक मालाकार ,
"है सचमुच यह महिमंडल में महिमागार ।
किन्तु क्षमा हो दोष, बाग यह अगणित गुणगण का है कोष ,
एक-मात्र गुण जान, अभी तो हुआ आप को है परितोष ।"

बोल उठा फिर मुदित मुसाफिर "निस्सन्देह ।
वश्यकरण ये है अवश्य गुणगण का गेह ।
एक तान से गायक के गुण का हो जाता है अनुमान ,
एक कला से पूर्ण चन्द्र का मन को हो सकता है भान ।

"पाक-स्वाद-सूचक होता है केवल ग्रास ,
बिन्दु-पान है क्षीर-सिन्धु-रस का प्रतिभास ।
पुष्पाकर-दिग्दर्शन ही से पा कर पवन-स्पर्शन-मात्र ,
कहने का मैं हूँ अधिकारी यह अमित-ललित-गुण-पात्र ।

"तदपि करौ यदि स्वीकृत कुछ वर्णन का यास ,
हो विशेष उल्लास-वलित ह्याँ ललित विलास ।
इक तो कोमल सरसवाद में है फूलों की छटा अपार ,
तिस पै मालाकार, अधिक हो किसे बाग-वर्णन-अधिकार ?"

बोला यों प्राचीन एक तब मालाकार ,
"रहती है याँ छै ऋतुओं की सदा बहार ,
दूर-दूर देशों के तरुवर सुन्दर सकल सपुष्प अशेष ,
है याँ, सो तुम जान चुके हो अब आगे कुछ सुनो विशेष ।

"नन्दनवन का सुना नहीं है किसने नाम ,
मिलता है जिस में देवों को भी आराम ।
उस के भी वासी सुखरासी, उग्र हुआ यदि उन का भाग ,
आ कर के इस कुसुमाकर में करते हैं नन्दन-रुचि त्याग ।

"बाँध पुण्य की पूँजी प्राणी तज संसार ,
जा करते हैं देव लोक में मुदित विहार ।
पुण्य छीन होते ही छिन में छिन जाता है स्वर्ग-विलास ,
मृत्यु लोक में फिर आते हैं प्रबल वासनाओं के दास ।

"यदि सुवासना हुई सात्त्विकी उन की शुद्ध ,
पूर्व सुकृति से होना है यदि उन्हें प्रबुद्ध ।
इस दुर्गम उद्यान बीच वे पा जाते हैं सुगम प्रवेश ,
भाते हैं स्वच्छन्द जगत में पाते हैं आनन्द अशेष ।

"है उत्तर में कोट शैल-सम तुंग विशाल ,
विमल सघन हिमवलित सलित धवलित सब काल ।
सुर, किन्नर, गन्धर्व निरन्तर रखते हैं उस में निज वास ,
विना तपोबल साधारण जन ह्याँ जाते खाते हैं त्रास ।

"चन्द्रभानु की श्वेत सुनहली प्रभा अपार ,
पा वह रजतमय स्थलवाली हिम की धार ,
अद्भुत गुण-गर्भित पानी का करती है जो प्रकट प्रवाह ,
अन्तर्बाह्य शुद्धि का उस से होता है अपना निर्वाह ।

"हे नर-दक्षिण ! इस के दक्षिण, पश्चिम, पूर्व ,
हैं अपार जल से परिपूरित कोश अपूर्व ।
पवनदेवता गगन-पन्थ से सुघन घटों में ला कर नीर ,
सींचा करते हैं यह उपवन करके सदा कृपा गम्भीर ।

"रखते हैं सब जीव परस्पर पूरा प्रेम ,
व्यापक है सम्पूर्ण बाग में सच्चा क्षेम ।
कोमल पौधों की क्यारी में कहीं कंटकारी की मूल ,
लग जावे, तो फूल लगेंगे, कंटक नहीं लगेंगे भूल ।"

* * *

दिन के अनन्तर रात ,
निशि के अनन्तर प्रात ,
यह काल की है चाल ,
कह गये बुध वाचाल ।

दिन चाँदनी के चार ,
फिर अन्धकार-प्रसार ,
फिर शुक्ल पक्ष-प्रवेश ,
है यह प्रकृति-निर्देश ।

है जन्म पा कर वृद्धि ,
अरु शक्तियों की सिद्धि ,
फिर जरा फिर अवसान ,
फिर जन्म, चक्र महान ।

उठ के सहस्र तरंग ,
हों सिन्धु-जल में भंग ,
पर एक क्षण हो लीन
उठतीं सहस्र नवीन ।

अरविन्द-वृन्द विशाल ,
मंजुल मिलिन्द, मराल ,
सर स्वच्छ में स्वच्छन्द ,
जलचरों का आनन्द ।

आकाश निर्मल नील ,
सुठ पवन परिमलशील ,
है शरद ये छवि-सार ,
जब लौं पड़ा न तुषार ।

नभ चंडकर उद्दंड ,
उष्माम घोर प्रचंड ,
श्रम-वात-दाहक बात ,
निर्जल जले जलजात ।

शुभ चन्द मन्द मयूख ,
वन-मध्य रूखे रूख ,
ये ग्रीष्म भीष्म-दिगन्त ,
पावस समय-पर्यन्त ।

फूले फले द्रुमपुंज ,
मृदु मंजु वल्ली-कुंज ,
अलि-वृन्द की गुंजार ,
सुन्दर विहंग-पुकार ।

मारुत सुगन्धित मन्द ,
प्रिय भानु चन्द अमन्द ,
गायन रसायन संग ,
रंजन प्रमोद प्रसंग ।

माली समस्त प्रसन्न ,
संसार-सुख-सम्पन्न ,
है अल्प ये संयोग ,
होगा वसन्त-वियोग ।

वह परम महिमावान ,
सुखमा-वलित उद्यान ,
बुध विबुध प्रेम सुपात्र ,
संसार शोभा-मात्र ।

था जहाँ बारामास ,
ऋतु-राज चारु विलास ,
पहुँचा वहाँ भी रोग ,
भारी वसन्त-वियोग ।

मन-बन्दर

तुझे पहिचाना मैंने बन्दर ,
कूदा-फिरता है त्रिभुवन में, बँधा भवन के अन्दर ।

तू बाजीगर जादूगर है, बहुरूपिया कलन्दर ,
छोटा कभी, कभी तू भारी, मच्छर कभी मछन्दर ।
कभी सवार कभी तू पैदल, दारा कभी सिकन्दर ।
कभी महन्त सन्त गुरु चेला, कभी कुबेर पुरन्दर ।
कभी कुढ़ै राई से दब कर, कभी ढहावै मन्दर ,
जल में कभी आग में बिचरै, मगरा कभी समन्दर ।
अरे अनारी तू मछली है, यह सब अगम समन्दर ,
उछल-कूद, निष्फल विचार निज 'पूरन' त्याग न कन्दर ।

नवीन संवत्सर (संवत् १९६७) का स्वागत

स्वस्ति महज्जन ! स्वागत सज्जन ! आशा-भाजन प्यारे
नव संवत्सर ! समयराज के वत्स रसाल दुलारे ।
स्वागत आगामिनी भामिनी के प्रिय बालक वारे ,
स्वागत ! स्वागत स्वस्ति नवागत ! आदर-योग्य हमारे ।

स्वागत, काल-विशाल-कोश के रत्नजाल चमकीले !
भूप विक्रमादित्य-सुयश के नित्य-रूप दरसीले ।
प्रकृति-विकृति के अचिर-चित्रगत अविदित रंग रंगीले ,
लुप्तसार संसार काव्य के गुप्त प्रसंग रसीले ।

स्वस्ति अनन्त समय-कुसुमाकर-अन्तर्गत-नव क्यारी ,
स्वागत, सर्ग-महासागर की नव तरंग सुखकारी ।
स्वागत, मंजु भविष्य-महल के द्वार मनुज-मनभावन ,
अघटित घटनामय अभिनय के स्वागत दृश्य सुहावन !

माया ने जो कालदेश का ताना-बाना ताना ,
बुना जगत्-पट अमित, बने फिर बूटे नाना बाना ।

नाम-स्वरूप-क्रियात्मक वह सब पूर्ण-प्रियात्मक जाना ,
तुम को भी इक वर्ष उसी में है उत्कर्ष दिखाना ।

गिरे पुराने पीले पत्ते, निकली प्यारी कोंपल ,
हुए दृगों से दूर कड़े दल, लगे सुहाने कोमल ।
शोभाशाली है हरियाली सुमन-बेलियाँ फूलीं ,
अस्थिर जान अवस्था जग की चिन्ताएँ कुछ भूलीं ।

चलती नहीं सुगन्धि समीरन मृदु ऋतु के हरकाले ,
चले चतुर्दिशि मित्र तुम्हारे आगम की चर्चा ले ।
फूली सरसों नहीं महीतल पीत-पाँवड़े डाले ,
नहीं रंगीले फूल-पताके नाना रंग सँभाले ।

नहीं भ्रमर गुंजार, करें झनकार बीत के झाले ,
पिक की नहीं पुकार, वचन हैं रोचक स्वागतवाले ।
नहीं कमलदल-कलित ताल पै ललित भृंग मतवाले ,
फूलदार पट पै 'अभिनन्दन' लेख सुनहले काले ।

हिन्द-देश को सखा सनातन श्रीवसन्त सुखनेमी ,
जान मित्र सुख हाथ तुम्हारे हुआ तुम्हारा प्रेमी ।
सजे उसी ने साज सकल ये, है अपूर्व अभ्यागत ,
आओ, शुभ संवत् प्रसन्नमुख ! स्वागत, स्वागत, स्वागत !

विमल सत्त्वगुणमयी चैत में चारु चन्द्रिका छाना ,
प्रभु-अनुराग-पलास-प्रभा से कलि-कालिमा मिटाना ।
त्रिगुण बोध की त्रिविध पवन से ताप चित्त की हरना ,
जान प्रपन्न कृषीबल-गृह सम्पन्न अन्न से करना ।

माधव में श्रीकृष्णचन्द्र के वचन समझ अनुरागी ,
धर्म, भोग अरु कर्म-योग के जानें मर्म सुभागी ।

मलिन-हृदय वैशाखनन्दनों को घूरे दिखलाना ,
देशप्रताप दिनेश सुभग का दिन-दिन तेज बढ़ाना ।

ज्येष्ठ मध्य विपरीत पवन जब तन की तपन बढ़ावैं ,
फौवारे तू शान्ति-सलिल के शीतल, सुखद छुड़ावै ।
अमलतास की पीली-पीली सरस प्रभा दरसावै ,
गर्मी में भी भरतखंड पै रंग बसन्ती छावैं ।

जब आवैं आषाढ़, आस की घनी घटाएँ लाना ,
दबे हुए दुर्भिक्ष बीज को बिजली से झुलसाना ।
दुर्मतिमय विद्रोहदलों को गरज-गरज डरवाना ;
पावस सुख विज्ञप्ति दुन्दुभी श्रद्धाजनक बजाना ।

बगुले देशभक्त सावन में जभी वृथा झख मारैं ,
लोग समझ पाखंड सफेदी पर न चित्त को वारैं ।
सदुपदेश के मोद, पपीहे पूरा आदर पावैं ,
सत्य परिश्रम-प्रेम वृष्टि से प्रजा, भूप सुख पावैं ।

क्वार करावै राजभक्त वर-राजहंसगण-दर्शन ,
अभिलाखा के खिलैं कमलवन हो मन-मधुप-प्रहर्षण ।
भीष्मपितामह आदि पूर्वजों का हो सम्यक् तर्पण ,
हो उन का अनुकरण, धर्महित हों धन-जीवन अर्पण ।

कातिक में हो लक्ष्मी-पूजन भारत-उन्नतिशाली ,
दीपावली सुप्रतिभावाली जगै, सजै दीवाली ।
उठे जुआचोरी दुनिया से कुटिल नीति वालों की ,
होती हार रहे तीसों दिन कपट प्रीतिवालों की ।

मार्गशीर्ष में निर्धन जन पर करुणा पूरी करना ,
विपुल वस्त्रसम्पन्न उन्हें कर भीति शीत की हरना ।

भरतखंड-दुर्दैव-कोप को करना ऐसा शीतल ,
हो न कभी सन्तप्त यहाँ की सन्त-प्रशंस्य-महीतल ।

पूस मास में देश-हितैषी ऐसी धूम मचावैं ,
क्रिसमस के सप्ताह विदित में परमोत्साह दिखावैं ।
पोलिटिकल, धार्मिक, औद्योगिक, नैतिक विविध सभाएँ ,
रचैं महावार्षिक अधिवेशन पूर्ण सफलता पायैं ।

माघ-मास में सुजनभाव के सुमन सुमंजुल फूलैं ,
चंचल चित्त-हिंडोल मनोहर मूर्ति श्यामवर झूलैं ।
वेदधारिणी सरस्वती की पूजा जग को भावै ,
सत्य, सनातन, सत्कृत विद्या सदा समुन्नति पावै ।

फाल्गुन में नरसिंह-भक्त का गुण सच्चा रंग लावै ,
हरिजन-त्रासक के कुनाम पर दुनिया धूल उड़ावै ,
मीड़ैं रँगे हुए स्यारों की फूहड़ शोर न छावैं ,
'पूरन' देश रंग में भीगे जग की छटा बढ़ावैं ।

सत्कवियों का मान बढ़ाना सद्भक्तों का आदर ,
देश अहित कर अकवि-निकर को देना घोर अनादर ।
सत्य, सुमति, सम्पत्ति, सौम्यता, सदुद्योग सुखकारी ,
मिलैं, पूर्णविधि प्रिय भारत को विनती यही हमारी ।

अयोध्यासिंह उपाध्याय ('हरिऔध')

खेद है अनुमति प्राप्त न हो सकने के कारण
स्व० हरिऔधजी की कवितायें यहाँ नहीं दी जा सकीं।

कामताप्रसाद ('गुरु')

चाँद बीबी

देश उत्तरी जीत, पाल नृप नीति निराली ,
महा मुगल ने नींव राज की गहरी डाली ।
फिर इच्छा बढ़ चली और भी जय की जय से ,
बढ़ता है ज्यों लोभ अधिक धन के संचय से ।

तृष्णा ने कर दिया अन्ध अकबर के मन को ,
ठाना उसने उचित लूटना विधवा-धन को ।
राज-लोभ से चढ़ी, कुटिलता से उतराती ,
मुगल-फ़ौज की नदी बही तट-ग्राम बहाती ।

दक्षिण में उस समय महा अन्याय मचा था ,
दक्षिण-पति ने समर-रूप नरमेध रचा था ;
लुटता था धन-धान्य, गाँव ऊजड़ होते थे—
अथाइयों में बैठ श्वान-जम्बुक रोते थे ।

बोकर खेत किसान लड़ाई पर जाते थे ;—
पर न लौटकर साख काटने को आते थे ।
दुष्टों ने इस समय पुराना वैर निकाला—
भाई का घर किसी बालि ने मिलकर घाला ।

एक मुकुट ने सीस हज़ारों ही कटवाये ;
कई कुलों के चिह्न वृथा जग से मिटवाये ।
दो को लड़ते देख तीसरे की बन आयी ,
फिर वह भी मर मिटा, लूट चौथे ने पायी ।

जो लड़ते थे सो न राज के थे अधिकारी—
धर्म-मूल पर नहीं हुई यह हत्या सारी ।
ब्रह्मा ने युवराज रचा था जिसको सच्चा ,
लिये काठ का खड्ग खेलता था वह बच्चा ।

बहुत समय तक रुकी न जब लोहू की धारा ;
मन्त्री, सेना, प्रजा, तीन ने किया किनारा ।
राज उन्होंने दिया उसी को था जो स्वामी ;
प्रतिनिधि मानी गयी चाँद सुलताना नामी ।

बाजीपुर के राजपुत्र की विधवा रानी ,
सुलताना थी बाल-भूप की बुआ सयानी ।
निज भाई का पुत्र पुत्र-सम पाल रही थी ;
राजनीति से राज-बखेड़े टाल रही थी ।

उसका यह अधिकार जिन्होंने उचित न जाना ,
वे वैरी से मिले समझ निज राज बिराना ।
लख पर-घर की फूट और पा सैंत सहाई ;
अहमदपुर पर मुगल-फौज की हुई चढ़ाई ।

अबला हो डर नहीं चाँद बीबी ने माना ;
बाल-भूप के लिए प्राण देना भी ठाना ।
सरदारों से कहा, द्वेष आपस का त्यागो ,
सोचो निज कर्तव्य देश रक्षा हित जागो ।

तीन सुरंगें बड़ी वैरियों ने खुदवायीं—
सुलताना ने तल-सुरंग से दो मिटवायीं ।
उड़ी तीसरी दुर्ग-भीत का भाग उड़ाती ;
धड़की निज घर-फूट देख वीरों की छाती ।

तब कर में तलवार लिये बिजली-सी नंगी ,
पहने पूरा झिलम साज सब साजे जंगी ।
घूँघट घाले घटा-रूप सुलताना धायी ;
गोलों की बरसात भीत में से मचवायी ।

सब लोहा चुक गया, तोप की बाड़ न चूकी ;
ताँबा फूका गया; गयी फिर चाँदी फूँकी ।
तब तोपों ने बड़े चाव से फूँका सोना ;
फिर रत्नों ने किया अन्त में रण अनहोना ।

वैरी ठहर सके न प्रबल आगी के आगे ;
पल में घेरा उठा छोड़ कर जी सब भागे ।
जाग रात भर आप भीत उसने जड़वायी ,
नारी-पौरुष देख लाज पुरुषों को आयी ।

जब दक्षिण की ओर सहायक सेना धायी ,
पहले से भी अधिक मुगल सेना घबरायी ।
तब मुराद ने लखा, रसद दिन-दिन घटती है ;
जय की आशा छोड़ फ़ौज पीछे हटती है ।

सब प्रकार से समझ हीन अपने को बल में ;
कर ली उसने सन्धि चाँद बीबी से पल में ।
अकबर को यह हार बुढ़ापे में यों खटकी ;
दक्षिण को वह चला, बाट भूला मरघट की ।

डाल दिया बुरहानपूर में उसने डेरा ;
फिर से अहमदनगर दुर्ग सेना ने घेरा ।
इस अवसर पर भी न चाल निज चूके द्रोही—
मुगलों की भी बाट न हत्यारों ने जो ही ।

धन के बदले महाघोर अघ करने वाले ;
बच्चों के भी प्राण सहज में हरने वाले ।
कई दुष्ट जा घुसे घातकी राजमहल में ;
धोखे में ले लिये प्राण अबला के पल में ।

जिस आशा से पाप किया था सरदारों ने ,
पूरी की वह मुगल-फ़ौज की तलवारों ने ।
देश-द्रोह, नृप-घात, लूट सब का फल पाया ;
पाप-लदे सब कटे; और परलोक नसाया ।

भला-बुरा कुछ नहीं जगत का जिसने जाना ;
जिसके कारण मरी अमर होकर सुलताना ।
किसी समय जो राज्य-कोश का स्वामी होता ;
बन्दी बन सब छोड़, गया वह बालक रोता ।

अकबर को यह जीत हुई ऐसी फलदायी ,
चौथेपन की शान्ति न उसने पल भर पायी ।
मरने तक वह रहा दुखी सुत की करनी से ,
फिर वैसा ही गया अचानक उठ धरनी से ।

सहगमन

छूटने पाया न कंकण ब्याह का—
आ गया आदेश विक्रमशाह का ।
शीघ्र ही, जयसिंह ! जाओ युद्ध पर
देश-हित के हेतु सरबस त्याग कर ।

पास पत्नी के गये ठाकुर तभी ,
और उस को पत्र दे बोले—अभी !
शीघ्र ही फिर भेंट कर उस को हिये
हट गये झटपट निकलने के लिए ।

देवकी ने धीर अपना खो दिया ;
प्राणपति से झट लिपट कर रो दिया ।
पर अचानक भाव उसका फिर गया ;
मोह का परदा हृदय से गिर गया ।

प्रेम से उसने सुना पति का कहा ;
खेद पति के चित्त का जाता रहा ।
किन्तु जब आयी बिछुड़ने की घड़ी ,
गाज-सी दोनों मनों पर आ पड़ी ।

मोह का संकेत फिर कर अनसुना ,
धर्म का कर्तव्य दोनों ने गुना ।
देवकी ने शीघ्र रण-कंकण दिया ,
बाँध उसको हाथ में पति ने लिया ।

चिह्न दोनों हाथ ले उत्साह में ,
जा रहे जयसिंह हैं रन-राह में ।
सुध प्रिया की मार्ग में आती रही ,
किन्तु रन-मैदान में जाती रही ।

युद्ध में तो और ही कुछ ध्यान है—
पूर्ण हिय में देश का अभिमान है ।
प्राण क्या है देश के हित के लिए !
देश खोकर जो जिये तो क्या जिये ।

मग्न हैं जयसिंह रन के चाव में ,
ला रहे हैं शत्रु को निज दाव में ।
घाटियाँ, मैदान, पर्वत, खाइयाँ—
सब कहीं हैं सूरमा औ' दाइयाँ ।

रात-दिन है अग्नि-वर्षा हो रही ;
रात-दिन है पूर्ण लोथों से मही ।
व्योम, जल, थल, सब कहीं है रन मचा ;
युद्ध के फल से नहीं कोई बचा ।

एक दिन जयसिंह धावा मार कर ,
दल-सहित जब आ रहे थे केन्द्र पर ,
एक दाई घायलों के बीच में ,
दिख पड़ी सोती रुधिर की कीच में ।

ध्यान से जयसिंह ने उसको लखा ,
और फिर उसके हृदय पर कर रखा ।
हो विकल उसको जगाने वे लगे ;
मर चुकी थी; वह भला अब क्या जगे ।

घायलों की वीर सेवा में लगी ,
और फिर प्रिय ध्यान में पति के पगी ,
गोलियों से शत्रु की भागी न थी
चोट घातक झेल वह जागी न थी ।

शोक में जयसिंह कुछ बोले नहीं ;
थे जहाँ बैठे रहे बैठे वहीं ।
दुःख में अब घोर चिन्ता छा गयी—
प्रियतमा कैसे यहाँ कब आ गयी !

आ गये उस काल सेनापति वहाँ ,
वीर नारी की लखी शुभ गति वहाँ ।
वीर हो कर भी हुई उसको व्यथा ,
आदि से कहने लगे उसकी कथा ।

दाइयाँ कुछ आपके दल के लिए,
कुछ समय पहले मुझे थीं चाहिए।
की गयी इसकी प्रकाशित सूचना,
देवकी ने शीघ्र भेजी प्रार्थना।

दाइयों में इस तरह भरती हुई,
अन्त लौं यह काज निज करती हुई,
शत्रु के अन्याय से मारी गयी,
पायगा फल दुष्टता का निर्दयी।

हाल सुन जयसिंह का दुख बढ़ गया;
शत्रु पर अब क्रोध उनको चढ़ गया।
सौंपकर मृत देह सेनापति-निकट,
प्रण किया सबसे उन्होंने यह विकट।

भस्म जब मैं कर चुकूँगा रिपु नगर,
तब पड़ेगी अग्नि इस प्रिय देह पर।
और जो मैं ही मरूँ रिपु-हाथ में,
फूँकना मुझको प्रिया के साथ में।

दूसरे दिन व्योम में जलता हुआ,
पर कटे खग-राज सा चलता रहा,
केन्द्र से कुछ दूर रव करके बड़ा,
युद्ध का नभ-यान आकर गिर पड़ा।

नष्ट पुर को यान ने था कर लिया;
मार्ग रक्षित केन्द्र का था घर लिया;
किन्तु रिपु का क्रुद्ध गोला चल उठा;
और उसकी आग से यह जल उठा।

सैनिकों ने खींच इसमें से लिया ,
उस पुरुष को देश का जो था दिया ।
पर दिया यह बुझ गया था आग से ,
या बुझे उस दीप के अनुराग से ।

साथ ही प्रेमी युगल बुझकर जले ;
और दोनों साथ ही जलकर चले ।
एक कंकण से बँधे थे वे यहाँ ;
दूसरे से जा बँधे दोनों वहाँ ।

प्रेम-बन्धन जन्म-लय का सार है ;
प्रेम-बन्धन देश का उद्धार है ।
प्रेम-बन्धन देवकी-जयसिंह का ,
तोप से भी रिपु न खंडित कर सका ।

विपत्ति

विपत्ति ! तू है विधि की दुलारी
तुझे मिला है अवलम्ब भारी ।
कठोरता वज्र-समान धारे
तूने किये हैं वश जीव सारे ।

उत्पात तेरा जग ने लखा है ,
सम्पत्ति ने स्वाद सदा चखा है ।
छोटे-बड़े हैं तुझ को सरीखे-
अन्याय तेरे किसने न सीखे !

हो दुर्जनों के कर का खिलौना ,
तू लूटती है बल, बुद्धि, सोना ।
घमंडियों की प्रिय मान बानी ,
तू ने सदा सज्जन-हानि ठानी ।

आती नहीं तू जग में अकेली ,
है एक चिन्ता नित की सहेली ।
दरिद्रता, रोग, व्यथा, उदासी—
तेरे कई हैं प्रिय दास-दासी ।

विरोध, अज्ञान, अबोध-चेरे
प्रचारते हैं उपदेश तेरे ।
उत्साह, आशा, सुख-चैन, हाँसी—
तू डालती है सब में उदासी ।

कुरूप तेरा अवलोकते ही ,
होते नहीं पास खड़े सगे ही ।
कभी बनी तू रिपु सालती है ;
कभी मिताई-मिस घालती है ।

जो सज्जनों पै तुझको पठाते ,
वे भी स्वयं संकट हैं उठाते ।
अन्यायकारी दुख भोग नाना ,
धिक्कारते हैं निज नीच बाना ।

तू गर्वियों को जब घेरती है ,
तुरन्त ऐंठी मति फेरती है ।
धनाभिमानी धन के सहारे ,
भला बचेंगे कब दैव-मारे ।

उत्पत्तियों की शठता न जाती ,
जो तू न उलटा उनको दबाती।
स्वयं न आँसू जिसने बहाये ,
जाने भला क्या संकट पराये।

तथापि तू है मन की कसौटी ;
देती दबा वृत्ति सदैव खोटी।
चारों–सखा, धीरज, धर्म, नारी ,
तू जाँचती है कर जाँच भारी।

विवेकियों को जब है सताती ,
नहीं कभी तू उनको डिगाती।
विचार, आधार उन्हें सदा है ;
सहायता के हित शारदा है।

तुझे महात्मा गुरु मानते हैं ;
सुकर्म का जीवन जानते हैं।
तू न्याय को है मन में जगाती ;
कठोरता को करुणा सिखाती।

जो तू न देती जग में दिखाई ,
आती कहाँ से नर में भलाई।
सम्पत्ति पूरी पशुता पढ़ाती ,
विपत्ति में जो नरता न आती।

उत्पन्न तू ही करती क्षमा है ,
विचार सच्चा तुझ में थमा है।
तू है बली निर्बल को बनाती ;
समीप जाते उसके लजाती।

सिखा मुझे तू मृदु होय, देवी ,
जो मैं रहूँ नित्य स्वधर्म सेवी ।
घमंड घाती मन को न घेरे ,
मानें मुझे मित्र अमित्र मेरे ।

—

बालक

माता-तन का सार, पिता का तू सरबस है ,
दोनों का संसार, वंश का विस्तृत यश है ।
माता-पितानुराग प्रकट तेरा यह तन है ,
मूर्तिमान सौभाग्य, पुत्र ! तू अद्‌भुत धन है ।

जब तू जग में आय भूमि पर गिर कर रोया ,
माँ ने हिये लगाय कष्ट सब अपना खोया ।
सुन तेरा प्रिय रुदन पिता का मन यों जागा ,
हुई झोंपड़ी भवन, मिला सब को मुँह-माँगा ।

प्रबल प्रेम में पगे, पिता-मा तन के फल से ,
बली समझने लगे आपको तेरे बल से ।
भोला रूप निहार, हुए दोनों मन भोले ,
मानों इष्ट विचार, हृदय ने निज पट खोले ।

अन्धकार मिट गया, हुआ चहुँ ओर उजेला ,
बास बसा फिर नया, भरा ऊजड़ में मेला ।
चिन्ताएँ दिन रात, जलाती थीं जो मन को ,
सो अब होकर शान्त, पालती हैं शिशु-तन को ।

तेरा जीवन-भेद बुद्धि में नहीं समाता,
तो भी मान अभेद, मानता है मन नाता।
यह सम्बन्ध अटूट एक ही धर्म जगत में,
सच्चे सुख की लूट, संग है सदा विपत में।

मा को जब टक लगा, निखरता तू पय पीते,
भरता ममता जगा पयोधर हैं तू रीते।
फिर अवाक मुस्कान, कुन्द की खिली कली-सी,
लगती सुधा समान मधुर है मा को जी-सी।

तेरे सब व्यापार, खेलना, खाना, सोना,
भाषा, भाव, विचार, सभी हैं केवल रोना।
करें न इसका मान भले ही भाषा ज्ञाता;
पर निज गिरा समान इसे गिनती है माता।

एक वर्ण आकार-सहित पद जटिल बना कर,
दरसाता है, प्यार, क्रोध, इच्छा, तू सब पर।
फिर स्वर सप्त सुनाय हृदय सबका हरता है,
माता-मन सुख पाय भरा भी फिर भरता है।

राजा-सम हठ कठिन कभी तेरी ठनती है;
पर यह बिगड़ी रहन एक पल में बनती है।
है पदार्थ वह कौन जिसे तू कर न बढ़ावे?
नहीं धारता मौन, न जब लौं उसको पावे।

कोमल कमल समान निरख तेरा तन चंचल,
करते हैं छबि-पान मधुप मा के दृग पल-पल।
चूम-चूम शशि बदन, पान कर रूप सुधा को,
हो कर भी अति मगन नया नित सुख है माँ को।

तेरा सोना निरख और सोते मुसकाना,
होता है सुख अलख, पाय ज्यों छिपा खजाना
यह सोना अनमोल अधिक सोने से धन है;
मुहरों से भी गोल, जगत में सच्चा धन है।

तेरे सुख के लिए कष्ट सहती है माता;
तुझे लगाये हिये उसे दुख नहीं सताता।
खान, पान, व्यवहार, नींद, श्रम सब कुछ मित है;
है नित यही विचार, पुत्र का किसमें हित है।

तुझको तेरे मित्र, खिलौने हैं अति प्यारे;
मन से उनके चित्र नहीं करता तू न्यारे।
उन्हें देखकर फूल, बढ़ा कर तू मिलता है;
अपना सब दुख भूल, फूल-सा तू खिलता है।

कभी-कभी पय-पान स्वप्न में तू करता है;
देकर माँ को ज्ञान, मोह उसका हरता है।
फिर उदास मुख बना, नींद में तू रोता है;
दशा देख दुख घना, दीन माँ को होता है।

विद्या, कला, प्रवास सभी कुछ माँ को तू है;
तू ही उसकी आस, सदा सर्वत्र हितू है।
पट, भूषण, छवि, साज, रूप, वय तू ही सब है;
तू ही राज-समाज, पुत्र, तू ही उत्सव है।

सत्य सनातन धर्म, पिता-माता को सुत है।
पालन है शुभ कर्म, पढ़ाना मंगल-युत है।
सदाचार उपदेश, तीर्थ का पुण्य अकथ है।
देह निरोग, सुवेश, मुक्ति का निश्चित पथ है।

जिसके धोये वसन न बिगड़े शिशु-पद-रज से ,
चूमे कोमल कर न जिन्होंने खिले जलज से ,
थकें न जो बकवाद, बोल कर बालक भाषा ,
उनका विभव प्रमाद, वृथा है शुभ गति-आशा ।

तरुवर

हे तरुवर, जब सूर्य चलाता है धरणी पर विषम त्रिशूल ,
तब पन्थी को तेरा छाता हो जाता है जीवन-मूल ।
पवन महा विकराल रूप धर विचलाती है जब संसार ,
तब तेरी दृढ़ पींड़ भेंट कर होते हैं सब दुख से पार ।

पाला, मेह और सब साथी जब-जब त्रास दिखाते हैं ,
तब-तब अणु-गिरि, चींटी-हाथी तुझ से रक्षा पाते हैं ।
फिर तू ही भोजन देता है, तू ही देता है आवास ,
तू ही देता सुखद आवरण, तुझ से है प्रत्येक सुपास ।

पक्षी तुझ पर बना बसेरा गाते हैं तेरे गुण-गीत ,
किलक-किलक करते हैं फेरा बानर पा विश्राम अभीत ।
कीट, पतंग आदि भी आश्रय तुझ से पाते रहते हैं ,
सदय अंग सब तेरे निर्भय पर हित में दुख सहते हैं ।

जिस माता ने तुझे बढ़ाया उसको तू ने दी छाया ,
मर कर उसके बीच समाया, फिर पलटी जग की काया !
दिया नहीं क्या किसको तू ने, दानी तुझ-सा होगा कौन !
कर सन्तोष प्राप्त दिन-दूने इच्छाओं ने धारा मौन ।

जल, थल, अन्तरिक्ष में सत्ता तेरी पायी जाती है,
तेरे ही बल में विद्वत्ता बलियों को नचवाती है।
भाव अनेक मानवो तुझ में विद्वानों ने पाये हैं,
पर थोड़े ही वैसे मुझ में ईश्वर ने उपजाये हैं।

पीकर तू जल, मिट्टी, चूना सुधा-मधुर फल देता है,
ऋषि जीवन का विशद नमूना जग तुझमें लख लेता है।
हैं तेरे शुभ कृत्य बहुत से सदा और सर्वत्र समान,
उऋण नहीं है तेरे ऋण से विजयी राजा, दीन किसान

तू अनादि है, तू अनन्त है और जगत का है आधार,
ईश-तुल्य तू पूर्ण सन्त है, सदा साधता पर उपकार।
पालक तू है बालकपन में, यौवन और जरा में साथ,
है सर्वत्र सदा जीवन में, अन्तिम गति है तेरे हाथ।

रामनरेश त्रिपाठी

प्रेम

प्रेम विचित्र वस्तु है जग में अद्भुत शक्ति-निधान ,
निद्रा में जागृति, जागृति में है वह नींद समान ।
प्रेम - नशा जब छा जाता है आँखों में भरपूर ,
सोना जगना दोनों उन से हो जाते हैं दूर ।

प्रेम एक है, पर प्रभाव है उस का युगल प्रकार ,
प्रेम सँयोग वियोग काल में सुख प्रद, दुखद अपार ।
फूल विहीन गन्ध से जैसे, चन्द्र चन्द्रिका-हीन ,
यों ही फीका है मनुष्य का जीवन प्रेम-विहीन ।

प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम-रूप भगवान ,
प्रेम विश्व का संस्थापक है, प्रेम विश्व का प्राण ।
प्रेम जाति का जीवन जग में, प्रेम अभेद अशोक ,
प्रेम सभ्यता का भूषण है, प्रेम हृदय - आलोक ।

जग की सब पीड़ाओं से है होता हृदय अधीर ,
पर मीठी लगती है उर में सत्य प्रेम की पीर ।
व्याकुल हुआ प्रेम-पीड़ा से जिस का कभी न प्राण ,
भाग्यहीन उस निष्ठुर का है उर सचमुच पाषाण ।

जिस पर दया-दृष्टि करते हैं मंगलमय भगवान ,
पूर्ण प्रेम-पीड़ा से पीड़ित होता है वह प्राण ।
जिसने अनुभव किया प्रेम की पीड़ा का आनन्द ,
उस से बढ़ है कौन जगत में सुखी और स्वच्छन्द ?

प्रेमोन्मत्त हृदय में रहता है न विरोध न क्रोध ,
दुर्गुण नहीं प्रेम पथ का कर सकता है अवरोध ।
मधुर प्रेम-वेदना-मुग्ध जन सुख-निद्रामय मस्त ,
है देखता प्रेम - छवि दृग भर फिर कर जगत समस्त ।

फूल, पंखड़ी में, पल्लव में, प्रियतम-रूप विहार
तुरत उमड़ आता है उस के उर में मोद अपार।
कली देख करने लगता है हास्य, प्रमत्त प्रलाप।
'देखूँ कब तक इन पत्तों में छुके रहेंगे आप!'

ज्योत्स्ना कभी सरित-जल में है करती केलि-विलास,
उज्ज्वल विमल रजत-कणिकामय रेत-राशि पर वास।
प्रेम-भरे अधखुले दृगों से शशि को देख सहास,
प्रेमी समझ मुग्ध होता है प्रियतम-हास-विकास।

उसे प्रेममय लगता है सब सचराचर संसार,
प्रेम-मग्न करता है वह नित प्रेमोद्यान-विहार।
प्रेम-वेदना-व्यथित हृदय से मथित प्रेम की आह,
कढ़ कर भूतल में भरती है नवजीवन-उत्साह।

करुणा-भरे प्रेम के आँसू ढल कर सुधा समान
सींच दया की जड़, देते हैं जग को आश्रय-दान।
जन-जन में प्रेमी को दिखती है प्रियतम की कान्ति—
इस से उसे लोक-सेवा में मिलती है अति शान्ति।

पीड़ित की पीड़ा, भूखे की क्षुधा, तृषित की प्यास,
उदासीनता निराश्रयों की आशारहित उसास।
कुशित जाति के उन्नति-पथ के कंटक चुन, कर दूर,
प्रेमी परम तृप्त होता है आह्लादित भरपूर।

दया नहीं, कर्तव्य नहीं, वह है न किसी का दास,
है चाहता देखना वह तो प्रियतम-रूप-विकास।
रूप कहाँ है? आर्त्त-मुखों पर प्रकृत हर्ष का हास
जब खिलता है, देखो उस में प्रियतम-रूप-विकास!

रे मतिमन्द ! न कर प्रेमी को बन्दीगृह में बन्द ,
कर देगा वह अन्य बन्दियों को भी चिर-स्वच्छन्द !
हैं स्वतन्त्र प्रभु, स्वतन्त्रता में बसते हैं भगवान ,
प्रेमी उन्हें प्रत्यक्ष करेगा कर के विविध विधान ।

विषन्न देश

छूता हुआ गाँव की सीमा अति निर्मल जल वाला
बहता है अविराम निरन्तर कलकल स्वर से नाला ।
अनतिदूर पर हरियाली से लदी खड़ी गिरि-माला ,
किन्तु नहीं इस से हृदयों में है आनन्द - उजाला ॥

कहीं श्याम चट्टान, कहीं दर्पण-सा उज्वल सर है ,
कहीं हरे तृण खेत, कहीं गिरि-स्रोत-प्रवाह प्रखर है ।
कहीं गगन के खम्भ नारियल, तार भार सिर धारे ,
रस-रसिकों के लिए खड़े ज्यों सुस्त नकार इशारे ।

घेर रही हैं जिसे पल्लवित लता, सुगन्धित झाड़ी , .
छाया-शयित, सघन आच्छादित, कुंजित पन्थ पहाड़ी ।
सर्वोपरि उन्नत मन की-सी लक्षित अचल-उँचाई
एक घड़ी को भी न किसी के लिए हुई सुखदाई ।

ऊँचे से झरने झरते हैं, शीतल धार धवल है ,
यहाँ परम सुख शान्ति समन्वित नित आनन्द अटल है
कहीं धार के पास शिला पर बैठ लोग क्षण भर को
पा सकते है शान्ति, मिटा सकते हैं जी के ज्वर को ।

बार-बार वक-पंक्ति-गमन से उज्ज्वल फूलों वाली
मेघपुष्प-वर्षा से घूमिल घटा क्षितिज पर काली।
लहराती दृग की सीमा तक धानों की हरियाली,
वारिज-नयन गगन-छवि-दर्शक सर की छटा निराली।

कदली-वन से हरी धरा को देख न आँख अघाती,
क्यों यह नहीं गाँव वालों के जी की जलन मिटाती ?
गेहूँ चने मटर जौ के हैं खेत बड़े लहराते;
क्या कारण है, जो ये मन का कुछ न विषाद मिटाते ?

निम्ब, कदम्ब, अम्ब, इमली की श्याम निरातप छाया
सेवन कर फिर लोक-शोक की याद न रखती काया।
बैठ बाग की विशद मेंड़ पर कोमल अमल पवन में
आँख मूँद करता किसान है श्रम का अनुभव मन में।

कोकिल का आलाप, पपीहे की विरहाकुल बानी
तोता-मैना का विवाद, बुलबुल की प्रेम-कहानी।
मधुर प्रेम के गीत तरुनियाँ गातीं खेत निरातीं;
क्या ये क्षण भर को न किसी के मन का कष्ट भुलातीं ?

विमलोदक पुष्कर में विकसे चित्र-विचित्र कुसुम हैं,
खड़े चतुर्दिक शान्त-भाव से लतिकालिंगित द्रुम हैं।
देख सलिल-दर्पण में शोभा वे फूले न समाते,
दे प्रसून उपहार सरोवर को निज हर्ष जनाते।

सुन्दर सर है, लहर मनोरथ-सी उठ कर मिट जाती।
तट पर है कदम्ब की विस्तृत छाया सुखद सुहाती।
लटक रहे हैं धवल सुगन्धित कन्दुक से फल फूले,
गूँज रहे हैं अलि पी कर मकरन्द-मोद में भूले।

वंजुल मंजुल सदा सुसज्जित मज्जित छदन-विसर से ,
अलि-कुल-आकुल बकुल मुकुल-संकुल व्याकुल नभचर से
आसपास का पथ सुरभित है महक रही फुलवारी ,
बिछी फूल की सेज, बाजती वीणा है सुखकारी ।

नालों का संयोग, साँझ का समय, घना जंगल है ,
ऊँचे-नीचे खोह-कगारे निर्जन बीहड़ थल है ।
रह-रह कर सौरभ समीर में हैं वन-पुष्प उड़ाते ;
ताप-तप्त जन यहाँ क्यों न आ कर क्षण एक जुड़ाते ।

सन्ध्या-समय चतुर्दिक से बहु हर्ष-निनाद सुनाते ,
विविध रूप-रंगों के पक्षी झुंड-झुंड मिल आते ।
बैठ पल्लवों पर सब मिल कर गान मनोहर गाते ,
अद्भुत वाद्य-यन्त्र पादप को हैं प्रति दिवस बनाते ।

प्रातःकाल ममत्व-हीन वे कहाँ-कहाँ उड़ जाते ,
जग को हैं अनित्य मेले का रोचक पाठ पढ़ाते ।
यह सब देख नहीं क्यों मन में उत्तम भाव समाते ?
लोग यहाँ पर बैठ घड़ी भर क्यों न सीख कुछ जाते ?

अति निस्तब्ध निशीथ समावृत मौन प्रकृति कुल-सारा ,
शान्त गगन में झिलमिल करते हैं नित नीरव तारा ।
निद्रित दिशा, समीर सुकोमल, उदयोन्मुख हिमकर है ,
क्या सब शोक भुलाने का यह नहीं एक अवसर है ।

चारों ओर तुषार-धवल पर्वत चुपचाप खड़ा है ,
प्रकृति-मुकुर-सा एक सरोवर उस के मध्य जड़ा है ।
तट पर एक शिला सुन्दर है; बैठ यहाँ यदि जाते—
तो क्या एक घड़ी न किसी के दृग, मन प्राण जुड़ाते ?

लीची, श्रीफल, सेव, आम, बादाम, दाख़, बेदाना ,
रस से भरे विविध मेवों की रुचि आकृति है नाना ।
सब प्रभु की अद्भुत रचना का दृश्य विचित्र दिखाते—
दिव्य अयाचित दया प्राप्त कर क्यों न लोग सुख पाते !

गिरि, मैदान, नगर, निर्जन में एक भाव में भातीं ,
सरल, कुटिल, अति तरल, मृदुल गति से बहु-रूप दिखातीं ,
अस्थिर समय समान प्रवाहित ये नदियाँ कुछ गातीं ,
चलीं कहाँ से, कहाँ जा रहीं, क्यों आयीं, क्यों जातीं !

इन्हें देख कर क्यों न लोग आश्चर्य प्रकट करते हैं ,
इन के दर्शन से निज मन का कष्ट क्यों न हरते हैं ।
जहाँ लता, तृण में हैं केवल फोग प्रतिष्ठा पाते—
टीबे ही टीबे बालू के जहाँ दृष्टि में आते ।

मधुर मतीरे जहाँ कलेजे की हैं तपन मिटाते ,
गाधिपुत्र की याद जहाँ हैं ऊँट-भरूँट दिलाते ।
मृगतृष्णा के दृश्य जहाँ पर नित्य देख पड़ते हैं ।
इने-गिने सावन भादों में वारि-बुन्द झड़ते हैं ।

कोमल पथ है, दिशा शान्त है, वायु स्वच्छ सुखकर है ,
गान भूण का, नृत्य मोर का, दृश्य बड़ा सुन्दर है ।
ऐसी विविध विलक्षणता से सजा प्रकृति का तन है ।
होते क्यों न देख कर इन को हर्ष विमोहित जन हैं ।

पंकज, रम्भा, मदन, मल्लिका, पोस्त, गुलाब, बकुल का ,
रक्तक, कुन्दकली, पिक, किंशुक, नरगिस, मधुकर-कुल का ,
संग्रह है चम्पक, शिरीष का, धर्म सुरभिमय नारी
मानो फूल रही है सुन्दर घर-घर में फुलवारी ।

क्यों न लोग उस के दर्शन से क्षण भर दुख बिसराते—
क्यों सब प्रकृति-मनोरंजन से इतनी अरुचि दिखाते?
एक-एक तृण बतलाता है जगदीश्वर की सत्ता।
व्यापक है लघु से लघु में भी उस की विपुल महत्ता।

अब विश्वास रहा क्या उस की महिमा पर न किसी को!
भूल गये अपने से पहले क्या सब लोग उसी को!
एक मधुर संगीत हो रहा है ब्रह्मांड-भवन में—
उस की ही ध्वनि गूँज रही है अणु-परमाणु, गगन में।

ग्रह-गण एक नियत कक्षा में फिर कर स्वर भरते हैं,
सदा उसी की पूर्ति हेतु वे प्रणव-गान करते हैं।
आँधी का आवेग, मेघ की गरज, चमक बिजली की,
पत्तों की सुमधुर मर्मर ध्वनि, हँसी प्रसून-कली की।

सरिता का चुपचाप सरकना, दहन-स्वभाव अनल का,
झरनों का अविराम नाद, कल-कल रव चंचल जल का।
मधुरालाप, प्रलाप, विपुल आघोष क्षुब्ध वारिधि का—
भिन्न-भिन्न भाषा मनुष्य की, उच्चारण बहु विधि का।

खग, पशु, कीट, पतंग, आदि के बोल विभिन्न समय के,
हैं सब मन्द्र-तार स्वर उस के ताल सहायक लय के।
वज्रपात है थाप उसी की, ऋतुएँ हैं गति उस की,
जीवन है वह अखिल विश्व का महाप्रलय यति उस की।

कैसा सुख-संगीत शान्तिप्रद उज्वल अमल विमल है!
उस का सुनना ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य अटल है।
साधु संन्यासी उसे श्रवण कर भवसागर तरते हैं,
योगी जन सुन कर उस को अमरत्व प्राप्त करते हैं।

किन्तु देश के लोग किसी निद्रा में ज्यों सोते हैं,
किसी विनोद-प्रमोद में नहीं वे तत्पर होते हैं।
किसी असीम विषाद-उदधि में हैं निमग्न जन सारे,
या हैं किसी व्याधि से पीड़ित उदासीन मन मारे।

विरहिणी

मार्ग बुहार-बुहार थकी मैं प्रतिदिन साँझ सबेरे,
हार गयी मैं बाट जोहती, आये नाथ न मेरे।
कोई आ कर प्रियतम का कुछ सन्देसा कह जाता—
जाते हुए प्राण से आँखों का आग्रह रह जाता!

घायल-सी मैं तड़प रही हूँ, किस को व्यथा सुनाऊँ?
किस से पूछूँ, कहूँ सँदेसा, पाती कहाँ पठाऊँ!
हाय! बटोही भी अब कोई इधर नहीं आते हैं,
देख दूर से मुझ दुखिया का घर, फिर कर जाते हैं।

रही उडीक द्वार पर मैं हूँ अन्त घड़ी जीवन की,
पूर्ण करो हे नाथ! शेष है एक साध दर्शन की।
एक बार आओ, आँखों में मूँद तुम्हें मैं लूँगी,
देखूँगी मैं फिर न और को, तुम्हें न दिखने दूँगी!

खिड़की से रहती हूँ दिन-भर पथ पर आँख बिछाये,
प्राणाधार नहीं तुम आये हा! अन्तिम दिन आये।
सपने में तुम नित आते हो मैं हूँ अति सुख पाती,
मिलने को उठती हूँ सौतिन आँख प्रथम उठ आती।

असहनीय उस समय हृदय में विरह - वेदना होती ,
सोकर खोती है दुनिया, मैं हाय ! जाग कर खोती ।
आते पास आँख लगते ही, खुलते ही छिप जाते ,
भूलभुलैयाँ खेल नाथ ! क्यों हाय ! मुझे तरसाते ।

देता है सूचना पपीहा, हवा किवाड़ बजाती ,
तुम को आया समझ द्वार पर तुरत दौड़ मैं जाती ।
किन्तु विफल हो हाय ! हृदय को थाम लौट आती हूँ—
यों ही अगणित बार रात-दिन मैं धोखा खाती हूँ ।

जब से हे प्राणेश ! हृदय में सुधि आ बसी तुम्हारी ,
मुझे छोड़ कर कहाँ गयी तब से मेरी सुधि सारी !
भागीं छोड़ विरह-विपदा में सुख की सखी-सहेली—
मतलब की दुनिया है देखो, मैं रह गयी अकेली ।

भूख-प्यास फिर पास न आयी मेरी देख उदासी ,
पड़ी कहीं पर सोती होगी नींद आलसिन दासी ।
काग ! साध अब पूरी कर लो चुन-चुन कर इस तन को ।
देना छोड़ दया कर के प्रिय-दर्शन-व्रती नयन को ।

धोकर नभ नीलिमा उदित अन्तर में लता-निकर के , .
पथिक-दृष्टि के आकर्षक हिमकर का दर्शन कर के—
शान्ति हुई, मैं निशि भर शशि पर निश्चल दृष्टि रखूँगी ,
प्रिय के दृष्टि-स्पर्श-जनित सुख का मैं स्वाद चखूँगी ।

हे भगवान ! घास मैं होती, प्रिय उस पर पग धरते !
अति कृतज्ञ होती, प्रिय-पद की धूलि मुझे तुम करते ।
प्राणों का आराम वही, आनन्द वही है मन का ,
आत्मा की है शान्ति वही जीवन है इस जीवन का ।

ईर्ष्यावान दुरात्म-हृदय सा जेठ लगा अब जलने ,
अगम धूलि-धूसरित दिशाएँ ज्वाला लगीं उगलने ।
हवा हो गयी प्राण-हारिणी हुए जल-स्थल ताते ,
मेरे पथिक सघन छाया में होंगे कहीं जुड़ाते ।

रिमझिम बरस रहे सावन-घन उमड़-घुमड़ अलबेले ,
तरु-तल कहीं भींगते होंगे मेरे पथिक अकेले ।
'घर पर जाओ, पथिक मिलेंगे', यह आज्ञा मुनिवर की
मान मुदित हो स्वयं बन्दिनी हुई हाय ! इस घर की ।

* * * *

उन्मादिनी विरहिणी यों ही नित प्रलाप करती थी ,
रोती कभी, कभी हँसती थी, कभी आह भरती थी ।
नाम मात्र थी देह, त्वचावृत निरा अस्ति-पंजर था ,
शक्तिहीन निर्बल नितान्त तन विरह-व्याधि का घर था ।

विधवा का दर्पण

एक आले में दर्पण एक
किसी प्रणयी के सुख का सखा ,
किसी के प्रियतम का स्मृति-चिह्न ,
किन्हीं सुन्दर हाथों का रखा ,
धूल की चादर से मुँह ढाँक
पड़ा था भार लिये मन का ;
मूक भाषा में हाहाकार
मचा था उस के क्रन्दन का ।

दीमकों ने उस के सब ओर
कोर कर अपनी मनोव्यथा

बना दी थी उस आदरहीन
दीन की अतिशय करुण कथा ;
मकड़ियाँ उस पर जाले तान
म्लान कर मुख की सुन्दरता ,
दिखाती थी कर के विस्तार
रूप-मद की क्षण-भंगुरता ।

मुकुर यों कहने लगा सशोक
रोक कर मेरी मति-गति को :
मनुज का मिथ्या है अभिमान
जान कर मेरी दुर्गति को !
कभी दिन मेरे भी थे, हाय !
मुझे लेकर प्रिय ने कर में
प्रियतमा का था अर्पण किया
रीझ कर उस सूने घर में ।

देखने को उस के अनमोल
गाल पर लोलुपता लट की ,
रसीली चितवन का उन्माद ,
मनोहरता मुसकाहट की ,
प्रियतमा ने पाकर एकान्त
चूम कर हर्ष मनाया था—
जान कर प्रियतम की प्रिय वस्तु
हृदय से मुझे लगाया था ।

एक मुग्धा के कोमल हाथ
पोंछते थे मेरे मुख को ,
हार पहनाते थे कर प्यार—
कहूँ मैं कैसे उस सुख को !

कामिनी कर के जब श्रृंगार
पास प्रियतम के जाती थी,
प्रथम मेरी अनुमति के लिए
निकट मेरे नित आती थी।

सभी अंगों में उस के नित्य
छलकता था मद यौवन का,
अजब था रंग प्रेम से तृप्त
अधखुले पंकज - लोचन का।
अधर पर उसके मृदु मुसकान
निरन्तर क्रीड़ा करती थी,
दृगों में प्रियतम की छवि नित्य
बिना विश्राम विचरती थी।

दूध की सरिता-सी अति शुभ्र
पंक्ति थी दांतों की ऐसी,
जुड़ी हो तारापति के पास
सभा ताराओं की जैसी।
मनोहर उस का अनुपम रूप
हृदय प्रियतम का हरता था।
जभी मिलती थी मैं जी खोल
प्रशंसा उस की करता था।

कभी प्राणेश्वर के गल-बाँह
डाल कर वह मुसकाती थी,
गाल से प्रिय का कन्धा दाब
खड़ी फूली न समाती थी।
कराती थी मुझ से वह न्याय—
'मुकुर! निष्पक्ष सदा तुम हो,

अधिक किस के मन में है प्रेम ,
हमारी आँखें देख कहो !'

गर्व उस का सुन अधर, कपोल ,
चिबुक को अगणित चुम्बन से
तृप्त कर प्रणयी निज सर्वस्व
वारता था विमुग्ध मन से ।
देखता था मैं नित यह दृश्य
मुझे निद्रा कब आती थी ?
हृदय मेरा खिल उठता था
सामने वह जब आती थी ।

हृदय था उसका ऐसा सरल
प्रकृति में भी थी सुन्दरता ।
वसन तन वदन देख कर मलिन
कभी मैं निन्दा भी करता ,
मानती थी न बुरा तिल-मात्र ,
न आलस या हठ करती थी ;
स्वच्छ सुन्दर बन कर तत्काल
देख कर मुझे निखरती थी ।

काम में रहती थी निज व्यस्त ,
न वह क्षण-भर अलसाती थी ,
ध्यान में प्रियतम के नित मस्त
इधर जब आती जाती थी ।
ठहर कर आँचल से मुँह पोंछ
प्यार से देख विहँसती थी ,
देखती थी आँखों में मूर्त्ति
प्राणधन की जो बसती थी ।

रहे थोड़े ही दिन इस भाँति
परम सुख से दोनों घर में ।
अचानक यह सुन पड़ी पुकार
राष्ट्रपति की स्वदेश-भर में :
'कष्ट अब पर-पद-दलित स्वदेश-
भूमि में अन्तिम सहने को ,
चलो, वीरो, बन कर स्वाधीन
जगत में जीवित रहने को ।'

प्रियतमा का वह प्राणाधार
मनस्वी युवकों का नेता—
राष्ट्रपति की पुकार को व्यर्थ
भला वह क्यों जाने देता ?
बड़ा भावुक था उस का हृदय
निरन्तर मग्न वीर-रस में ,
देश पर मरने का उत्साह
भरा था उस की नस-नस में ।

सुखों का बन्धन क्षण में तोड़
देश के प्रति अति आदर से ,
राष्ट्रपति की पुकार पर वीर
प्रथम वह निकला था घर से ।
तभी से वह अबला दिन-रात
घोर चिन्ता में बहती थी ;
विजय की खबरों को दे कान
प्रतीक्षा में नित रहती थी ।

एक दिन बड़े हर्ष के साथ
राष्ट्रपति ने स्वदेश-भर में

घोषणा की कि 'वीर ने घोर
युद्ध कर भीषण संगर में,
विजय हम सब को देकर पूर्ण,
चूर्ण कर रिपुओं के मद को,
छोड़ कर यह नश्वर संसार
प्राप्त कर लिया परम पद को।'

उसी दिन, उसी घड़ी से, हाय!
न मैं ने फिर उस को देखा।
छिप गयी कहाँ अचानक, हाय!
रूप की वह अनुपम रेखा!
न तब से फिर आयी इस ओर
भूल कर के भी वह बाला,
पवन ने मेरे मुँह पर धूल
झोंक अन्धा भी कर डाला।

दुलारों में नित पली हुई
प्रेम की प्रतिमा वह प्यारी,
खिलौना इस घर की वह, हाय!
कहाँ है सरला सुकुमारी!
अरे! मेरी यह दीन पुकार
कहीं यदि सुनता हो कोई,
मुझे दिखला दे मेरा प्राण—
जगा दे फिर किस्मत सोयी!

नहीं तो कर दे कोई मुक्त
विरह-ज्वर से सत्वर मुझ को,
मिटा दे मेरा यह अस्तित्व
पटक कर पत्थर पर मुझ को!

न जाने कब से चिन्ता मग्न ,
      विरह-विधुरा, भूखी-प्यासी ,
कहाँ होगी वह विह्वल, व्यथित ,
      हाय ! करुणा की कविता-सी !

द्विविधा

हरित तलहटी में गिरिवर की
      समतल निर्झर-ध्वनित धरा पर ,
छाया में अति सघन द्रुमों की
      बैठ विशद हरिताभ शिला पर ,
जाता हूँ मैं भूल जगत् को
      बार-बार अनिमेष देख कर
रूप-गर्विता प्राणप्रिया के
      यौवन-मद-विह्वल दृग सुन्दर ।

किन्तु उसी क्षण क्षुधा-निपीडित
      शिशुओं के क्रन्दन से कातर ,
कहीं जीविका की तलाश में
      गये हुए प्रियतम के पथ पर
लगे हुए निज दीन देश के
      अगणित नेत्र, आँसुओं से तर ,
आ जाते हैं दौड़ सामने :
      ले जाते हैं सब उमंग हर ।

*   *

उमड़-घुमड़ कर जब घमंड से
      उठता है सावन में जलधर ,

हम पुष्पित कदम्ब के नीचे
झूला करते हैं प्रति वासर ,
तड़ित्-प्रभा या घन-गर्जन से
भय या प्रेमोद्रेक प्राप्त कर ,
वह भुज-बन्धन कस लेती है—
यह अनुभव है परम मनोहर ।

किन्तु उसी क्षण वह गरीबिनी
अति विषादमय जिस के मुँह पर
घुने हुए छप्पर की भीषण
चिन्ता के हैं घिरे वारिधर ,
जिस का नहीं सहारा कोई ,
आ जाती है दृग के भीतर :
मेरा हर्ष चला जाता है
एक आह के साथ निकल कर ।

* * * *

वन-विहार में वह उपवन के
कोने से प्रसून-दल ले कर
दृष्टि फेंकती हुई शंकिता
हरिणी-सी द्रुम-लता-गुल्म पर
चपल पदों से आ कहती है
सस्मित, 'वेणी कस दो, प्रियतम !'
पूर्व-पुण्य से ही होता है
प्राप्त जगत् में यह सुख अनुपम ।

किन्तु उसी क्षण कोई मन में
कह उठता है : रे विमूढ़ नर !
उन का भी है ज्ञान तुझे जो
दिन-भर श्रम कर के जीवन-भर

प्रातःकाल सदा उठते हैं
निराधार, निर्धन, नत-मस्तक ?
मैं अदृष्ट की ओर देखने
लगता हूँ तब हाय ! एकटक ।

*　　　　*　　　　*

जाता हूँ मैं जल-विहार को
तरणी में तरुणी को ले कर ;
मैं खेता हूँ, वह गाती है
बैठ सामने मनोमुग्धकर ;
लहरा उठता है भूतल पर
विस्तृत यह सुषमा का सागर—
लय हो जाता हूँ मैं उस की
लय में विश्व-विलास भूल कर ।

किन्तु उसी क्षण जग-अरण्य में
जो अज्ञान - तिमिर के कारण
ज्ञान-ज्योति के लिए विकल हैं
ऐसे अगणित नर-नारी-गण
फिरने लगते हैं आँखों में :
मैं न हुआ क्यों मार्ग-प्रदर्शक ,
इस चिन्तावश तब लगता है
मुझ को अपना जन्म निरर्थक ।

*　　　　*　　　　*

पर्वत शिखरों का हिम गल कर ,
जल बन कर नालों में आ कर ,
छोटे-बड़े चीकने अगणित
शिला-समूहों से टकरा कर ,
गिरता, उठता, फेन बहाता ,
करता अति कोलाहल हर-हर ,

वीर-वाहिनी की गति से वह
बहता रहता है निशि-वासर ।

मानों जलदों के शिशुगण दल
बाँध, खेलते हुए परस्पर ,
अति उतावलेपन से चल कर
गोल पत्थरों पर गिर-गिर कर
उठते, करते नृत्य विहँसते
तथा मनाते हुए महोत्सव ,
सागर से मिलने जाते हैं
पथ में करते हुए महारव ।

इन का बाल विनोद देखते
हुए किसी तीरस्थ शिला पर
सतत सुगन्धित देवदारु की
छाया में सानन्द बैठ कर ,
सिर धर हरि के पद-पद्मों पर
कर के जीवन-सुमन समर्पण ,
बना नहीं सकता क्या कोई
अपने को आनन्द-निकेतन ?

पर हरि के पद पद्म कहाँ हैं ?
क्या सरिता के सुन्दर तट पर ?
नहीं, निराशा नाच रही है
जहाँ भयानक भूरि भेस धर—
निस्सहाय निरुपाय जहाँ हैं
बैठे चिन्ता मग्न दीन जन ,
उन के मध्य खड़े हरि के पद-
पंकज के मिलते हैं दर्शन ।

गयाप्रसाद शुक्ल ('सनेही' 'त्रिशूल')

भक्त की अभिलाषा

तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ,
तू है महासागर अगम मैं एक धारा क्षुद्र हूँ;
तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूँ,
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उस की तान हूँ।

तू है सुखद ऋतुराज तो मैं एक छोटा फूल हूँ,
तू है अगर दक्षिण पवन तो मैं कुसुम की धूल हूँ।
तू है सरोवर अमल तो मैं एक उस का मीन हूँ।
तू है पिता तो पुत्र मैं तव अङ्क में आसीन हूँ।

तू अगर सर्वाधार है तो एक मैं आधेय हूँ,
आश्रय मुझे है एक तेरा, श्रेय या आश्रेय हूँ।
तू है अगर सर्वेश तो मैं एक तेरा दास हूँ,
तुझ को नहीं मैं भूलता हूँ, दूर हूँ या पास हूँ।

तू है पतित पावन प्रकट तो मैं पतित मशहूर हूँ,
छल से तुझे यदि है घृणा, तो मैं कपट से दूर हूँ।
है भक्ति की यदि भूख तुझ को, तो मुझे तव भक्ति है,
अति प्रेम है तेरे पदों में, प्रेम है आसक्ति है।

तू है दया का सिन्धु तो मैं भी दया का पात्र हूँ,
करुणेश तू है, चाहता मैं नाथ करुणा-पात्र हूँ;
तू दीनबन्धु प्रसिद्ध है, मैं दीन से भी दीन हूँ,
तू नाथ! नाथ अनाथ का, असहाय मैं प्रभु-हीन हूँ।

तव चरण अशरण-शरण हैं, मुझको शरण की चाह है,
तू शीतकर है दग्ध को, मेरे हृदय में दाह है।
तू है शरद राकाशशी, मम चित्त चारु चकोर है,
सब ओर तज कर देखता वह और की कब ओर है।

हृदयेश ! अब तेरे लिए है हृदय व्याकुल हो रहा,
आ आ इधर आ शीघ्र आ, यह शोर यह गुल हो रहा।
यह चित्त चातक है तृषित, कर शान्त करुणा-वारि से,
घनश्याम तेरी रट लगी आठों पहर है अब इसे।

तू जानता मन की दशा, रखता न तुझ से बीच हूँ,
जो कुछ कि हूँ तेरा किया हूँ, उच्च हूँ या नीच हूँ।
अपना मुझे अपना समझ तपना न अब मुझ को पड़े,
तज कर तुझे यह दास जाकर द्वार अब किस के अड़े?

तू है दिवाकर तो कमल मैं, जलद तू मैं मोर हूँ,
सब भावनाएँ छोड़ कर अब कर रहा यह शोर हूँ।
मुझ में समा जा इस तरह तन प्राण का जो तौर है,
जिस में न फिर कोई कहे, मैं और हूँ तू और है।

सत्य की उपासना

सत्य सृष्टि का सार, सत्य निर्बल का बल है,
सत्य सत्य है, सत्य नित्य है, अचल अटल है।
जीवन सर में सरस मित्रवर यही कमल है;
मोद मधुर मकरन्द सुयश-सौरभ निर्मल है।
मन-मलिन्द मुनि-वृन्द के मचल-मचल इस पर गये,
प्राण गये तो इसी पर न्योछावर हो कर गये।

अटल सत्य का प्रेम भरे जिस नर के मन में;
पाये जो आनन्द आत्म-बल के दर्शन में।
पशुबल समझे तुच्छ खड्ग भूषण गर्दन में;
सनके भी जो नहीं गोलियों की सन-सन में।
जीवन में बस प्रेम ही जिस का प्राणाधार हो,
सत्य गले का हार हो इतना उस पर प्यार हो।

गयाप्रसाद शुक्ल ('सनेही' 'त्रिशूल')

तुम होगे सुकरात ज़हर के प्याले होंगे ;
हाथों में हथकड़ी पदों में छाले होंगे ।
ईसा से तुम और जान के लाले होंगे ,
होगे तुम निश्चेष्ट डस रहे काले होंगे ;
होना मत व्याकुल कहीं इस भवजनित विषाद से ,
अपने आग्रह पर अटल रहना बस प्रह्लाद से ।

होंगे शीतल तुम्हें आग के भी अंगारे ,
मर न सकोगे कभी मौत के भी तुम मारे ।
क्या ग़म है, गर छूट जायँगे साथी सारे ,
बहलावेंगे चित्त चन्द्र चमकीले तारे ।
दुख में भी सुख शान्ति का नव अनुभव हो जायगा ,
प्रेम-सलिल से द्वेष का सारा मल धो जायगा ।

धीरज देगी तुम्हें मित्रवर मीराबाई ;
प्रेम-पयोनिधि-थाह भक्ति से जिसने पायी ।
रही सत्य पर डटी प्रेम से बाज़ न आयी ,
कृष्ण-रंग में रँगी कीर्ति उज्ज्वल फैलायी ।
आयी भी उस की टली वह विष-प्याला पी गयी ,
मरी उसी की गोद में जिस को पा कर जी गयी ।

सत्य-रूप हे नाथ ! तुम्हारी शरण रहूँगा ;
जो व्रत है ले लिया लिये आमरण रहूँगा ।
ग्रहण किये मैं सदा आप के चरण रहूँगा ,
भीत किसी से और न है भयहरण ! रहूँगा ।
पहली मंजिल मौत है प्रेम-पन्थ है दूर का ,
सुनता हूँ मत था यही सूली पर मन्सूर का ।

——

स्वतन्त्रता

नन्दन की प्यारी छवि से तू प्रकृति पुरी को सजती है,
आती हैं स्वर्गीय तरंगें जब तव वंशी बजती है।
चिड़ियाँ गगनांगन में उड़ कर तेरे गीत सुनाती हैं;
देवी स्वतन्त्रते, गुण तेरे स्वर्ग-देवियाँ गाती हैं।

तेरे आराधक निर्भय हो निर्जन-वन में फिरते हैं,
तो भी वे ऊँचे चढ़ते हैं नीचे कभी न गिरते हैं।
तेरे दर्शन का सुख पा कर दुःख दूर हो जाते हैं,
सुन कर तेरी हाँक क्रूर भी परम शूर हो जाते हैं।

तुझ से विमुख विमुख जीवन से हो कर जग में रहते हैं,
पड़े दासता के बन्धन में नरक-यातना सहते हैं।
दब जाता अत्याचारों से उन का सिर झुक जाता है,
होता है निश्चय विनाश ही फिर विकास रुक जाता है।

तेरी ध्वनि सुनते हैं तो भी दुर्लभ दर्शन तेरे हैं,
विपदाओं से घिरे हुए हैं चेरों के भी चेरे हैं।
कर दे हमें सनाथ हाथ दोनों की ओर बढ़ा दे तू;
जीवन-रण में मिले सफलता ऐसा पाठ पढ़ा दे तू।

आओ आओ बढ़ो बन्धुगण स्वतन्त्रता-हुंकार सुनो,
अपने ही हाथों अब अपना करो करो उद्धार, सुनो।
स्वतन्त्रता देवी के पद पर यदि निज शीश चढ़ाओगे,
पाओगे सुख सुयश लोक में अन्त अमर पद पाओगे।

साहस तुम्हें स्वयं वह देगी बल हृदयों में आयेगा,
कोटि-कोटि कंठों का गर्जन अवनी-गगन कँपायेगा।
विकट दासता का बन्धन यह चूर-चूर हो जायेगा,
अरि-दल का अभिमान मिटेगा दैन्य दूर हो जायेगा।

गयाप्रसाद शुक्ल ('सनेही 'त्रिशूल')

वीर प्रताप शिवा के पद का निज हृदयों में ध्यान करो ,
हे भारत के लाल, पूर्वजों की कृति पर अभिमान करो ।
स्वतन्त्रता के लिए मरें जो उन का चिर सम्मान करो ,
हे 'त्रिशूल' अनुकूल समय यह अब अपना बलिदान करो ।

कर्मक्षेत्र

कूप, बावली, झील और कितने ही सर हैं ,
सरिताएँ सैकड़ों बहुत झरते निर्झर हैं ।
जिन का पय कर पान सभी के तालू तर हैं ,
चातक हैं चिरतृषित नहीं देखते उधर हैं ।
सुधावृष्टि ही क्यों न हो, उन को क्या परवाह है ?
है उन का संकल्प दृढ़ स्वाति-बुन्द की चाह है ।

हंसों ने कब दीन मीन पर चोंच चलायी ;
मरे क्षुधा से पर न घास सिंहों ने खायी ।
रवि कब शीतल हुआ ताप शशि में कब आयी ?
तेजस्वी संकल्प नहीं तजते हैं भाई ।
कभी छोड़ते हैं नहीं कर्मवीर निज आन को ,
अधिक जान से जानते स्वाभिमान, सम्मान को ।

उन की इच्छा-शक्ति जिधर को मुड़ जाती है ,
आ के दैवी शक्ति उधर ही जुड़ जात है ।
चौपट होते क्लेश भीति भी गुड़ जाती है ,
धज्जी-धज्जी विघ्न-वृन्द की उड़ जाती है ।
झंझा-पवन झकोर से गिरिवरगण झुकते नहीं ।
तृण-समूह की रोक के रोके नद रुकते नहीं ।

कर लें जो संकल्प पूर्ण ही कर के छोड़ें ;
निज करणी से कीर्ति भुवन में भर के छोड़ें ।
लहें सफलता या कि काम वह मर के छोड़ें ;
वीर नहीं जो टेक धरें फिर धर के छोड़ें ।
अपने दृढ़ विश्वास से, अपनी अविचल भक्ति से
कर सकते वे क्या नहीं अपनी इच्छा शक्ति से ।

होता भय से नहीं कलेजा उन का धकधक ,
सम्मुख उच्चादर्श उसी के हैं आराधक ।
ठान लिया जो मन्त्र उसी के रहते साधक ,
डिगा न सकते उन्हें विघ्नगण बन कर बाधक ।
कुछ दिन में प्रतिकूल भी हो जाते अनुकूल हैं ,
काँटे उन के मार्ग में बिछते बनकर फूल हैं ।

हल विवेक का लिये बैल निज बल के जोड़े ;
देह गेह का मोह नहीं मानो मुँह मोड़े ।
साधन है किस कदर, बहुत हैं या हैं थोड़े ,
इस की चिन्ता नहीं भीतियाँ भव की छोड़े ।
साहस रक्खे हृदय में विमल ज्योति युग-नेत्र में ।
फल आशा बलवती रख आते कर्मक्षेत्र में ।

सम करते हैं विषम भूमि को अपने कर से ,
पुण्य-बीज बो लाभ उठाते हैं अवसर से ।
दया श्यामघन करें, नीर बरसे फिर बरसे ;
अगर न बरसे स्वयं सींचते खून जिगर से ।
पनप नहीं सकते जहाँ बेरी और बबूल हैं ।
कर्मवीर लेते वहीं अमृत भरे फल-फूल हैं ।

भारत भू उर्वरा बनी ऊसर-बंजर है ;
वह हरियाली कहाँ, धूल उड़ती घर-घर है ।

गयाप्रसाद शुक्ल ('सनेही' 'त्रिशूल')

आओ वीरो, बढ़ो, काम का यह अवसर है,
कहते हैं सब, कुछ बसन्त की तुम्हें खबर है ?
फूल फल रहे आज कल सकल देश संसार के।
यह बेचारा रह गया मानो पाला मार के।

भोले ऐसे हुए शक्ति अपनी भूले हैं,
भय झोंके से हृदय फिरे झूले झूले हैं।
रंग-रूप है ठीक नहीं लँगड़े-लूले हैं,
पर है नहीं सुवास विरस किंशुक फूले हैं।
इन के हृदयों में अगर सुदृढ़ आत्म-विश्वास हो,
आयें कर्मक्षेत्र में उन्नति और विकास हो।

आर्य्य अवनि के पुत्र दृढ़-व्रत हो कर आओ,
जीवन का उद्देश कुछ न कुछ तो ठहराओ।
कर्म करो अब कर्म, कर्म ही के गुण गाओ,
ठोको नहीं कपाल भाग्य निज स्वयं बनाओ।
जीवन है तो आइये नहीं शक्तियाँ घुन गयीं,
फिर पछताना क्या कि जब खेती चिड़ियाँ चुन गयीं!

——

क्रान्ति में शान्ति

घूमता कुलाल-चक्र कितनी ही तीव्रता से,
एक रेखा सुस्थिर, छिपी है चक्रफेरे में।
छिपी रहती है मन्द मुसकान-छवि छाया,
भाग्य-भामिनी के तीखे तेवर-तरेरे में।
आशा-द्वार खुलते भी लगती नहीं है देर,
डालती निराशा जब चित्त घोर घेरे में।

क्रान्ति में 'सनेही' एक शान्ति का निवास छिपा ,
प्रबल प्रकाश छिपा अधिक अँधेरे में ।

वह और हम

वह बेपरवाह बनें तो बनें, हमको इस की परवाह का है ?
वह प्रीति का तोड़ना जानते हैं, ढँग जाना हमारा निबाह का है ;
कुछ नाज़ जफ़ा पर है उन को, तो भरोसा हमें बड़ा आह का है ;
उन्हें मान है चन्द्र से आनन पै, अभिमान हमें भी तो चाह का है !

लड़कपन

चित्त के चाव, चोचले मन के ,
वह बिगड़ना घड़ी-घड़ी बन के ।
चैन था, नाम था न चिन्ता का ,
थे दिवस और ही लड़कपन के ।

रूठ जाना कभी न छल जाना ,
पाप का पुण्य का न फल जाना ।
प्रेम वह खेल से खिलौनों से ,
चन्द्र तक के लिए मचल जाना ।

चन्द्र था और और ही तारे ,
सूर्य भी और थे प्रभा धारे ।
भूमि के ठाठ कुछ निराले थे
धूलि-कण थे बहुत हमें प्यारे ।

गयाप्रसाद शुक्ल ('सनेही' 'त्रिशूल')

सब सखा शुद्ध चित्त वाले थे ,
प्रौढ़ विश्वास, प्रेम पाले थे।
अब कहाँ रह गईं, बहारें वे
उन दिनों रंग ही निराले थे ।

सूर्य के साथ ही निकल जाना ,
दिन चढ़े घूम-घाम घर आना ।
काम था काम से न धन्धे से
काम था सिर्फ़ खेलना खाना ।

फिर मिला इस तरह नया जीवन ,
पुस्तकों में पड़ा लगाना मन ।
मिल चले जब कि मित्र सहपाठी
बन गया एक बाग़ बीहड़ बन ।

भार यद्यपि कठिन उठाना था ,
किन्तु उद्योग ठीक ठाना था ।
हौसिले से भरा हुआ मन था ,
और दिन, और ही ज़माना था ।

अब दशा वह कहाँ रही मन की ,
फ़िक्र है धर्म, धाम, तन, धन की ।
एक घूँसा लगा गई दिल पर ,
याद जब आ गयी लड़कपन की ।

——

कोयल

काली कुरूप कोयल क्या राग गा रही है ,
पंचम के स्वर सुहावन सब को सुना रही है ।

इस की रसीली वाणी किस को नहीं सुहाती ?
कैसे मधुर स्वरों से तन-मन लुभा रही है।
इस डाल पर कभी है उस डाल पर कभी है,
फिर कर रसाल-वन में मौजें उड़ा रही है।
सब इस की चाह करते सब इस को प्यार करते,
मीठे वचन से सब को अपना बना रही है।
है काक भी तो काला कोयल से जो बड़ा है,
पर काँव-काँव इस की दिल को दुखा रही है।
गुण पूजनीय जग में होता है बस, 'सनेही',
कोयल यही सुशिक्षा सब को सिखा रही है।

काली रात

घनघोर हैं घटाएँ तम-तोम छा रहा है,
हर एक तरु निशाचर-सा दृष्टि आ रहा है।
काली विभावरी ने अन्धेर है मचाया,
जी में उलूक तक के भयभूरि है समाया।
चिंघाड़ते द्विरद हैं चीते दहाड़ते हैं,
तरु धैर्य्य का हृदय के वन से उखाड़ते हैं।
भूला हुआ सुपथ हूँ भटका हुआ गहन में,
किस पन्थ का पथिक हूँ यह भी रहा न मन में।
वन-जन्तु हैं भयंकर ऊधम न ये मचायें,
मैं एक, और सम्मुख शतकोटि आपदाएँ।
बिजली चमक रही है यद्यपि प्रकाश-कर है,
पर कालरूपिणी है इस से अतीव डर है।
फिर भी हृदय बली है आशा न छोड़ता है,
खाता हज़ार ठोकर पर मुँह न मोड़ता है।

गयाप्रसाद शुक्ल ('सनेही' 'त्रिशूल')

सारे झमेले झंझट वह यों निबेड़ता है,
रह-रह घड़ी-घड़ी पर यह तान छेड़ता है।
'धीरज न छोड़ देना कुसमय न यह रहेगा,
होगा प्रकाश घर-घर तू फिर सुपथ लहेगा।'

मूज़ी का मर्सिया

हाय क्या देश का तुम भला कर चले,
तुम को करना था क्या, और क्या कर चले!
लो लटे लोभ से लौ लगा कर चले,
दीन दुखिया जनों को सता कर चले।
माल दीनों का अपना बना कर चले,
मानो सम्पत्ति सर पर उठा कर चले।
निर्दयीपन सभी को दिखा कर चले,
आज दुनिया पै मानो दया कर चले।
भोग में भाग अपना बँटा कर चले,
देश-दुर्भाग्य मानो भगा कर चले।
भाँड-भडुओं को अपना सगा कर चले,
क्या धता कोविदों को बता कर चले।
दुष्ट दुष्कर्मियों को रुला कर चले,
कालिमा अपने मुँह में लगा कर चले।
पाप पूरी तरह से कमा कर चले,
पूर्व संचित सुकृत सब गँवा कर चले।
ग़नीमत कि अब भी हया कर चले,
मुँह कफ़न से जो अपना छुपा कर चले।

भयंकर युद्ध

समरानल धर प्रलय रूप-सा धधक रही है ,
रण में जाते हुए कालिका झिझक रही है ।
भूत प्रेत भयभीत, योगिनी सटक गयी है ।
हर-माला बढ़ अतल वितल तक लटक गयी है ।
घन-गर्जन कर धाँय-धाँय गोले चलते हैं ,
धुआँधार हैं ग्राम, नगर, जंगल जलते हैं ।
होता उल्कापात कि भीषण बम गिरते हैं ,
डर के मारे भगे चील-कौवे फिरते हैं ॥

नज़र आ रही नहीं अन्य चिड़िया भी कोई ;
विषमय गैसें सूँघ प्रकृति मानो है सोयी ।
काल-रात्रि का दृश्य नज़र आता है दिन में ;
ऐसा भय-प्रद घोर तिमिर छाता है दिन में ।
सैनिक सहमे नहीं तनिक भी विपद् कड़ी में ,
पल-पल पर है काल, मृत्यु है घड़ी-घडी में ,
सम्मुख बढ़ते हुए शत्रु जब आ जाते हैं ,
बढ़ कर यह भी परम पराक्रम दिखलाते हैं ।

सन-सन करती हुई गोलियाँ गन से आतीं ,
मानो कहती हुई बिज़न है ज़न से आतीं ।
हाथ किसी का उड़ा किसी का सर जाता है ,
शोणित से मैदान लबालब भर जाता है ।
हुई अगर मुठभेड़ चली संगीन खचाखच ,
हुई मेद से पूर्ण मेदिनी नाम हुआ सच ।
दस्ती बम ने कहीं किसी को झुलस दिया है ,
कुकड़ी ही ने कहीं गज़ब का काट किया है ।

कोई चित है पड़ा कहीं कोई है औंधा ;
चौंधाती है आँख देख कर असि का कौंधा ।
घमासान रण मचा वीर ऐसे अड़ते हैं ,
आगे पड़ते या कि स्वर्ग में पद पड़ते हैं ।
धन्य-धन्य वे वीर मातृ-भू के हित मरते ,
निज बल-भर भरपूर शूर की करणी करते ।
अमरपुरी में अमर बने बस वहीं विचरते ;
कायर सुन कर नाम मात्र ही मन में डरते ।
विषम समर का ध्यान भूत-सा उन पर चढ़ता ,
भाँति भाँति की नयी-नयी खबरें है गढ़ता ।
पर पौरुष कुछ नहीं धुकधुकी धक्-धक् होती ,
इन से करना वाद मुफ्त की झक-झक होती ।

शैदाए-वतन

हम भी दिल रखते हैं सीने में जिगर रखते हैं ,
इश्को सौदाए वतन रखते हैं, सर रखते हैं ।
माना यह, ज़ोर ही रखते हैं न ज़र रखते हैं ,
वलवला जोशे मुहब्बत का मगर रखते हैं ।
कंगुरा अर्श का आहों से हिला सकते हैं ,
खाक में गुम्बदे-गरदूँ को मिला सकते हैं ।
शौक जिन को हो सताने का सतायें आयें ,
दूबदू आ के हों, यों मुँह न छिपायें, आयें ।
देख लें मेरी वफ़ा, आयें जफ़ाएँ आयें ,
दौड़ कर लूँगा बलाएँ मैं बलाएँ आयें ।
दिल वह दिल ही नहीं जिस में कि भरा दर्द नहीं ।
सख्तियाँ सब्र से झेलें न जो वह मर्द नहीं ।

क़ैस है पर किसी लैली के गिरिफ़्तार नहीं,
कोहकन है किसी शीरीं से सरोकार नहीं।
ऐसी बातों से हमें उन्स नहीं, प्यार नहीं,
हिज्र के, वस्ल के किस्से हमें दरकार नहीं।
जान है उस की पला जिस से यह तन अपना है।
दिल हमारा है बसा उस में, वतन अपना है।
यह वह गुल है कि गुलों का भी वकार इन से है,
चमने-दहर में यक ताजा बहार इस से है।
बुलबुले-दिल को तसल्ली औ करार इस से है,
बन रहा गुल्चीं की नज़रों में यह ख़ार इस से है।
चर्खं-कजबाज़ के हाथों से बुरा हाल न हो,
यह शिगुफ़्ता रहे हर दम, कभी पामाल न हो।
आरज़ू है कि उसे चश्मए-ज़र से सींचे,
बन पड़े गर तो उसे आबे-गुहर से सींचे,
आबे-हैवाँ न मिले दीदए-तर से सींचे,
आ पड़े वक्त तो बस खूने-जिगर से सींचे।
हड्डियाँ रिज्के-हुमा बन के न बरबाद रहें।
घुल के मिट्टी में मिलें, खाद बनें, याद रहें।
हम सितम लाख सहें शायक़े-बेदाद रहें,
आहें थामे हुए, रोके हुए फ़रियाद रहें।
हम रहें या न रहें, ऐसे रहें याद रहें,
इस की परवा है किसे शाद कि नाशाद रहें।

क़ौमी ग़ज़ल

मुनक़्क़श अपने दिल पर हिन्द की तस्वीर होने दो।
क़दम से उस के अपने सीने पर तनवीर होने दो।

गयाप्रसाद शुक्ल ('सनेही' 'त्रिशूल')

कभी उलझन न डालो क़ौम के कामों में तुम कोई
तुम्हारे दर्दोग़म की होती है तदबीर, होने दो।
बढ़ाये रक्खो हिम्मत, बुज़दिली को मत फटकने दो,
न इस को अपने पावों की कभी ज़ंजीर होने दो।
चलन से, इल्म से, ग़ैरत से, हिम्मत से, शुजाअत से
न मुल्को-कौम की हर्गिज कहीं तहक़ीर होने दो।
अगर आये हो दुनियाँ में उठाओ लुत्फ़े-आज़ादी।
किसी के हाथ में तुम अपनी मत तक़दीर होने दो।
बहुत लिक्खे गये अफ़साने इश्क़ौ-उन्सो-उल्फ़त के,
हिकायत हुब्बे-कौमी की भी अब तहरीर होने दो।
करो ख़िदमत वतन की शौक़ से, दिल से, मुहब्बत से।
न मुल्की काम में कोई कभी तक़सीर होने दो।
बहुत वादे टले हैं अह्दो-पैमाँ का भरोसा क्या!
तलब अपने करो हक़ तुम न अब ताख़ीर होने दो।
न रोको क़ल्क की आवाज़ तुम रोशनज़मीरी से,
किसी को है अगर इस अम्र में तक़रीर, होने दो।
मज़े लो दर्द के रह-रह के मुल्को-कौम के गम में,
जिगर के पार तो अपने ज़रा यह तीर होने दो।
तुम्हारी आहो-ज़ारी यह कभी ज़ाया न जायेगी
खिंच आयेगी खुद आज़ादी ज़रा तासीर होने दो।

गरीबों की गुहार

जल-धारा की जगह जमी है ज्वलित जलाकें—
दशों दिशाएँ अग्निमयी हैं, किस दिश ताकें!
है वह भीषण धूप पड़े तप कर मृग काले,
चीलें अण्डे छोड़ रही हैं जी के लाले।

यह वर्षा है या प्रलय, संसृति या संहार है।
कान फोड़ता हर तरफ़ भीषण हाहाकार है॥
आँखें काढ़े दिवानाथ नित आ जाते हैं,
जले हुओं पर और आग बरसा जाते हैं,
धान, बाजरा, ज्वार, उड़द, कांकुनी, मकाई,
जिह्वा सूखी दिखा रहे, पर हा! निठुराई।
जल छीटों की जगह पर लगे तमाचे धूप के—
क्रूर हो गये श्याम घन तुम भी हो किस रूप के!
मेवों के है मोल मटर की बिक्री आयी,
बनियों की बेतरह आज कल है बनियाई,
हैं किसान मज़दूर भूख के मारे मरते,
तृण भी सूखा हाय! नहीं उस को ही चरते,
विकट समय है आ गया महा कठिन जीना हुआ।
पड़े विपद पर विपद शर छलनी अब सीना हुआ।
इधर पेट को नहीं उधर आती है सरदी,
कपड़ों का यह हाल काल की यह बेदरदी।
तन ढँकने को नहीं लँगोटी फटी हुई है,
जीने से ही चित्तवृत्ति अब हटी हुई है।
अकड़ अकड़ असहाय, हा! कितने ही मर जायँगे।
उजड़ा ही था देश अब और उजड़ घर जायँगे!
कौन-कौन-सी विपद् गिनायें, पार नहीं है,
बिना मृत्यु अब और भाँति उद्धार नहीं है।
मरे भूख से तड़प-तड़प अपलोक यही है,
उस वसुधा के पुत्र हाय! अब शोक यही है-
जो सारे संसार का पालन नित करती रही,
दे कर अपना अन्न जो अन्य उदर भरती रही।
अर्थ-पिशाच अनेक अन्न भर कर रक्खे हैं,
दिन दिन महँगा बिके और उर घर रक्खे हैं।
ईश्वर का भी नहीं हृदय में डर रक्खे हैं,
बड़े मुदित हैं, पाप-भार सिर पर रक्खे हैं।

इन को इस से क्या ग़रज़, क्या अधर्म क्या धर्म है ?
जैसे भी हो धन मिले यही ज्ञान का मर्म है ।
उधर जुए का लिये वस्त्र-व्यापारी पट्टा,
बाज़ी बद-बद रोज़ किया करते हैं सट्टा ।
खुलती गाठें नहीं पड़े कपड़े सड़ते हैं,
भर के अपने भवन ग़रीबों को हड़ते हैं ।
सब साधन रहते हुए भी कैसी पड़ी झमेल है
होता चिड़ियों का मरण लड़कों का तो खेल है ।
हे भगवन् अब दया-वारि-धारा बरसाओ,
या तो करुणा करो स्वयं रक्षा को आओ ।
या लोगों के हृदय मध्य कुछ सुमति जगाओ,
या हे शंकर ! प्रलय करो, भवताप मिटाओ ।
लो 'त्रिशूल' निज हाथ में दुख का कर संहार दो—
नाव डगमगा रही है इसे लगा अब पार दो !

कृषक-क्रन्दन

सुनो कृपानिधि दीन कृषक की रामकहानी
किस प्रकार मन मार हार मरने की ठानी,
कैसा बीता बालपना किस भाँति जवानी,
क्यों कुसमय में हाय ! मृत्यु सर पर मँडलानी ?
किस प्रकार इस दुखी हृदय में छेद हुआ है
कितना लहू सफ़ेद प्रेम-विच्छेद हुआ है ।

भरा-पुरा था भवन, धान्य-धन था, क्या कम था ?
धन्धा कोई और न था खेती उद्यम था ।
भैसें थीं दो-तीन, दूध मिलता हरदम था ।
मैं बालक था मुझे कभी कुछ रंज न ग़म था ।

जीवित था जब पिता सफल मेरा जीना था ।
काम यही, बस खेल-कूद, खाना-पीना था ।

पंडित-मुल्ला ऊँचा रंग सब ही का फीका ,
कभी मुहल्ला रटा न मैंने भैया जी का ।
मुझे भरोसा रहा सिर्फ माता धरती का ,
पढ़ना-लिखना जान पड़ा घातक है जी का ।
फाल गिनी निब, हरिस होल्डर समझा मैंने—
करिया अक्षर भैंस बराबर समझा मैंने ।

पेली सौ-सौ डण्ड जवान मुचण्ड हुआ मैं ,
करता दिल से रहा खेत के लिए दुआ मैं ।
होते अगर न बैल खींचता स्वयं जुआ मैं ।
कहता घर में 'देख, बली हूँ बड़ा, बुआ, मैं ।'
रग-रग में क्या कहूँ जोश जो भरा हुआ था ।
देख-देख कर मुझे पिता भी हरा हुआ था ।

हाय ! अचानक काल-चक्र ने चक्कर खाया ,
चूहे मरने लगे प्लेग जब घर में आया ।
पिता पड़े बीमार, दौड़ कर वैद्य बुलाया ,
नाउत आये, मान-दान सब कुछ करवाया ,
हुआ मगर सब व्यर्थ, पिता जी स्वर्ग सिधारे ।
रही न दमड़ी पास रह गये हम अधमारे ॥

* * *

रही चेत की आस खेत पर डेरा डाला ;
रह कर आठों पहर बना उसका रखवाला ।
हाय ! दैव ने सभी तरह मेरा घर घाला—
महा विषम पड़ गया रात को यक दिन पाला !
हरे-हरे सब खेत देख कर होते पीले ।
रहे न होश दुरुस्त हो गये बन्धन ढीले ।

गयाप्रसाद शुक्ल ('सनेही' 'त्रिशूल')

सींच-साँच भी दिया मगर कुछ काम न निकला—
बेच-बाँच जो लगा दिया वह दाम न निकला।
मुँह को आता लिया कलेजा थाम, न निकला ;
कभी और कुछ सिवा राम का नाम न निकला।
लट्ठ हाथ में लिये द्वार पर शहना आया,
भूसा-घासा बेंच पोत उस को भुगताया।

राम-राम कर किसी तरह वर्षा फिर पायी,
ज्वार, बाजरा, धान, मका की हुई बोवाई।
सूखा सावन रहा भरा भादों भी भाई,
पानी कैसा, एक बूँद भी कहीं न आयी।
हाय! कहूँ क्या, कहीं ठिकाना रहा न बाकी—
खेत खा गया सभी कि दाना रहा न बाकी।

आते ही बस क्वाँर वार पर वार हुए फिर,
पटवारी यम, ज़िलेदार तैयार हुए फिर।
हा! हा! सोलौं कर्म, कर्म अनुसार हुए फिर—
पड़ी मार पर मार, उज्र बेकार हुए फिर!
बैल बेंच कर हाय! चवन्नी फिर भुगताई,
पटवारी की भेंट किया कुछ, जान छुड़ाई।

मगर हाय! दुर्दैव दुष्ट ने पिण्ड न छोड़ा—
बेदखली का लगा और मुझ पर यक कोड़ा।
देता फिरता घूस कहाँ से लाता तोड़ा?
दौड़ा जिस के पास गया उसने मुँह मोड़ा!
राजा साहब रहे एक कहने को बाकी,
हो कर महा अधीर शरण उन की भी ताकी।

रोया-धोया बहुत उन्हें पर दया न आयी।
देखे मेरे दाँत उन्होंने आँख दिखाई।

अपना मालिक कहूँ उन्हें या कहूँ कसाई,
हाय ! निकाला गया, मार भी मैंने खायी।
वज्र हृदय हो गया, दीनता पर न पसीजा।
दौड़ा-धूपा बहुत, मगर यह हुआ नतीजा।

बहुत रो चुका, हाय ! भाग्य को रोता क्या अब !
सूखा था सब खेत, भला मैं बोता क्या अब !
आँसू ही थे बहुत खोदता सोता क्या अब ?
दौड़ धूप में समय टला तब होता क्या अब।
आया अगहन गहन अधकरी है भुगताना,
मुझ को है खल रहा रोज़ डेरे में जाना।

होते ही बस शाम सिपाही आ जाते हैं,
गाली, जूता, लात रोज ही बरसाते हैं।
सब के सब बेदर्द, दया कब वह लाते हैं—
पाते हैं कुछ नहीं, ख़ार इस से खाते हैं।
देवे कौन उधार, महा नादार हुआ हूँ,
खाता हूँ नित मार हाय बे-मौत मुआ हूँ।

मज़दूरी से गुजर किसी विध कर लेता हूँ,
किसी तरह से उदर-दरी को भर लेता हूँ।
अँकरा, मकरा, मोठ, मसूर, मटर लेता हूँ,
उतने ही में बाँट बराय सपर लेता हूँ।
सालन बथुआ मिला कि मेथी मिल जाती है,
कहीं शाम तक एक पनेथी मिल जाती है।

जब चिल्लाकर भूख-भूख बालक रोते हैं,
टुकड़े सौ-सौ हाय कलेजे के होते हैं।
क्या दुखिया के पूत कभी सुख से सोते हैं ?
रोते हैं, मुँह सदा आँसुओं से धोते हैं।

जब घर में कुछ न हो कहो कोई क्या राँधे ?
रहते सारा दिवस हाय यों ही मुँह बाँधे ।

चोरी या छल करूँ, ये मेरा काम नहीं है,
धन्धा कोई करूँ ? गाँठ में दाम नहीं है !
जाऊँ अब मैं कहाँ, कहीं विश्राम नहीं है,
जीना दूभर हुआ, कभी आराम नहीं है ।
थी जो मुआफ़ी एक सो वह भी जब्त हुई है ।
सभी तरह से अक्ल हाय रे ! खब्त हुई है ।

क्यों होती यह दशा अगर मैं कृषक न होता !
होता मैं मजदूर, जोतता और न बोता ।
सहता क्यों यों मार आबरू मुफ्त न खोता—
दिन भर करता काम, रात में सुख से सोता ।
क्यों बिकती यों हाय मुफ्त में लोटा-थाली,
क्यों खाता यों बात-बात पर हरदम गाली !

हे करुणानिधि ! कृपा करो, यह दशा निहारो,
कौन हमारा और यहाँ पर, आप विचारो ।
गज की भाँति विपत्ति फन्द से मुझे उबारो ।
हे प्रभु विपदाहरण ! दीन के दुःख निवारो ।
दयानिधे ! अब रही देश में दया न बाकी ।
मनुष्यत्व है कहाँ ? कहीं है हया न बाकी ।

* * * *

——

चले

वीरता अपनी तुम दिखा के चले,
नाक जड़ से यहाँ कटा के चले ।

चोट वैरी न खा सके तुम से ,
चाट के धूल, मुँह की खा के चले ।

एक से दिल नहीं लगा के चले ,
प्रेम का क्या मज़ा उठा के चले ।
क्यों मधुप तुम न बन गये चातक ,
कंज को छोड़ भनभना के चले ।

छोड़ निज देश छटपटा के चले ,
चित्त इस लोक से हटा के चले ।
किन्तु अपने हृदय से पूछो तो ,
किस का तुम कितना दुख बँटा के चले ।

आये रोते हुए, रुला के चले ,
लोक में खूब हँस-हँसा के चले ।
आये तब हर्ष से हँसाया था ,
आज खुद हँसते खिलखिला के चले ।

हाथों संसार के ठगा के चले ,
पुण्य लाये थे, पाप पा के चले ।
समझे व्योहारी किन्तु ठग निकला ,
हाथ की पूँजी भी गँवा के चले ।

दम्भ से खूब सज-सजा के चले ,
द्वेष की दुन्दुभी बजा के चले ।
गज पै उचके थे, चढ़ गये खर पर ,
अन्त में नाम ही धरा के चले ।

लौ सदा देश से लगा के चले ,
धर्म्म मनुजत्व का निभा के चले ।

गयाप्रसाद शुक्ल ('सनेही' 'त्रिशूल')

आदमी को यही मुनासिब है ,
खूब आपस में मिल-मिला के चले ।

सरकशी से न सर उठा के चले ,
नाक-सी भी न पर कटा के चले ।
ऐ बुढ़ापा ! बुरा हो तेरा हाय ,
सर नहीं अब कमर झुका के चले ।

कानों को फोड़ दिल दुखा के चले ,
लीजिए बन्दगी बजा के चले ।
हैं प्रतापी सुकवि कलापी से ,
हम भी टें टें, उन्हें सुना के चले ।

———

गोपालशरण सिंह

ब्रज-वर्णन

आते जो यहाँ हैं ब्रज-भूमि की छटा वे देख,
नेक न अघाते होते मोद-मद-माते हैं।
जिस ओर जाते उस ओर मनभाये दृश्य,
लोचन लुभाते और चित्त को चुराते हैं।
पल-भर को वे अपने को भूल जाते सदा,
सुखद अतीत-सुध-सिन्धु में समाते हैं।
जान पड़ता है उन्हें आज भी कन्हैया यहाँ,
मैया-मैया टेरते हैं, गैया को चराते हैं।

करते निवास छवि-धाम घनश्याम-भृंग,
उर-कलियों में सदा ब्रज-नर-नारी की।
कण-कण में हैं यहाँ व्याप्त दृग-सुखकारी,
मंजु मनोहारी मूर्ति मंजुल मुरारी की।
किस को नहीं है सुध आती अनायास यहाँ,
गोवर्धन देख कर गोवर्धन-धारी की?
न्यारी तीन लोक से है प्यारी जन्म-भूमि यही,
जन-मन-हारी वृन्दा-विपिन-विहारी की।

अंकित ब्रजेश की छटा है सब ठौर यहाँ,
लता-द्रुम-वल्लियों में और फूल-फूल में।
भूमि ही यहाँ की सब काल बतला-सी रही,
ग्वाल-बाल संग वह लोटे इस धूल में।
कल-कल रूप में है वंशी-रव गूँज रहा,
जा के सुनो कलित कलिन्दजा के कूल में।
ग्राम-ग्राम धाम-धाम में हैं घनश्याम यहाँ,
किन्तु वे छिपे हैं मंजु मानस-दुकूल में।

गूँज रही आज भी सभी के श्रवणों में यहाँ
रुचिर रसाल ध्वनि नूपुरों के जाल की।

भूल सकता है कोई ब्रज में कभी क्या भला ,
निपट निराली छटा चारु वनमाल की ।
समता मराल ने न नेक कभी कर पायी ,
मंजु मन्द-मन्द नन्द-नन्दन की चाल की ।
रहती दृगों में छायी उर में समायी सदा ,
छवि मन भायी बाल-मदन गोपाल की ।

अब भी मुकुन्द रहते हैं ब्रज-भूमि ही में ,
देखते यहाँ के दृश्य दृग फेर-फेर के ।
छिपे उर-कुंज में हैं वृन्दावन-वासियों के ,
थकते वृथा ही लोग उन्हें हेर-हेर के ।
चित्त-वृत्तियाँ हैं सब गोपियाँ उन्हीं की बनी ,
रहती उन्हीं के आस-पास घेर-घेर के ।
आठों याम सब लोग लेते हैं उन्हीं का नाम ,
मानों हैं बुलाते 'श्याम-श्याम' टेर-टेर के ॥

उमड़ रहा है प्रेम-पारावार मानस में ,
ब्रज-वनिताएँ कैसे बैठी रहें मान में ?
किस भाँति आज ब्रजराज से करें वे लाज ,
रहता सदैव है समाया वह ध्यान में !
मन में बसी है मूर्ति उसी मन-मोहन की ,
हिचकें भला वे कैसे रूप-रस-पान में—
मृदु मुरली की तान प्राण में है गूँज रही ,
कैसे न सुनेंगी उसे अँगुली दे कान में ?

जिसने विपत्तियों से ब्रज को बचाया सदा ,
दिव्य बल पौरुष दिखाया बालपन में ;
मार क्रूर कंस को स्वदेश का छुड़ाया क्लेश ,
सुयश-प्रकाश छिटकाया त्रिभुवन में ;

सब को सदैव सिखलाया शुचि विश्व-प्रेम ,
गीता को बनाया उपजाया ज्ञान मन में ;
दुख को हटाया सुख-बेलि को बढ़ाया, वह
श्याम मन भाया है समाया वृन्दावन में ।

वही मंजु मही, वही कलित कलिन्दजा है ,
ग्राम और धाम भी विशेष छवि-धाम हैं ।
वही वृन्दावन है, निकुंज द्रुम-पुंज भी है ,
ललित लताएँ लोल लोचनाभिराम हैं ।
वही गिरिराज, गोप-जन का समाज वही , -
वही सब साज-बाज आज भी ललाम हैं ।
ब्रज की छटा विलोक आता मन में है यही ,
अब भी यहाँ ही शुभ-नाम घनश्याम हैं ।

देते हैं दिखाई सब दृश्य अभिराम यहाँ ,
सुषमा सभी की सुध श्याम की दिलाती है ।
फूली फली सुरभित रुचिर द्रुमालियों से ,
सुरभि उन्हीं की दिव्य देह की ही आती है ।
सुयश उन्हीं का शुक-सारिका सुनातीं सदा ,
कूक-कूक कोकिला उन्हीं का गुण गाती है ।
हरी भरी दृग-सुखदायी मनभायी मंजु
यह ब्रज-मेदिनी उन्हीं की कहलाती है ।

सुखद सजीली सस्य-श्यामला यहाँ की भूमि ,
श्याम के ही रंग में रँगी है प्रेम-भाव से ।
रज भी पुनीत हुई उन के चरण छूके ,
शीश पर उस को चढ़ाते भक्त भाव से ।
पाप-पुंज-नाशी, उर-कमल-विकासी हुआ ,
यमुना-सलिल बस उन के प्रभाव से ।

कर दिया पूरा उसे वर वृन्दावन ने ही ,
जो थी कमी मेदिनी में स्वर्ग के अभाव से ।

हृदय की वेदना

नित हृदय जलाती अग्नि-सी वेदनाएँ—
मुझ पर अब सारी आ पड़ी हैं बलाएँ।
सब तरफ़ मुझे है दृष्टि आता अँधेरा ,
निशि-दिन रहता है खिन्न ही चित्त मेरा ।

दिन-दिन अब मेरी हो रही क्षीण देह ,
सुख-सदन न भाता है मुझे नेक गेह ।
मन अब लगता है हा ! कहीं भी न मेरा ,
दृग-युग-गृह में है अश्रु-धारा बसेरा ।

अगणित जग में हैं वस्तुएँ चित्तहारी ,
पर तनिक न कोई भी मुझे मोदकारी ।
हर दम मुझ को है घोर चिन्ता सताती ,
अहह तनिक निद्रा भूल के भी न आती ।

प्रकृति नित नयी ही मंजु शोभा दिखाती ,
निज रुचिर छटा से जी सभी का चुराती ।
सब तरफ अनोखे दृश्य हैं दृष्टि आते ,
पर तनिक मुझे वे क्यों नहीं हाय ! भाते ।

सुरभित बहता है मोददायी समीर ,
पुलकित करता है जो सभी का शरीर ।
मगर वह न थोड़ा भी मुझे है सुहाता ,
मधुर अमृत भी है दुःखियों को न भाता ॥

हृदय हर रहे हैं फूल के फूल नाना,
मन खग-कुल का है मोहता मंजु गाना।
छवि गिरि-वन-बागों की न क्या चित्तहारी,
मगर न मुझ को हैं नेक ये मोदकारी।

दुखमय दिन मेरे ये कटें हाय! कैसे?
अब बिलकुल होते ज्ञात ये कल्प जैसे।
अति दुखद मुझे है यामिनी भी कराला,
वह द्रुपद-सुता के चीर-सी है विशाला।

यद्यपि सतत मैं ने युक्तियाँ की अनेक,
तदपि अहह! तू ने शान्ति पायी न नेक।
उड़ कर तुझ को ले मैं कहाँ, चित्त! जाऊँ,
दुखद जलन तेरी हाय! कैसे मिटाऊँ।

हृदय! नित तुझे मैं खूब हूँ बोध देता,
दुख विफल निरा है क्यों न तू सोच लेता?
निज मति-धृति क्यों तू व्यर्थ ही खो रहा है?
तनिक निरख तेरा हाल क्या हो रहा है।

हृदय! नयन मेरे नित्य अत्यन्त रोते,
अविरल जल-धारा से तुझे खूब धोते।
पर शमित न होती नेक दुःखाग्नि तेरी,
जल कर अब होगा छार तू है न देरी।

अतिशय तुम भी क्यों हो गये शुष्क प्राण?
सह न तुम सके क्या आपदा-आर्त्ति-बाण!
तुम दृढ़ बन जाओ क्यों व्यथा नित्य रोते,
विचलित दुख में हैं क्या कभी धीर होते।

सतत हृदय में तू वेदना ! जन्म पाती ,
रह कर उस में ही पुष्ट हो तूब जाती ।
पर अहह ! उसी को नित्य तू है जलाती ,—
शिव-शिव ! इतनी तू नीचता क्यों दिखाती !

बालक

उठ के सबेरे नित्य जाऊँगा चराने गाय ,
    शाम को उन्हीं के साथ धाम लौट आऊँगा ,
नाचूँ और गाऊँगा सदैव बालकों के संग ,
    दूध-दधि-माखन चुरा के खूब खाऊँगा ।
पहन वसन पीले, वनमाला, मोर-पंख ,
    घूम-घूम चारों ओर मुरली बजाऊँगा ,
भैया को कहूँगा 'दाऊ', लेगी तू बलैया मेरी ,
    फिर क्या न मैया मैं कन्हैया कहलाऊँगा !

सुन्दर सजीला चटकीला वायु-यान एक ,
    मैया हरे काग़ज़ का आज मैं बनाऊँगा ,
उस पर चढ़ के करूँगा नभ की मैं सैर ,
    बादल के साथ-साथ उस को उड़ाऊँगा ।
मन्द-मन्द चाल से चलाऊँगा उसे मैं वहाँ ,
    चहक-चहक चिड़ियों के संग गाऊँगा ,
चन्द्र का खिलाना मृगछौना वह छीन लूँगा ,
    मैया को गगन की तरैया तोड़ लाऊँगा !

प्रेमी

हूँ जिस भाँति यहाँ अब मैं, उस भाँति सदा मुझ को रहने दो।
जो कुछ है कहना जिन को, मत ध्यान धरो उन को कहने दो।
सोच करो न वृथा, मुझ को इस प्रेम पयोनिधि में बहने दो।
हो यदि नाथ ! सुखी तुम तो, सब काल मुझे दुख ही सहने दो।

प्रेम किया जिसने उस को फिर क्या उस के फल से डरना है !
व्याकुल प्राण तृषाकुल को अविलम्ब यही दृग का झरना है।
जान लिया घट-जीवन का मुझ को दुख के जल से भरना है ;
हो जिस से तुम को सुख, नाथ ! सदैव वही मुझ को करना है।

प्रेम-प्रलाप

पागल मुझे जो कहते हैं कहने दो उन्हें,
तुम रहने दो जिस भाँति रहता हूँ मैं।
कहीं बह जाऊँ मुझे डर कुछ भी है नहीं,
बस बहने दो जिस ओर बहता हूँ मैं।
समझें भले ही सब लोग बकवाद उसे,
मुझे कहने दो वह जो-जो कहता हूँ मैं।
मिलता उसी में मुझे सुख है अपार सदा,
देव ! सहने दो दुख जैसे सहता हूँ मैं।

प्रीति है तुम्हारी फिर भीति किस की है मुझे,
आती है विपत्ति जो-जो उसे तुम आने दो।
नेक डूबने का डर मुझ को नहीं है नाथ,
प्रेम-सरिता में मुझे क्षेम से नहाने दो।
आग अनुराग की लगी है उर-धाम में जो,
उस को बुझाओ मत, मुझे जल जाने दो।

फूल कर सुख से न भूल कहीं जाऊँ तुम्हें,
दुख ही सदैव, देव ! मुझ को उठाने दो।

छविमयी

सुषमा सभा की क्या है उस में समायी सब,
उपमा न भायी कोई उस की लुनाई की।
वैसी कान्ति देती कान्ति में भी दिखलाई नहीं,
करिए न बात सुमनों की सुघराई की।
छिप गयी नभ में तुरन्त ही उषा की प्रभा,
छवि मनभायी देख होठों की ललाई की।
शरद्-जुन्हाई शरमायी-सी शरण आयी,
समता न पायी जब गात की गोराई की।

रहती खिली है सदा वह कल कौमुदी-सी,
कमनीय कल्प-लतिका-सी मनभायी है।
मानो मंजु यामिनी ललाम काम-कामिनी ने,
पायी मन भावनी उसी से सुघराई है।
उस को निहार कर होता यह है विचार,
रम्य रवि-रश्मियों की राशि सुखदाई है।
ज्वाला-सी किसी को मणि-माला-सी किसी को,
सुरबाला-सी किसी को वह देती दिखलायी है

स्मृति

प्रात-प्रयाण-कथा सुन के उस के मुख-पंकज का मुरझाना,
और ज़रा हँस के उस का अपने मन का वह भाव छिपाना,

किन्तु अचानक ही उस के वर लोचन में जल का भर आना—
सम्भव है न कभी मुझ को इस जीवन में वह दृश्य भुलाना !

———

प्यार

किस से कहूँ मैं बस चुपचाप दिन-रात ,
रोता रहता हूँ मैं तुम्हारे अनाचार से ।
मेरी मनोज्वाला हो गयी है ऐसी विकराल ,
नेक भी न होती शान्त दृग-जल-धार से ।
बढ़ता तुम्हारा जा रहा है नित्य अत्याचार ,
और दबता मैं जा रहा हूँ दुख-भार से ।
माफ़ करो, माफ़ करो, मुझे मत छेड़ो और ,
तंग आ गया हूँ मैं तुम्हारे इस प्यार से ।

———

प्रेम की दृढ़ता

निज अपमान का न ध्यान मुझ को है अब ,
उन की रुखाई मैंने मन से भुलायी है ।
उन का सताना तरसाना कलपाना मुझे ,
भूल गयी वह सब बात दुखदायी है ।
चित्त में न लाती मैं हूँ अपनी व्यथा की कथा ,
याद रही उन की न एक भी बुराई है ।
सारी निठुराई उन की मैं सखी भूल गयी ,
किन्तु भूलती न कभी छवि मनभायी है ।

भोग मैं रही हूँ मुझ को जो यहाँ भोगना है ,
नाहक विकल मन रहता अजान है ।

मुझ से हुई क्या भूल, कौन अपराध हुआ ,
इस का मुझे न हुआ अब तक ज्ञान है ।
इस में नहीं है कुछ दोष उन का भी सखी ,
मेरे प्रतिकूल बस विधि का विधान है ।
मान गया मेरा और सारा अभिमान गया ,
रह गया केवल उन्हीं का ध्रुव ध्यान है ।

पहचान

जीभ नहीं कहती कुछ भी, वह तो तुम से भय मान गयी है ।
आँख नहीं तुम से डरती, मन की सब बात बखान गयी है ।
क्यों उस को तुम हो छलते, अब बुद्धि सभी कुछ जान गयी है ।
क्यों इतना बनते तुम हो दुनियाँ तुम को पहचान गयी है !

खोज

मैं न तुम को खोज पाया !

झुक रहे पादप तुम्हारी ओर थे ,
पुष्प तुम को देख हर्ष-विभोर थे ,
नाचते उन्मत्त मंजुल मोर थे ,
तुम छिपी थीं कुंज में यह ध्यान में मेरे न आया ;
मैं न तुम को खोज पाया !

थीं नदी तट पर, सुमुखि ! तुम घूमतीं ,
ललित लहरें मृदु चरण थीं चूमतीं ,

वायु कम्पित थीं लताएँ झूमतीं ,
थी न लगती भिन्न लतिका से तुम्हारी मंजु काया ;
मैं न तुम को खोज पाया !

उच्च हिमगिरि पर तुम्हारा वास है ,
निकटतम जिस के विमल आकाश है ,
मित जहाँ रहता मनोज्ञ विकास है ,
डाल कर परदा पयोदों ने वहाँ तुम को छिपाया ;
मैं न तुम को खोज पाया !

तुम कली के रूप में हो फूलती ,
हो समीरण-दोल पर तुम झूलती ,
कौन हो तुम, यह स्वयं तुम भूलती ,
क्या पृथक अस्तित्व अपना है कभी तुमने दिखाया ?
मैं न तुम को खोज पाया !

है तुम्हारी ही छटा मधुमास में ,
है तुम्हारी कान्ति विद्युत-हास में ,
है तुम्हारी ज्योति सोम-प्रकाश में ,
है तुम्हारा रूप जग के मंजु कण-कण में समाया ;
मैं न तुम को खोज पाया !

हैं तुम्हीं से कान्तिमय कानन सघन ,
हैं तुम्हीं से उल्लसित वन के सुमन ,
कोकिला करती तुम्हारा ही स्तवन ,
छवि-छटा जग की सभी है बस तुम्हारी मोह-माया ;
मैं न तुम को खोज पाया !

बालिका

बालिका है भोली नादान !

पुस्तकें ले जाती है लाद ,
किन्तु होता है पाठ न याद ,
इसी से रहता है अवसाद ,
उठाते-बैठाते हैं नित्य पकड़ कर अध्यापक जी कान ;
बालिका है भोली नादान !

तोड़ने जाती है जब फूल ,
छोड़ आती है कभी दुकूल ,
कभी चप्पल आती है भूल ,
श्रवण कर माता की फटकार मुखाम्बुज हो जाता है म्लान ;
बालिका है भोली नादान !

कभी रचकर गुड़ियों का ब्याह ,
दिखाती है अपूर्व उत्साह ,
हृदय का रुकता नहीं प्रवाह ,
स्वयं गाती है मंगल-गान, बनाती है अनेक पकवान ;
बालिका है भोली नादान !

उसे करता यदि कोई तंग ,
बदल जाता है मुख का रंग ,
छोड़ देती है सब का संग ,
रूठ कर हो जाती है मौन, बैठ जाती है कर के मान ;
बालिका है भोली नादान !

पिता के दिये गये उपदेश ,
ध्यान से सुन कर भी सविशेष ,

भूलती है वह शीघ्र अशेष ,
कहाँ रहते हैं उस के प्राण, नहीं पाता यह कोई जान ;
बालिका है भोली नादान !

कली-सी है सुन्दर सुकुमार ,
सरलता की छवि है साकार ,
तितलियों से है उस को प्यार ,
सीखती है उन से चुपचाप हृदय का वह आदान-प्रदान ;
बालिका है भोली नादान !

कुसुम-कली

क्यों कुसुम की मृदु कली मुरझा गयी ?

थी लता की गोद में सुख से पली ,
प्यार करती थी उसे विपिनस्थली ,
मान देती थी उसे मधुपावली ,
चित्त में क्या सोच कर घबरा गयी ?
क्यों कुसुम की मृदु कली मुरझा गयी ?

मंजु मधु के प्रेम से विकसित हुई ,
भाव के उन्मेष से पुलकित हुई ,
देख कर अद्‌भुत जगत विस्मित हुई ,
किस भयंकर स्वप्न से भय खा गयी ?
क्यों कुसुम की मृदु कली मुरझा गयी ?

कल कणों से तुहिन के मज्जित हुई ,
छवि-प्रभा-मणिपाल से सज्जित हुई ,
मृदु पवन के स्पर्श से लज्जित हुई ,

किस निठुर की याद उस को आ गयी ?
क्यों कुसुम की मृदु कली मुरझा गयी ?

मूकता उस की मधुर बोली रही,
मृदु पँखुरियों की रुचिर चोली रही,
विपिन की नवकान्ति-सी भोली रही,
किस व्यथा से प्राण है कुम्हला गयी ?
क्यों कुसुम की मृदु कली मुरझा गयी ?

नवलता की मृदु मधुर मुसकान-सी,
सरलता की बाल-मूर्ति अजान-सी,
भावना की मुदमयी पहचान-सी,
क्या हुआ जो आज वह अलसा गयी ?
क्यों कुसुम की मृदु कली मुरझा गयी ?

——

जीवन का लेखा

जो नियति खींचती रहती जग में सुख-दुख की रेखा,
वह मुझसे पूछा करती मेरे जीवन का लेखा।

करती विहार थी सन्तत जो सागर के अञ्चल में,
मेरी वह जीवन-नौका है डूब रही दृग-जल में।

निज सुख-वैभव पर मुझ को क्यों होती है कुछ व्रीड़ा ?
प्राणों में समा गयी है किस के जीवन की पीड़ा ?

जी कहता है गाने को पर भूल गया है गाना,
पाथेय चुक गया मेरा पथ दूर अभी है जाना।

क्षण-क्षण क्षणज्योति चमकती पथ मेरा दिखलाने को ,
घन का गर्जन करता है वर्जन आगे जाने को ।

जीवन का पथ है लम्बा कंटकमय विषम अपरिचित ;
ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता हूँ त्यों-त्यों होता है विस्मृत ।

किस ओर जा रहा था मैं किस ओर खिंच गया जीवन ;
बढ़ गयी स्फूर्ति जीवन की बढ़ गया हृदय का स्पन्दन ।

सपने में मैं सोता हूँ जागता हूँ मैं सपने में ,
पाता हूँ नहीं कभी मैं अपनेपन को अपने में ।

जग की विचित्रता का तब मिलता है मुझ को परिचय ,
जीवन में जब होता है ऊषा-सन्ध्या का विनिमय ।

उर में जो भाव छिपे हैं, वे ही बनते हैं सस्वर ,
मेरी आँखों में आ कर जीवन के नीरव निर्झर ।

दुख की विभावरी बीती पर सुख का प्रात न आया ,
किस घनावली ने मेरे रवि का है उदय छिपाया ?

ले कर विषाद की पूँजी मैंने व्यापार चलाया ,
खो गया मूल-धन मेरा कुछ भी न हाथ है आया ।

दे चुका अयाचित ही मैं निधियाँ अमूल्य जीवन की ,
जग करता है मुझ से अब याचना कौन-से धन की ?

मैंने अपने जीवन का जब चित्र ध्यान से देखा ,
उल्लास प्रकट करती थी मेरे विषाद की रेखा ।

मैं भूल गया अपने को देखी जब सुख की क्रीड़ा,
आयी चेतनता मन में जब हुई हृदय में पीड़ा।

जो चित्र देख पड़ता था मेरे मानस-दर्पण में,
आश्चर्य हुआ जब देखा उस को जग के कण-कण में।

प्रेमोपासना सफल हो बन गयी हृदय का बन्धन,
फिर द्वैत - भाव को तज कर अद्वैत बन गया जीवन।

मैं चौंक उठा घबरा कर जग गया भाव विस्मय का;
कवि की कृतियों में देखा मैं ने जब चित्र हृदय का।

हर एक साँस पर छाया पड़ती है मेरे मन की,
प्रत्येक हृदय की गति में स्मृति है मेरे जीवन की।

मैंने प्रभात में देखा बीती जब रात प्रणय की,
थी छाप लगी जीवन पर जग के सन्तप्त हृदय की।

मैंने न कभी जिस छवि को था एक बार भी देखा,
खिंच गयी कहाँ से उस में मेरे जीवन की रेखा?

संचित सम्पदा हृदय की जीवन की करुण कहानी,
मिट्टी में मिला रहा है यह क्षार दृगों का पानी।

कुछ भूला-सा, भटका-सा रहता है सुखमय जीवन,
आ गया इसी से है दुख करने को मार्ग-निदर्शन।

मैं क्या जानूँ किसने यह जादू का खेल दिखाया,
मन में मन, हृदय हृदय में प्राणों में प्राण समाया।

जीवन का माप

चाहे जैसा हो पर जग में जीवन का है एक ही माप,
परिणाम भले ही हो कुछ भी, है पुण्य पुण्य, है पाप पाप।
है हर्ष हर्ष, है शोक शोक, है शीत शीत, है, ताप ताप,
हो सकता है न कदापि एक मृदु पुष्प-पुंज कंटक-कलाप।
जग की विचित्र घटनाओं की है जीवन पर लग रही छाप,
होते हैं उस में सन्निविष्ट बहु रंगों के देवेन्द्र-चाप।
हैं उस में राग-विराग छिपे, हैं छिपे बहुत वरदान-शाप,
है आशा का द्युति-दाय छिपा, है छिपा निराशा-जनित-ताप।
कितने ही मन के शुभ विचार रहते सदैव हैं निराकार,
उर-सर के अगणित भाव-कंज कुम्हला जाते हैं निराधार।
है सुलभ न ऐसी वस्तु कहीं जिस में न तनिक भी हो विकार,
जग में है ऐसा प्यार नहीं जिसमें न मिली हो अश्रु-धार।
है अन्धकार से हानि नहीं, यदि करे न वह उर में प्रवेश,
कर वास तिमिर में ही तारे ज्योतित करते हैं नभोदेश।
है बदल रहा सब कुछ जग में, है किन्तु प्रकृति का वही वेष,
है वहीं न होता परिवर्तन, है जहाँ सत्य का समावेश।
जब स्वप्न नहीं रह गया स्वप्न, जब चाह नहीं रह गयी चाह,
तब हुआ अकारण हतोत्साह जीवन में विद्युत् का प्रवाह।
दुख के दावानल का दारुण जो रहा हृदय में छिपा दाह,
वह हुआ शान्त जब लहराया करुणा का वरुणालय अथाह।

हिमालय के प्रति

हिमालय! हिम-शेखर! हिम-प्राण! दिव्यता के तुम हो अवतार,
उच्चता के तुम आदर्श, देश के गौरव हो साकार।

खड़े हो प्रहरी-सदृश सगर्व भव्य भारत के तुम निर्भीक
लिये हो युग-युग के स्मृति-चिह्न विपुल वैभव के अमर प्रतीक।

विविध तरु-लता-वेलि-सम्पन्न प्रकृति के तुम हो सुषमागार ,
सुगन्धित मृगमद से सब काल मही के हो मनोज्ञ शृंगार ।

दिवस में स्वर्ण-शैल अभिराम, निशा में रजत-शैल अवदात ,
मनोरम गैरिक-शैल ललाम ज्ञात होते हो सायं-प्रात ।

निकटवर्ती नभ का आलोक तुम्हें देता है कान्ति नवीन ,
निशा में होता तारक-लोक तुम्हारे अंक-मध्य आसीन ।

तुम्हारे वन हैं नन्दन-तुल्य नगर हैं सुरपुर-से छवि-धाम ,
हो गया है तुम पर अवतीर्ण गगन से देवलोक अभिराम ।

तुम्हीं में पाता है मधु-मास मनोहर उत्फुल्लता ललाम ;
तुम्हीं में होता है चरितार्थ प्रथित मधु का कुसुमाकर नाम ।

चंडकर भी बन कर शीतांशु तुम्हें देता है सुखद प्रकाश ,
ग्रीष्म भी बनता है मधुमास पहुँच कर सदा तुम्हारे पास ।

दिखाते हो सब से अनुराग, सिखाते हो तुम परोपकार ,
किया करते हो तुम, हिमवान ! देश में प्रेम-भाव संचार ।

नहीं सह सकते हो तुम ताप, शीघ्र होते हो द्रवित अपार ,
बुझाने को जगती की प्यास बहा दी है नदियों की धार ।

पावनी सुर-सरिता की धार तुम्हें करती है सदा पुनीत ;
गूँजते हैं तुम में अविराम चिरन्तन देव-लोक के गीत ।

ज्ञान-निधि वेद पुराण प्रसिद्ध हुए हैं तुम में आविर्भूत ,
तुम्हारे तपोवनों में दिव्य हुए हैं अगणित ग्रन्थ प्रसूत ।

दिये तुमने भारत को दिव्य न जाने कितने नये विचार,
तुम्हारे शृंगों से गिरिवर्य ! विविध धर्मों का हुआ प्रचार।

पली थी आर्य-सभ्यता चारु तुम्हारे चरणों ही के पास,
तुम्हारे प्रांगण में ही मंजु कलाओं का था हुआ विकास।

न जाने कितने अनुपम रत्न छिपे हैं तुम में तेज-निधान,
जिन्हें यह भौतिकवादी विश्व अभी तक सका नहीं पहचान।

विश्व के छल-प्रपंच से ऊब मनुज जो होते हैं हतज्ञान,
शरण में उन को दे कर स्थान शान्ति करते हो शीघ्र प्रदान।

भेजते रहते हो तुम मौन देश को नित्य नये सन्देश,
दिखाते आत्मोन्नत्ति का मार्ग ज्ञान का देते हो उपदेश।

कथाएँ भारत की प्राचीन तुम्हें हैं हस्तामलक-समान,
जानते हो वह भी इतिहास किसी को हुआ न जिस का ज्ञान।

विश्व के दो भागों के बीच खड़े हो तुम मध्यस्थ-समान,
शान्ति-रक्षा के शैलाधीश ! स्वयं तुम हो प्राकृतिक विधान।

हजारों उथल-पुथल के दृश्य सैकड़ों पतन और उत्थान,
देख कर भी न कदापि अधीर हुए तुम लोकोत्तर धृतिमान।

उठा कर निज गर्वोन्नत शीश देखते हो तुम जग की ओर,
न छू पाता है मद-मालिन्य तुम्हारे स्वच्छ हृदय का छोर।

प्रकृति के हो तुम मन्दिर, मंजु धरा की पवित्रता के धाम,
विश्व के हो तुम श्रद्धा-पात्र, रूप है रुचिर, मधुर है नाम।

रहा है तुम को प्राप्त सदैव तपस्वी ऋषि मुनियों का प्यार ,
गुफाओं में संचित है दिव्य युगों का अतुल ज्ञान-भंडार ।

दिया तुमने गिरिजा को जन्म, जिसे पाने को स्वयं महेश ,
हो गये सगुण-प्रेम में लीन, छोड़ निर्गुण का ध्यान विशेष ।

इधर भारत की सुन्दर भूमि उधर तिब्बत की धरा ललाम ,
तुम्हारे चरणों पर रख शीश सदा करती है तुम्हें प्रणाम ।

छिपा है तुम में प्रचुर रहस्य जगत के जीवन का अमरत्व ,
शिलाओं में हैं अंकित दिव्य मनुजता के आध्यात्मिक तत्त्व ।

तुम्हारे दृश्यों में है काव्य, निर्झरों में है मृदु संगीत ,
श्वेत शिखरों में उच्चादर्श, वनों में हैं सद्भाव पुनीत ।

व्योम से स्पर्शित पर्वतराज ! तुम्हारे उच्च शिखर छविमान ,
वारिदों के विश्राम-स्थान बने हैं सुरपुर के सोपान ।

ज्ञात होते हैं नित्य नवीन तुम्हारे शुचि प्रदेश प्राचीन ,
तुम्हारा है नैसर्गिक रूप, स्वच्छ, निर्मल, आडम्बरहीन ।

वहन करते हो तुम सब काल देश-रक्षा का गुरुतम भार ,
तपश्चर्या करते हो नित्य कि सन्तत सुखी रहे संसार ।

———

सागरिका

सागर के उर पर नाच-नाच, करतीं हैं लहरें मधुर गान !

जगती के मन को खींच-खींच ,
निज छवि के रस से सींच-सींच ,

जल-कन्यायें भोली अजान ,
सागर के उर पर नाच-नाच, करती हैं लहरें मधुर गान !

प्रातः समीर से हो अधीर ,
छू कर पल-पल उल्लसित तीर ,
कुसुमावलि-सी पुलकित महान ,
सागर के उर पर नाच-नाच, करती हैं लहरें मधुर-गान !

सन्ध्या से पा कर रुचिर रंग ,
करती-सी शत सुरचाप भंग ,
हिलते तरु-नव-दल के समान ,
सागर के उर पर नाच-नाच, करती हैं लहरें मधुर गान !

करतल-गत कर नभ की विभूति ,
पा कर शशि से सुषमानुभूति ,
तारावलि-सी मृदु दीप्तिमान ,
सागर के उर पर नाच-नाच, करती हैं लहरें मधुर गान !

तन पर शोभित नीला दुकूल ,
हैं छिपे हृदय में भाव-फूल ,
आकर्षित करती हुईं ध्यान ,
सागर के उर पर नाच-नाच, करती हैं लहरें मधुर गान !

हैं कभी मुदित, हैं कभी खिन्न ,
हैं कभी मिली, हैं कभी भिन्न ,
हैं एक सूत्र में बँधे प्राण ;
सागर के उर पर नाच-नाच, करती हैं लहरें मधुर गान !

———

परम्परा

दो सहस्त्र वर्षों का जीवन !

विक्रम के विक्रम की स्मृतियाँ ,
कालिदास की अनुपम कृतियाँ ,
भारत की अगणित संस्कृतियाँ ,
इन सब का निज हृदय पटल पर है कर चुका यथाविधि अंकन ।
दो सहस्त्र वर्षों का जीवन !

कितने ही सुख-दुख की बातें ,
मधु के दिवस, शिशिर की रातें ,
प्रमुदित शरद, व्यथित बरसातें ,
निज स्मृतियों के मंजु हार में गूँथ चुका है प्रेम-निकेतन
दो सहस्त्र वर्षों का जीवन !

अद्भुत नियति-नटी का नर्तन ,
अविरत ज्ञान-जलधि का मन्थन ,
जग के कितने ही आन्दोलन ,
देख चुका है निज नयनों से अगणित उथल-पुथल परिवर्तन
दो सहस्त्र वर्षों का जीवन !

देख चुका अतुलित समृद्धियाँ ,
स्वर्ण-रजत से ज्योतित निधियाँ ,
बिछी भूमि में रत्नावलियाँ ,
अपने सबल बाहु-दंडों से तोड़ चुका कितने ही बन्धन
दो सहस्त्र वर्षों का जीवन !

कितने ही संकट भी आये ,
रहे घोर घर नभ में छाये ,

किन्तु काल-गति रोक न पाये,
है कर चुका न जाने कितनी विपदाओं का मान-विमर्दन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !

आर्य-सभ्यता का हेमांचल,
बहु आदर्शों का क्रीड़ास्थल,
विविध मतों का सदन समुज्वल,
अगणित नर-नारी का सम्बल है असंख्य हृदयों का स्पन्दन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !

ढूँढ़ रही हैं तरुण पीढ़ियाँ,
आत्मोन्नति की नयी सीढ़ियाँ,
टूट रही हैं शिथिल रूढ़ियाँ,
करता है स्वागत नवयुग का नयी भावना का अभिनन्दन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !

—

मैथिलीशरण गुप्त

मातृभूमि

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग-मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दीजन खगवृन्द, शेष-फन सिंहासन हैं।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की;
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।

मृतक समान अशक्त विवश आँखों को मीचे,
गिरता हुआ विलोक गर्भ से हम को नीचे!
करके जिसने कृपा हमें अवलम्ब दिया था,
लेकर अपने अतुल अंक में त्राण किया था।
जो जननी का भी सर्वदा थी पालन करती रही,
तू क्यों न हमारी पूज्य हो मातृभूमि, मातामही।

जिस की रज में लोट-लोट कर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक-सरक कर खड़े हुए हैं।
परमहंस-सम बाल्यकाल में सब सुख पाये,
जिस के कारण 'धूल-भरे हीरे' कहलाये।
हम खेले-कूदे हर्षयुत जिस की प्यारी गोद में,
हे मातृभूमि! तुझ को निरख मग्न क्यों न हों मोद में?

पालन-पोषण और जन्म का कारण तू ही,
वक्षस्थल पर हमें कर रही धारण तू ही।
अभ्रंकष प्रासाद और ये महल हमारे,
बने हुए हैं अहो! तुझी से तुझ पर सारे।
हे मातृभूमि! जब हम कभी शरण न तेरी पायँगे,
बस तभी प्रलय के पेट में सभी लीन हो जायँगे।

हमें जीवनाधार अन्न तू ही देती है,
बदले में कुछ नहीं किसी से तू लेती है।
श्रेष्ठ एक से एक विविध द्रव्यों के द्वारा,
पोषण करती प्रेम-भाव से सदा हमारा।

हे मातृभूमि ! उपजें न जो तुझ से कृषि-अंकुर कभी,
तो तड़प-तड़प कर जल मरें जठरानल में हम सभी।

पा कर तुझ से सभी सुखों को हमने भोगा,
तेरा प्रत्युपकार कभी क्या हम से होगा ?
तेरी ही यह देह तुझी से बनी हुई है,
बस तेरे ही सुरस सार से सनी हुई है।
फिर अन्त समय तू ही इसे अचल देख अपनायगी,
हे मातृभूमि ! यह अन्त में तुझ में ही मिल जायगी।

जिन मित्रों का मिलन मलिनता को है खोता,
जिस प्रेमी का प्रेम हमें सुखदायक होता।
निज स्वजनों को देख हृदय हर्षित हो जाता,
नहीं टूटता कभी जन्म-भर जिन से नाता।
उन सब में तेरा सर्वदा व्याप्त हो रहा तत्व है।
हे मातृभूमि ! तेरे सदृश किस का महा महत्व है।

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
शीतल, मन्द-सुगन्ध पवन हर लेता श्रम है।
षड्ऋतुओं का विविध-दृश्ययुत अद्भुत क्रम है,
हरियाली का फर्श नहीं मखमल से कम है।
शुचि सुधा सींचता रात में तुझ पर चन्द्र-प्रकाश है,
हे मातृभूमि ! दिन में तरणि करता तम का नाश है।

सुरभित, सुन्दर, सुखद सुमन तुझ पर खिलते हैं,
भाँति-भाँति के सरस सुधोपम फल मिलते हैं।
ओषधियाँ हैं प्राप्त एक से एक निराली,
खानें शोभित कहीं धातु वर रत्नोंवाली।
जो आवश्यक होते हमें मिलते सभी पदार्थ हैं,
हे मातृभूमि ! वसुधा, धरा तेरे नाम यथार्थ हैं।

दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी,
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी।

नदियाँ पैर पखार रही हैं बन कर चेरी,
पुष्पों से तरुराजि कर रही पूजा तेरी।
मृदु मलय-वायु मानो तुझे चन्दन चारु चढ़ा रही,
हे मातृभूमि! किस का न तू सात्विक भाव बढ़ा रही।

क्षमामयी, तू दयामयी है, क्षेममयी है,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है!
विभवशालिनी, विश्वपालिनी, दुखहर्त्री है,
भयनिवारिणी, शक्तिकारिणी, सुखकर्त्री है।
हे शरणदायिनी देवि! तू करती सब का त्राण है,
हे मातृभूमि! सन्तान हम, तू जननी, तू प्राण है।

आते ही उपकार याद है माता! तेरा,
हो जाता मन मुग्ध भक्ति-भावों का प्रेरा।
तू पूजा के योग्य, कीर्ति तेरी हम गावें,
मन तो होता तुझे उठा कर शीश चढ़ावें।
वह शक्ति कहाँ, हा! क्या करें, क्यों हमको लज्जा न हो!
हम मातृभूमि! केवल तुझे शीश झुका सकते अहो।

कारण-वश जब शोक-दाह से हम दहते हैं,
तब तुझ पर ही लोट-लोट कर दुख सहते हैं।
पाखण्डी भी धूल चढ़ा कर तन में तेरी,
कहलाते हैं साधु नहीं लगती है देरी।
इस तेरी ही शुचि धूल में मातृभूमि! वह शक्ति है,
जो क्रूरों के भी चित्त में उपजा सकती भक्ति है।

कोई व्यक्ति विशेष नहीं तेरा अपना है,
जो यह समझे हाय! देखता वह सपना है।
तुझ को सारे जीव एक से ही प्यारे हैं,
कर्मों के फल मात्र यहाँ न्यारे-न्यारे हैं।
हे मातृभूमि! तेरे निकट सब का सम सम्बन्ध है,
जो भेद मानता वह अहो! लोचनयुत भी अन्ध है।

जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
उस से हे भगवान कभी हम रहें न न्यारे।
लोट-लोट कर वहीं हृदय को शान्त करेंगे,
उस में मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे।
उस मातृभूमि की धूल में जब पूरे सन जायँगे,
होकर भव-बन्धन-मुक्त हम आत्मरूप बन जायँगे।

———

स्वयमागत

तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किस से हो कर आऊँ मैं?
सब द्वारों पर भीड़ मची है, कैसे भीतर जाऊँ मैं!

द्वारपाल भय दिखलाते हैं,
कुछ ही जन जाने पाते हैं,
शेष सभी धक्के खाते हैं, क्यों कर घुसने पाऊँ मैं?
तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किस से हो कर आऊँ मैं!

मुझमें सभी दैन्य-दूषण हैं,
वस्त्र नहीं, क्या आभूषण हैं,
किन्तु यहाँ लज्जित पूषण हैं, अपना क्या दिखलाऊँ मैं,
तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किस से हो कर आऊँ मैं!

मुझमें तेरा आकर्षण है,
किन्तु यहाँ घन-संघर्षण है,
इसी लिए दुर्द्धर-धर्षण है, क्यों कर तुझे बुलाऊँ मैं?
तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किस से हो कर आऊँ मैं?

तेरी विभव-कल्पना कर के ,
उस के वर्णन से मन भर के ,
भूल रहे हैं जन बाहर के, कैसे तुझे भुलाऊँ मैं ;
तेरे घर के द्वार बहुत हैं किस से हो कर आऊँ मैं ?

बीत चुकी है बेला सारी ,
किन्तु न आयी मेरी बारी ,
करूँ कुटी की अब तैयारी, वहीं बैठ गुन गाऊँ मैं ,
तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किस से हो कर आऊँ मैं ?

कुटी खोल भीतर जाता हूँ ,
तो वैसा ही रह जाता हूँ ,
तुझ को यह कहते पाता हूँ—'अतिथि, कहो क्या लाऊँ मैं ?
तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किस से हो कर आऊँ मैं ?

आशा

बीती नहीं यद्यपि अभी तक है निराशा की निशा—
है किन्तु आशा भी कि होगी दीप्त फिर प्राची दिशा।
महिमा तुम्हारी ही जगत में धन्य आशे ! धन्य है ,
देखा नहीं कोई कहीं अवलम्ब तुम-सा अन्य है।

आशे, तुम्हारे ही भरोसे जी रहे हैं हम सभी ,
सब कुछ गया पर हाय रे ! तुम को न छोड़ेंगे कभी।
आशे, तुम्हारे ही सहारे टिक रही है यह मही ,
धोखा न दीजो अन्त में, विनती हमारी है यही।

यद्यपि सफलता की अभी तक सरसता चक्खी नहीं,
हम किन्तु जान रहे कि वह श्रम के विना रक्खी नहीं।
यद्यपि भयंकर भाव से छायी हुई है दीनता—
कुछ-कुछ समझने हम लगे हैं किन्तु अपनी हीनता।

यद्यपि अभी तक स्वार्थ का साम्राज्य हम पर है बना—
पर दीखते हैं साहसी भी और कुछ उन्नतमना।
बन कर स्वयं सेवक सभी के जो उचित हित कर रहे,
होकर निछावर देश पर जो जाति पर हैं मर रहे।

* * * *

प्राचीन और नवीन अपनी सब दशा आलोच्य है,
अब भी हमारी अस्ति है यद्यपि अवस्था शोच्य है।
कर्तव्य करना चाहिए, होगी न क्या प्रभु की दया,
सुख-दुःख कुछ हों, एक-सा ही सब समय किस का गया!

नटनागर आज कहाँ अटके?

नटनागर, आज कहाँ अटके!
रथ - सूत हुए अपने भट के,
कि फँसे युग छोर कहीं पट के,
कल-हंस हुए यमुना-तट के,
कि बने पिक वीर किसी वट के,
नटनागर, आज कहाँ अटके!
फिर याद पड़े टटके - टटके,
व्रज-गोप-वधू दधि के मटके,
उन का कहना "हट के! हट के!"
उलझी - सुलझी लट के लटके,
नटनागर, आज कहाँ अटके!

तुम चित्त चुरा कर जो चटके,
रस - गोरस लूट कहीं सटके,
भटका कर तो न फिरो भटके,
हम इच्छुक हैं फिर आहट के,
नटनागर, आज कहाँ अटके!
उर के न कपाट खुले खटके,
हम हार गये कब से रट के,
भव - कूप पड़े घट में, लटके
झट दो अपने गुण के झटके,
नटनागर, आज कहाँ अटके!

— —

यशोधरा

(१)

सखि, वे मुझ से कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझ को वे अपनी पथ-बाधा ही पाते!
मुझ को बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना!
मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन में लाते।
सखि, वे मुझ से कह कर जाते।

स्वयं सुसज्जित कर के क्षण में,
प्रियतम को, प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में,
क्षात्र धर्म के नाते।
सखि, वे मुझ से कह कर जाते।

हुआ न यह भी भाग्य अभागा ,
किस पर विफल गर्व अब जागा ?
जिस ने अपनाया था, त्यागा ,
रहें स्मरण ही आते !
सखि, वे मुझ से कह कर जाते ।

नयन उन्हें हैं निष्ठुर कहते ,
पर इन से जो आँसू बहते ,
सदय हृदय वे, कैसे सहते ?
गये तरस ही खाते ।
सखि, वे मुझ से कह कर जाते ।

जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से ,
दुखी न हों इस जन के दुख से ,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से ?
आज अधिक वे भाते !
सखि, वे मुझ से कह कर जाते ।

गये, लौट भी वे आवेंगे ,
कुछ अपूर्व-अनुपम लावेंगे ,
रोते प्राण उन्हें पावेंगे ,
पर क्या गाते गाते ?
सखि, वे मुझ से कह कर जाते ।

(२)

प्रियतम, तुम श्रुति-पथ से आये ।
तुम्हें हृदय में रख कर मैंने अधर-कपाट लगाये ।
मेरे हास विलास ! किन्तु क्या भाग्य तुम्हें रख पाये ?
दृष्टि-मार्ग से निकल गये ये तुम रसमय मनभाये ।
प्रियतम ! तुम श्रुति-पथ से आये ।

यशोधरा क्या कहे और अब, रहो कहीं भी छाये,
मेरे ये निःश्वास व्यर्थ, यदि तुमको खींच न लाये।
प्रियतम ! तुम श्रुति-पथ से आये।

(३)

अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी !
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी !
मेरे लिए पिता ने सब से धीर-वीर वर चाहा,
आर्यपुत्र को देख उन्होंने सभी प्रकार सराहा।
फिर भी हठ कर हाय ! वृथा ही उन्हें उन्होंने थाहा,
किस योद्धा ने बढ़ कर उनका शौर्य-सिन्धु अवगाहा ?
क्यों कर सिद्ध करूँ अपने को मैं उन नर की नारी ?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी !
देख कराल काल-सा जिसको काँप उठे सब भय से,
गिरे प्रतिद्वन्द्वी नन्दार्जुन नागदत्त जिस हय से,
वह तुरंग पालित-कुरंग-सा नत हो गया विनय से,
क्यों न गूँजती रंगभूमि फिर उनके जय जय जय से ?
निकला वहाँ कौन उन जैसा प्रबल-पराक्रमकारी ?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी !
सभी सुन्दरी बालाओं में मुझे उन्होंने माना,
सबने मेरा भाग्य सराहा, सब ने रूप बखाना ;
खेद, किसी ने उन्हें न फिर भी ठीक ठीक पहचाना,
भेद चुने जाने का अपने मैंने भी अब जाना।
इस दिन के उपयुक्त पात्र की उन्हें खोज थी सारी,
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी !
मेरे रूप रंग, यदि तुझ को अपना गर्व रहा है,
तो उसके झूठे गौरव का तू ने भार सहा है।
तू परिवर्तनशील, उन्होंने कितनी बार कहा है—
'फूला दिन किस अन्धकार में डूबा और बहा है ?'
किन्तु अन्तरात्मा भी मेरा था क्या विकृत-विकारी !
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी !

मैं अबला पर वे तो विश्रुत वीर-बली थे मेरे ,
मैं इन्द्रयासक्ति ! पर वे कब थे विषयों के चेरे ,
अयि मेरे अर्द्धांगि-भाव, क्या विषय मात्र थे तेरे ?
हा ! अपने अंचल में किस ने ये अंगार बिखेरे ?
है नारीत्व मुक्ति में भी तो अहो विरक्ति-विहारी !
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी वारी !
सिद्धि-मार्ग की बाधा नारी ! फिर उस की क्या गति है ?
पर उन से पूछूँ क्या, जिनको मुझ से आज विरति है !
अर्द्ध विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ मति है ,
मैं भी नहीं अनाथ जगत में, मेरा भी प्रभु पति है ।
यदि मैं पतिव्रता तो मुझ को कौन भार-भय भारी ?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी वारी !
यशोधरा के भूरि भाग्य पर ईर्ष्या करने वाली ,
तरस न खाओ कोई उस पर, आओ भोली-भाली !
तुम्हें न सहना पड़ा दुःख यह, मुझे यही सुख आली !
बधू-वंश की लाज देव ने आज मुझी पर डाली ।
बस जातीय सहानुभूति ही मुझ पर रहे तुम्हारी ।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी वारी !
जाओ नाथ ! अमृत लाओ तुम मुझ में मेरा पानी ,
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी ।
प्रिय तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस, हे दानी ,
कहाँ तुम्हारी गुणगाथा में मेरी करुण कहानी !
तुम्हें अप्सरा-विघ्न न व्यापे यशोधरा-करधारी !
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी वारी !

(४)

मुझे नदीश मान दे ,
नदी, प्रदीप दान ले ।
तुझे और क्या दूँ ? थोड़ा भी आज बहुत तू मान ले ,
तम में विषम मार्ग का इस को तुच्छ सहायक जान ले ।

मिलें कहीं मेरे प्रभु पथ में, तू उनका सन्धान ले,
तुझे कठिन क्या है यह, यदि तू अपने मन में ठान ले।

मेरे लिए तनिक चक्कर खा, वन-यात्रा की तान ले,
घूम घूम कर, झूम झूम कर, थल-थल का रसपान ले।

कह देना इतना ही उनसे जब उनको पहचान ले—
"धाय तुम्हारे सुत की गोपा बैठी है बस ध्यान ले।"

(५)

क्या दे कर मैं तुम को लूँगी?
देते हो तुम मुक्ति जगत को, प्रभो तुम्हें मैं बन्धन दूंगी।

बाँध बद्ध ही तुम्हें न लाते,
तो क्या तुम इस भू पर आते?
निर्गुण के गुण गाते गाते,
हुई गभीर गिरा भी गूँगी,
क्या दे कर मैं तुमको लूँगी?

पर मैं स्वागत-गान करूँगी,
पाद-पद्म-मधु-पान करूँगी,
इतना ही अभिमान करूँगी—
तुम होगे तो मैं भी हूँगी,
क्या दे कर मैं तुम को लूँगी?

(६)

दे कर क्या पाऊँगी तुम्हें मैं, कहो मेरे देव,
ले कर क्या सम्मुख तुम्हारे अहो! आऊँगी?
मानस में रस है परन्तु उस में है क्षार,
बस में यही है बस आँखें भर लाऊँगी।
धव, तुम उद्धव समान यदि आये यहाँ,
एक नवता-सी मैं उसी में फब जाऊँगी,

मेरे प्रतिपाल, तुम प्रलय समान आये,
तो भी मैं तुम्हीं में, हाल, बेला सी बिलाऊँगी।

(७)

रे मन, आज परीक्षा तेरी।
विनती करती हूँ मैं तुझ से, बात न बिगड़े मेरी।
अब तक जो तेरा निग्रह था,
बस अभाव के कारण वह था;
लोभ न था, जब लाभ न यह था;
सुन अब स्वागत-भेरी!
रे मन, आज परीक्षा तेरी।
दो पग आगे ही वह धन है,
अवलम्बित जिस पर जीवन है,
पर क्या पथ पाता यह जन है?
मैं हूँ और अँधेरी।
रे मन, आज परीक्षा तेरी।
यदि वे चल आये हैं इतना,
तो दो पद उन को है कितना!
क्या भारी वह, मुझ को जितना?
पीठ उन्हींने फेरी!
रे मन, आज परीक्षा तेरी।
सब अपना सौभाग्य मनावें,
दरस-परस, निःश्रेयस् पावें।
उद्धारक चाहें तो आवें,
यहीं रहे यह चेरी।
रे मन, आज परीक्षा तेरी।

(८)

पधारो, भव-भव के भगवान!
रख ली मेरी लज्जा तुम ने, आओ अत्रभवान।

नाथ, विजय है यही तुम्हारी,
दिया तुच्छ को गौरव भारी,
अपनायी मुझ-सी लघु नारी,
हो कर महा महान!
पधारो, भव-भव के भगवान!

मैं थी सन्ध्या का पथ हेरे,
आ पहुँचे तुम सहज सबेरे,
धन्य कपाट खुले ये मेरे!
दूँ अब क्या नव-दान?
पधारो, भव-भव के भगवान!

मेरे स्वप्न आज ये जागे,
अब वे उपालम्भ क्यों भागे?
पा कर भी अपना धन आगे
भूली-सी मैं भान।
पधारो, भव-भव के भगवान!

दृष्टि इधर जो तुम ने फेरी,
स्वयं शान्त जिज्ञासा मेरी,
भय संशय की मिटी अँधेरी,
इस आभा की आन।
पधारो, भव-भव के भगवान!

यही प्रणति है उन्नति मेरी,
हुई प्रणय की परिणति मेरी,
मिली आज मुझ को गति मेरी,
क्यों न करूँ अभिमान?
पधारो, भव-भव के भगवान!

पुलक पक्ष्म परिगीत हुए ये,
पद रज पोंछ पुनीत हुए ये।
रोम रोम शुचि-शीत हुए ये,

पा कर पर्वस्नान।
पधारो, भव-भव के भगवान!

इन अधरों के भाग्य जगाऊँ,
उन गुल्फों की मुहर लगाऊँ,
गयी वेदना, अब क्या गाऊँ?
मग्न हुई मुसकान।
पधारो, भव-भव के भगवान!

कर रक्खा, यह कृपा तुम्हारी;
मैं पद-पद्मों पर ही वारी।
चरणामृत करके ये खारी
अश्रु करूँ अब पान।
पधारो, भव-भव के भगवान!

कुब्जा

कंसराज के लिए ले चली फूल और चन्दन मैं,
पहुँच पार्श्व से बोला पथ में—"शुभे, नन्दनन्दन मैं;
किस के लिए लिये जाती हो तुम पूजा की थाली?"
यह कह कर क्या जाने कैसे मुसकाया वनमाली!

रवि शशि लटके रहें शून्य में, उस में सार भरा था;
धन्य, धरा ने ही उस धन का गौरव-भार धरा था।
अथवा अपने पैरों पर ही खड़ा आप वह नर-वर;
बची रसातल जाने से यह धरा वही पद धर कर!

कसी क्षीण कटि, पीन वक्ष था, कच कन्धरा ढके थे;
स्वर्ण-वर्ण के उत्तरीय में चित्रित रत्न टँके थे!
दुगुने-से दो भुज विशाल थे पार्श्व छीलते-छिलते;
गंड-द्युति-मंडल से मंडित श्रुति-कुंडल थे हिलते!

चिबुक देख फिर चरण चूमने चला चित्त चिर चेरा ;
वे दो ओठ न थे, राधे, था एक फटा उर तेरा !
फिर भी उस के दन्त-हास में मोती खो जावेंगे ,
उस नासा को निरख कुटिल भी सीधे हो जावेंगे !

देख लिया मैंने सहस्रदल ले उस मुख की झाँकी ,
वृद्ध न हो कर बाल बनी थी पलट प्रौढ़ता बाँकी ।
उन काली आँखों में कैसी उजली दृष्टि निहारी ,
जान पड़ा व्रज-कुंज-विहारी मुझ को विश्व-विहारी !

श्याम-रूप, हो न हो, राम ही पुनः आप आया वह ;
पर इस कंसपुरी में भी क्यों नहीं चाप लाया वह ?
हृदय सशंक हुआ पर आहा ! वंक भृकुटियाँ तीखी ,
निज विलास में विश्व नचाती, वंशीधर की दीखी ।

मेरे मन की मूर्ति ढली थी उस के साँचे में वह ;
खेल रहा था नारायण ही नर के ढाँचे में वह !
मोर-पंख भी मुकुट बना था उस के अपनाने से ;
सिंह पुरुष बन जाय हाय ! वह पीताम्बर पाने से !

पड़ी तरल यमुना तरंगिणी घनी खड़ी हो जावे ,
तो उस अंग-भंगिमा का कुछ रंग ढंग वह पावे !
वह सजीव रचना थी युग की पल में आकर झलकी ;
नहीं समायी जड़-जंगम में छवि उसकी जो छलकी !

काम-रूप धारी वह जलधर जगमग ज्योतिर्मय था ;
घन हो कर भी सहृदय था वह; निर्भय किन्तु सदय था ।
ललित-गभीर तदपि चंचल-सा वह विस्फूर्ति भरा था ;
मूर्तिमन्त भव-भद्र भाद्र-सा श्यामल हरा-हरा था !

राधा ने पहनाया होगा वह रण-कंकण उस को ;
और मिल चुकी थी जय निश्चय वहीं उसी क्षण उस को ;
व्रजरानी के विजयी वर के धरे चरण ही चेरी ;
पर अपने अतिरिक्त भेंट क्या हो सकती है मेरी ?

देखा मैंने, देव आज ही मेरे आगे आया ;
अब तक दानव-पूजन में ही मैंने जन्म गँवाया ।
मैं ऊँची न हो सकी, फिर भी हिलते हाथ बढ़ाये ;
माथे पर चन्दन, चरणों पर मैंने फूल चढ़ाये !

बायें कर से सिर सँभाल कर धर दायें से ठोड़ी ,
किया मुझे उत्कर्षित उस ने, शक्ति लगा कर थोड़ी !
देख पैर उठते, चरणों से हँस कर उन्हें दबाया ;
मैं उठ गयी और कूबड़ का मैंने पता न पाया !

चमक गई बिजली-सी भीतर, नस-नस चौंक पड़ी थी ;
तनी, जन्म की कुब्जा क्षण में सरला बनी खड़ी थी !
चिबुक हिला कर छोड़ मुझे फिर मायावी मुसकाया ;
हुआ नया प्रिय स्पन्दन उर में, पलट गयी यह काया ।

मैं ही नहीं, सृष्टि ही सारी, पलट गयी थी पल में ,
उतर इन्द्र का नन्दन वन-सा छाया था भूतल में !
इस भव में रस, और भाग था मेरा भी उस रस में ;
छूटे स्रोत साथ ही शतदल फूटे इस मानस में ।

सत्य हुआ मैं देख रही थी अनदेखे सपने को ;
आत्म-ग्लानि छोड़ कर मैं ने देखा तब अपने को ।
"अब फिर कभी मिलूँगा" कह कर हँसता चला गया वह !
ज्यों ज्यों दूर गया, मानस में धँसता चला गया वह !

धरती ही देखी थी मैं ने, पृष्ठ-भार से झुक कर ;
अब ऊँची ग्रीवा कर सीधे देखा नभ रुक-रुक कर ।
ओ हो ! वही सुनील वर्ण था उसी मदन-मोहन का ;
एक पक्षिणी-तुल्य ठौर ही बहुत वहाँ इस जन का ।

हरा-भरा भूतल भी ऐसा देखा मैंने कब था ;
शस्य-श्यामल वर्ण वहाँ भी उसी श्याम का अब था ।
अहा ! उसी में एक कुसुम-सा यह जन भी खिल जावे ;
मुझे और कुछ नहीं चाहिये, बस इतना मिल जावे ।

देखा मैंने, रँगा उसी के रँग में निर्मल जल है ;
अनल उसी की आभा धारे, अनिल गन्ध-गति-बल है !
एक तरंग, एक चिनगारी, एक साँस मैं उस की ;
बजे वेणु उस नट-नागर की, एक आँस मैं उस की ।
मेरा तत्व-तत्व तन्मय था, किसे कंस का भय था ?
लौट पड़ी मैं घर वैसी ही, जन-जन को विस्मय था ।

अन्ध कुणाल

हे अवनि और अम्बर, प्रणाम ;
करता हूँ सब से राम राम ।
हे रवि-शशि-ग्रह-तारक-समाज ,
हे वर्ण-वर्ण के साज बाज ,
लेता हूँ सब से बिदा आज ,
रह हरा-भरा तू धरा-धाम ,
करता हूँ सब से राम-राम ।
हे ह्रद-नद-निर्झर, धरे वेत्र ,
हे वन-उपवन, हे हरे क्षेत्र ,
रह जायँ रिक्त ये भरे नेत्र ,
तुम भरे रहो चिर सरस-श्याम ,
करता हूँ सब से राम-राम ।
हे सान्ध्य वृष्टि-घन, मधुर मन्द्र ,
शुभ शरन्निशा के कुमुद-चन्द्र ,
मधु के प्रभात-अम्बुज अतन्द्र ,
लूँ मैं किस-किस का आज नाम ?
करता हूँ सब से राम-राम ।

बाहर से कुछ दीखे न आज ,
सब रहे किन्तु भीतर विराज ।
रम रहा व्यक्ति में ज्यों समाज ,
तुम जागो मुझ में अष्ट याम ,
करता हूँ सब से राम-राम ।
अवलोक लोक-सौन्दर्य-सृष्टि ,
हो गयी कृतार्थ कुणाल-दृष्टि ,
सब संसृति पर हो अमृत-वृष्टि,
गूँजे घर-घर में तीन ग्राम ;
करता हूँ सब से राम-राम ।
छोड़े मैंने मणि-रत्न आज ,
चुक गये स्वयं वे यत्न आज ?
पर मेरा कौन सपत्न आज ?
मैं दक्षिण हूँ विधि रहे वाम ।
करता हूँ सब से राम-राम !
दीखे न भले ही रूप-रंग ,
आने दो द्विज ! निज ध्वनि-तरंग ,
श्रुति में ही दर्शन के प्रसंग ,
निष्काम आप ही पूर्ण काम !
करता हूँ सब से राम-राम !
निर्मुक्त हुई यह आज सीप
तुम जलो न मेरे अर्थ दीप !
झुलसें न शलभ आ कर समीप ;
मेरी निशि में सब लें विराम ।
करता हूँ सब से राम-राम !

खेद

तुझे अज्ञेय बताकर मूढ़-सा
चुप बैठ गया जब ज्ञान ,
प्रभो इंगित करके कुछ गूढ़-सा
हँस पैठ गया धँस ध्यान ।

तटों की धूल छानते वे फिरें
जो खोजें मूल स्रोत ,
अरे, हम क्यों न तरंगों में तिरें
आगे रस ओत-प्रोत ।

आ सुध, आ, कभी न भूल
कँटीली, कसक भले ही तू मुझे ।
हरी रह, अहरह सींचूँ मैं तुझे
फूला रख मेरा फूल !

चषक ! जा, उनके मुँह लग, मान, तू, जा ,
जो चिन्तन से थक जायँ ,
धधकता भभका मैं हूँ जान, तू ,जा ,
तुझ जैसे सौ छक जायँ ।

बुलाता है कह, किसे हरे हरे
वह प्रभु है अथवा दास ?
उसे आने का कष्ट न दे अरे ,
जा तू ही उसके पास ।

निश्चित है यदि विश्लेष
दयित ! तो उसका दुःख हमीं सहें ,
प्रभु से है विनय विशेष
जहाँ भी रहें आप सुख से रहें ।

बता दो देव, हर्ष में शोक में
हैं पूछ रहे ये प्राण ,
मिलेगा मानव को कब लोक में
अपने दानव से त्राण ?

निश्चेतन है निर्वाण
यहाँ चित है सत में आनन्द में
छना मेरा रस मेरे छन्द में
साक्षी है स्वतः प्रमाण ,

—

दिवोदास

[गंगा तीर पर रिपुंजय का एक छोटा सा आश्रम]

रिपुंजय— [समाधि से उठ कर]
नहीं मन्त्र-द्रष्टा मैं, फिर भी करते हैं सब शोध ,
हुआ मुझे अपनी समाधि में असंदिग्ध यह बोध—
निज मर्यादा-पुरुषोत्तम ही मानव का आदर्श ,
नहीं और कोई कर पाता मेरा हृदय-स्पर्श ।
पर जब तक मैं तपोमग्न था, हुआ यहाँ क्या क्लेश ?
रूखा-रूखा सूखा-सूखा भूखा-भूखा देश !
चारों ओर धूल उड़ती है सब कुछ अस्त-व्यस्त
एक अकाल-कुसुम-सा मेरा आश्रम ही विन्यस्त !
सम्भवतः तप के प्रभाव से यह बच रहा परन्तु
लौट गये होंगे ललचा कर कितने ही जन-जन्तु !
जिओ पक्षियो, रहा तुम्हारा घर अक्षत ही आज ,
किन्तु तपोबल पर भी मुझ को लगे न कैसे लाज ?
मानव ने मर्यादा छोड़ी होकर विवश-विपन्न ,
किन्तु नहीं पाया हा ! उस ने मुट्ठी भर भी अन्न ।

पशुता भी धारण की उस ने, तदपि कहाँ था त्राण ?
दैव-दैव रट कर कातर ने तजे अन्त में प्राण !
इधर मुझे स्वर्गाधिकार भी सुलभ आज निज हेतु,
फहराया है मैंने अपना पुरुष-कीर्ति का केतु।
पर अपनों के लिए क्या किया यह है एक विचार,
क्या पाया मेरी धरती ने धर कर मेरा भार ?

[ब्रह्मा का आविर्भाव]

ब्रह्मा— हुआ तुम्हारे तप के बल से पुरुष पुण्य परिपुष्ट,
वत्स, चाहते हो क्या, बोलो, मैं हूँ तुमसे तुष्ट।

रिपुंजय— [प्रणाम करके]
मनुष्यत्व को छोड़ और क्या चाहूँ मैं मनुजात ?
तप में नहीं, आत्म चिन्तन में रत अवश्य दिन रात।
स्वार्थ—

ब्रह्मा— धन्य यह स्वार्थ तुम्हारा और स्वयं तुम धन्य,
मेरी कृति में मनुष्यत्व से श्रेष्ठ नहीं कुछ अन्य।
किन्तु रिपुंजय, सुनूँ तुम्हारे रिपु की कोई बात।

रिपुंजय— वह भी मुझमें ही अदृश्य है और कहूँ क्या तात !

ब्रह्मा— खोज धरा उस को भी तुम ने हुआ मुझे यह ज्ञात,
दिव भी जिसका दास, वही तुम दिवोदास विख्यात।
सफल करो निज मनुष्यत्व अब, साधो अपना लक्ष्य,
तो, अकाल-पीड़ित समक्ष ही काशिराज्य यह रक्ष्य।

दिवोदास— शिरोधार्य आदेश आपका, किन्तु—

ब्रह्मा— किन्तु क्या वीर ?
अन्त तरंगाघातों का कब तर्क-सिन्धु के तीर ?
लाख विचार व्यर्थ होंगे यदि न हो एक आचार,
मन से नहीं, किन्तु तन से ही जाना होगा पार।

दिवोदास— मेरा मार्ग निवृत्ति-मार्ग था—

ब्रह्मा— आश्रम-धर्म-विरुद्ध ?
नहीं, तुम्हारे ब्रह्मचर्य का पालन था यह शुद्ध।

रहे अभी संन्यास, प्रथम हो संग्रह गृह के संग ;
मर्यादा का मान करोगे कर के उस का भंग ?
दिया तुम्हारे कृती पिता ने तुम-सा व्रती सपूत ,
उनका ऋण परिशोध करोगे तुम अपुत्र अवधूत !
अपनी-सी प्रिय परम्परा को अपने हाथों मेट ,
दे जाओगे तुम जगती को कहो, कौन-सी भेट ?
कहाँ रहेगी वह मनुष्यता, जिस का तुम को गर्व ?
काम्य काम भी सृष्टि-धर्म है, करो उसे मत खर्व !

दिवोदास— इसका क्या निश्चय, जैसे को हो वैसा ही जन्य ?

ब्रह्मा— यह विधि है, विपरीत दशा में कारण होंगे अन्य ।
तुम्हें द्विधा क्या है ?

दिवोदास— प्रस्तुत मैं, किन्तु नियम है एक—
माने इसे भले ही कोई मेरा अति अविवेक ,
चला जाय मेरी धरती से सारा सुर-समुदाय !

ब्रह्मा— वत्स, वत्स, विस्मित मैं सुन कर, क्या कहते हो हाय !

दिवोदास— कहता हूँ मैं वही आप से जो भीतर का भाव ,
क्षमा कीजिए मुझे, उचित यदि न जँचे यह प्रस्ताव ।

ब्रह्मा— सुरगण धरती से हट जावें और असुर-समुदाय ?

दिवोदास— स्वयं हटा दूँगा मैं उस को कर के योग्य उपाय ।

ब्रह्मा— तो स्वीकार करूँ पहले मैं यह निष्कासन-शाप ?

दिवोदास— नहीं, नहीं, यह नहीं, हमारे पूज्य पितामह आप ।

ब्रह्मा— वरुण-वायु-वैश्वानर भी क्या जावें भूतल त्याग ?

दिवोदास— देव मात्र घर बैठे भोगें निज मख-भाग-पराग ।
किन्तु पंच तत्वों का हमको है जितना अधिकार ,
करे न कोई कभी कहीं भी उसमें विघ्न-विकार ।

ब्रह्मा— पर देवों पर हुई तुम्हें क्यों ऐसी विषम विरक्ति ?

दिवोदास— नहीं, नहीं, उन पर है मेरी समुचित श्रद्धा-भक्ति ।
पर सब की अपनी सीमा है—

ब्रह्मा— सुर तो सुकृति-सहाय ।

दिवोदास— सिद्ध इसी से तो मनुष्य है अकृति, अगति अनुपाय !
नहीं मानता इसे किसी विध मेरा नर-पुरुषार्थ ,
सब मेरे ही अर्थ अन्त में जितने प्राप्य पदार्थ ।
करें सदा सानन्द स्वर्ग में सुर निर्विघ्न विहार ,
हम पृथिवी के पुत्र, हमीं पर निज भू माँ का भार ।
कर दी है देवावलम्ब ने नर की निजता नष्ट ,
अमृतपुत्र हो कर भी हम हैं पौरुष-पद से भ्रष्ट ।
किन्तु आत्म विश्वासी हूँ मैं पा कर दुर्लभ देह ,
सहे सुरों का भी शासन क्यों मेरा अपना गेह ?
फिर भी नहीं किया जा सकता, विग्रह देव-विरुद्ध ,
अपदेवों से हम अवश्य ही कर सकते हैं युद्ध !

ब्रह्मा— अपनी पूज्य-भावना कैसे छोड़ सकेंगे लोग ,
फैलेगा तब क्या न जनों में जन-पूजा का रोग ?

दिवोदास— भय क्या यदि निज माध्यम से ही समझें नर निज स्वत्व ?
जो अनुकरणातीत आज है बन कर देव-महत्व ।
तर्क जानता नहीं तात मैं रखता हूँ विश्वास ,
उसे छोड़ कर सम्भव है क्या कोई नया प्रयास ?

ब्रह्मा— यह अपूर्व आयास तुम्हारा, ध्रुव नवीन उत्साह ,
अच्छी बात, प्रयोग करो तुम, पूरी अपनी चाह ।

दिवोदास— अनुगृहीत मैं, एकाकी भी रक्खूँगा निज रंग ,

ब्रह्मा— तुम एकाकी क्यों, वह देखो नित्य नया चिर संग !

(अन्तर्धान)

(मन्त्रिपुत्री रंगिणी के साथ वासुकि-नाग-राजपुत्री अनंगमोहिनी का प्रवेश)

रंगिणी— सात्विकता वश संग न ले कर कोई साज-समाज ,
आयी हो शिव-दर्शनार्थ तुम व्रत पूरा कर आज ।
सम्मत हुईं महारानी भी, यह विस्मय की बात—

अनंगमोहिनी—माँ को स्वप्न हुआ था, पर तू करे न कुछ उत्पात !

रंगिणी— नहीं नहीं, खोजूँगी मैं तो कोई संगी मात्र ;

अनंगमोहिनी—किस का संगी ?

रंगिणी— अभी क्या कहूँ, पाऊँ पहले पात्र !
पर उत्पाती हैं तो सुर ही, देखो तुम सब ओर,
पूजा पा कर भी हो बैठे वे पाषाण-कठोर !
सखि, यथार्थ ही चिता-भूमि-सी काशी आज उजाड़,
खड़क हाड़-से रहे पवन में, झड़ सूखे सब झाड़ !
भला बनाया भूतनाथ ने अपना यह घर-बार,
पर शिव कहाँ, यहाँ तो केवल शव-साधन का तार !
है अपवाद-सदृश छोटा-सा आश्रम यह एकान्त !

अनंगमोहिनी—चल, हम आश्रय लें जब तक हो रजः-प्रभंजन शान्त !

रंगिणी— चलो, प्रकृति की होली है यह, रँग के पहले धूल ;
नयन कसक लें, किन्तु चषक दें मधुमय मन के फूल !

अनंगमोहिनी—अहा, कौन ये तरुण तपस्वी !

(मुग्ध होती है)

रंगिणी— शिवपुरजयी अनंग !
मूर्तिमन्त-से प्रकट यहाँ ये प्रिय वसन्त के संग।
किन्तु अनंगमोहिनी तुम हो, क्यों यह नव संकोच ?
तुम्हें देख सम्भ्रान्त स्वयं ये खोये-से कुछ सोच !

दिवोदास— स्वागत शुभे तुम्हारा, आहा ! निरवधि विधि की सृष्टि,
पर अपनी सीमा में आ कर रुक रहती है दृष्टि !
देश-काल का, वेश-वयस का, जन्मों का व्यवधान,
कोई नहीं मिटा सकता है अपनों की पहिचान।
फिर भी परिचय पूछ निभाते हैं हम लोकाचार,
सब से प्रथम बैठ कर समुचित है श्रम का परिहार।

रंगिणी— अनुगृहीत हम हुईं, आप का परिचय आश्रम आप,
फिर भी नहीं अप्सराएँ हम, कन्याएँ निष्पाप !
ठीक है न सखि ?

अनंगमोहिनी— दुर दुर्बुद्धे !

रंगिणी— दुर सकती हूँ दूर,
तब भी तुम न अकेली होगी, संग मिला भरपूर।
कैसे यहाँ झूठ कहती मैं, रहने दो भ्रू भंग,

प्रकट और ही कुछ करते हैं आर्द्र तुम्हारे अंग !
(दिवोदास से)
क्षमा कीजिए, सुकृति हमारी राज—
दिवोदास— रुकी क्या सोच,
स्वयं सिद्ध यह राजकुमारी तो क्या भय-संकोच ?
रंगिणी— शील जन्य संकोच, किन्तु भय ? भय उलटे हम नाग !
दिवोदास— किन्तु नागकन्ये, मुझ को तो होता है अनुराग !
रंगिणी— इसी लिए तो आप हमारे प्रिय हैं गुणिगण-राज !
पर मेरा बोलना सखी को अप्रिय-सा है आज।
आवश्यक भी नहीं मुझे कुछ कहना-सुनना और,
नर का परिचय नर, नारी का नारी ही सब ठौर।
सफल आपका तप, इनका भी पूर्ण आज व्रतचर्य,
आई थीं शिव दर्शनार्थ ये पर काशी—आश्चर्य !
दिवोदास— भद्रे, इस धरती पर कोई देव नहीं अब शेष,
अनंगमोहिनी—(स्वगत)
पर निज देव-समक्ष स्वयं मैं देख रही अनिमेष।
रंगिणी— यही दीखता है मुझ को भी, क्या कहते हैं आप ?
दिवोदास— छोड़ गये हैं यह अकाल का वही यहाँ अभिशाप।
रंगिणी— किन्तु गये क्यों ?
दिवोदास— क्यों कि इसी में था अपना निस्तार।
अनंगमोहिनी—(घबराकर)
हा ! यह क्या ?
रंगिणी— विस्मय !
दिवोदास— विस्मय क्या ? स्वाभाविक व्यापार।
रंगिणी— पर देवों को ले कर ही हैं अपने सारे तन्त्र,
दिवोदास— सिद्ध एक पुरुषार्थ हमारी भुक्ति-मुक्ति का मन्त्र !
रंगिणी— इसे निरीश्वरवाद कहूँ क्या ?
दिवोदास— यह कहना है भूल,
मेरा प्रभु भी पुरुषोत्तम है, वही विश्व का मूल।
अनंगमोहिनी—(स्वगत)

झटक न दे मेरी आकुलता अब लज्जा का हाथ ;
(प्रकट)
क्षमा कीजिये, सब सुर भी क्या नहीं उसी के साथ ?

दिवोदास— रहें, किन्तु हम भी वैसे ही, उसके सभी समान ,
बन बैठे हैं हम में उस में आज वही व्यवधान ।

अनंगमोहिनी—इतना गौरव कैसे झेले छोटा मेरा वित्त ?

दिवोदास— जागी तुम निज शक्ति-रूप में मेरे कार्य-निमित्त ।

रंगिणी— तो क्या शंकरदेव-शून्य है सचमुच काशीधाम ?

दिवोदास— देव नहीं, वे महादेव हैं उनको कोटि प्रणाम ।
किन्तु जन्म भर की यात्रा है उनका वह कैलास ,
काशिवास तो हमें मिला है ऊजड़ और उदास !
तब हम उन के भक्त, बना दें ऐसा प्रिय यह देश ,
रहे विना जब रह न सकें वे, माँगें स्वयं प्रवेश !

रंगिणी— देव दूसरा घर खोजें अब, हुए यहाँ पट बन्द !

दिवोदास— द्रष्टा बन कर ही ऊपर से देखें वे स्वच्छन्द ।

अनंगमोहिनी— (बढ़ कर पैरों पड़ती हुई)
यह मत कहिए, यह मत कहिए, हे मेरे मधु-मिष्ट ,
मैं नव वधू, न हो हा ! मेरे नर का कहीं अनिष्ट !

दिवोदास— (उसे उठा कर)
प्रिये, प्रिये, चिन्ता न करो तुम, रहो पार्श्व में नित्य ,
आओ मिल कर करें राष्ट्र के लिए कठिन भी कृत्य ।

अनंगमोहिनी—मैं अनुचरी ।

रंगिणी— आप देवों से अधिक मुझे हैं मान्य ,
किन्तु सोचिए, देव-दया के विना कहाँ धन-धान्य ?

दिवोदास— हम दयनीय नहीं, भागी हैं देवों के ही साथ ,
हृदय नहीं, वा बुद्धि नहीं, वा नहीं हमारे हाथ ?
कल तक नाम जपा है हमने, आज करेंगे काम ,
यथा समय सब समझोगी तुम, लो थोड़ा विश्राम ।

अनंगमोहिनी—एक बात मैं और पूछ लूँ, यदि न करूँ अपराध ?

दिवोदास— अर्द्धांगिनि, तुम को है मुझ पर सब अधिकार अबाध ।

अनंगमोहिनी—कभी भू-भ्रमण की इच्छा यदि करें स्वयं सुर-सिद्ध ।
तब भी उनके लिए उचित क्या यहाँ प्रवेश निषिद्ध ?
दिवोदास— नहीं, किन्तु रखना होगा तब उन को भी नर-रूप ।
अनंगमोहिनी—आर्यपुत्र विजयी हों ।

(नेपथ्य में)

विजयी हों हम सब के भूप ।

(काशी के मन्त्री, पुरोहित और पुरजन)

आगन्तुक— रक्षा करिए, रक्षा करिए, देश आज उच्छिन्न ,
हे राजर्षि, अन्य कोई गति नहीं आपसे भिन्न ।
दिवोदास— स्वागत स्वजन, हुआ क्या यह सब ?
मन्त्री— अति दारुण दुष्काल ।
दिवोदास— यत्न ?
मन्त्री— यत्न क्या जब देवों की हुई कुदृष्टि कराल ?
दिवोदास— कारण ?
मन्त्री— कारण और कहूँ क्या, स्वयं हमारे पाप ।
दिवोदास— नहीं पापियों की स्वीकृति यह ।
मन्त्री— पुण्यात्मा हैं आप ।
दिवोदास— मैं क्या करूँ ?
मन्त्री— आप राजा हों तो न रुकेगी वृष्टि ।
दिवोदास— पर बहती गंगा पर भी क्या गयी तुम्हारी दृष्टि ?
मन्त्री— आशुतोष शंकर भी मानो गये हमें अब छोड़ ,
त्यागा नहीं त्रिपथगा ने ही अपना हृदय हिलोड़ ।
पीड़ित पुर-शिशु को, चिन्ता से कृश हैं जिन के अङ्ग ,
ये समेट-सी रहीं अङ्क में भर कर आह-तरंग !
करती हैं हे देव, यही तो यहाँ तृषा की शान्ति ।
दिवोदास— यही क्षुधा भी शान्त करेंगी और हरेंगी श्रान्ति ।
ऊपर शून्य तको क्यों, नीचे भरे सिन्धु गम्भीर ,
करो सींचने के उपाय ही, अक्षय है निज नीर ।
सुजला अब भी भूमि हमारी, चलो, करें उद्योग ,
सुफला इसे बना लें मिल कर समभोगी हम लोग ।

श्लाघनीय वह आवश्यकता, जिस में आविष्कार ,
नहीं चतुष्पद, गये द्विपद ही बाधाओं के पार ।
नहीं चाहिए हमें किसी भी देवासुर का भाग ,
किन्तु आत्म-संग्रह पहले है, पीछे कोई त्याग ।
कर के निज कर्त्तव्य स्वयं हम मानेंगे सन्तोष ,
फल अपने हैं, किन्तु अफल में नहीं हमारा दोष ।
रहे सदा सब के समक्ष यह मेरा लक्षक-लेख ,
हम न भव्यता भी खो बैठें, दूर दिव्य कुछ देख ।
रचा हमीं ने बाहर-भीतर यह इतना संसार ,
कितना चित्र-विचित्र हमारा एक पृथुल परिवार ।
नर हो कर हम क्यों निराश हों, निज कर नहीं अशक्त,
राजवंश भी रहे प्रजा के साथ सदा समभक्त ।

सब लोग— मान हमारे महाराज के उड़ें पुण्य-जय-केतु ,
इष्ट नहीं कुछ अधिक प्रजा से जिन्हें स्वयं निज हेतु ।

कला

आ, नव-नव निर्देश धरे !
अयि करुणामयि कले, कल्पना-कलित ललित-तम केश धरे !
तेरी खींची रेखाओं में क्या-क्या अंकित नहीं हुआ ?
चमक उठा वह भीतर बाहर ज्यों ही तूने जिसे छुआ ।
बहुरंगिणि, तेरे रंगों से कहाँ कौन रस कब न चुआ ?
उतर विश्व की आँखों पर तू देश-देश का वेश धरे !
आ, नव-नव निर्देश धरे !
खुला चतुर्दिक नील गगन-सा चर्चा का चत्वर तेरा ,
सुनते हैं आह्वान मुग्ध-से खग-मृग भी सत्वर तेरा ।
जड़ भी चेतन हो उठते हैं, ऐसा अद्भुत स्वर तेरा ,
उतर विश्व की कंठ-नली में सीधा हृदय-निवेश धरे !
आ, नव-नव निर्देश धरे !

अपने ही अन्तस् की कोई किस प्रकार समझे-बूझे ?
किस प्रकार उत्साहित हो कर अपने अशुभों से जूझे ?
कैसे राम और रावण का भिन्न मार्ग हम को सूझे ?
उतर विश्व की वाणी में तू, आ असंख्य आवेश धरे !
आ, नव-नव निर्देश धरे !

किस की कसक मोहिनी बन कर जन को अमृत पिलाती है ?
तेरी भूमि पत्थरों पर भी कितने कमल खिलाती है !
तू वह माया है, जो उलटा हरि से हमें मिलाती है !
नहीं चन्द्र को, चन्द्रकला को सिर पर स्वयं भवेश धरे !
आ, नव-नव निर्देश धरे !

माखनलाल चतुर्वेदी

मोम-दीप मेरा

सूझ का साथी—
मोम-दीप मेरा !
कितना बेबस है यह
जीवन का रस है यह
छन-छन, पल-पल, बल-बल
छू रहा सबेरा ,
अपना अस्तित्व भूल
सूरज को टेरा—
मोम-दीप मेरा !
कितना बेबस दीखा
इसने मिटना सीखा
रक्त-रक्त, बिन्दु-बिन्दु
झर रहा प्रकाश-सिन्धु
कोटि-कोटि बना व्याप्त
छोटा-सा घेरा !
मोम-दीप मेरा !
जी से लग, जेब बैठ
तम-बल पर जमा पैठ
जब चाहूँ जाग उठे
जब चाहूँ सो जावे ,
पीड़ा में साथ रहे
लीला में खो जावे !
मोम-दीप मेरा !
नभ की तम गोद भरे—
नखत कोटि; पर न झरे

पढ़ न सका, उन के बल
जीवन के अक्षर थे,
आ न सके उतर-उतर
भूल न मेरे घर ये !
इन पर गर्वित न हुआ
प्रणय गर्व मेरा,
मेरा बस साथ मधुर
मोम-दीप मेरा !

जब चाहूँ मिल जावे
जब चाहूँ मिट जावे
तम से जब तुमुल युद्ध
ठने, दौड़ जुट जावे
सूर्यों के रथ-पथ का
ज्वलित लघु चितेरा !
मोम-दीप मेरा !

यह गरीब, यह लघु-लघु
प्राणों पर यह उदार
बिन्दु-बिन्दु
आग-आग
प्राण-प्राण
यज्ञ-ज्वार
पीढ़ियाँ प्रकाश-पथिक
जग-रथ-गति-चेरा !
मोम-दीप मेरा !

सजल गान, सजल तान

सजल गान, सजल तान
स-चमक चपला उठान,

गरज-घुमड़, ठान-ठान
बिन्दु-विकल शीत प्राण ,
थोथे ये मोह-गीत
एक गीत, एक गीत !
छू मत आचार्य ग्रन्थ
जिस के पद-पद अनन्त ,
वाद-वाद, पन्थ-पन्थ ,
व्यापक पूरक दिगन्त ,
लघु मैं, कर मत सभीत ।
एक गीत, एक गीत !
छू मत तू प्रणय-गान
जिस के उलझे वितान ,
मादक, मोहक, मलीन
चूम-चाम की लुभान
कर न मुझे चाह-क्रीत ,
एक गीत, एक गीत !
संस्कृति का बोझ न छू
छू मत इतिहास-लोक ,
छू मत माया, न ब्रह्म ,
छू मत तू हर्ष-शोक ,
सिर पर मत रख अतीत ;
एक गीत, एक गीत !
छू मत तू युद्ध-गान
हुंकृति, वह प्रलय-तान ,
बज न उठें जंजीरें ,
हथकड़ियाँ छू न प्राण !
मौत नहीं बने मीत
एक गीत, एक गीत !
गीत हो कि जी का हो ,
जी से मत फीका हो ,

आँसू के अक्षर हों,
स्वर अपने ही का हो,
प्रलय-हार, प्रणय-जीत,
एक गीत, एक गीत!

तुम मन्द चलो

तुम मन्द चलो,
ध्वनि के खतरों बखरे मग में—
तुम मन्द चलो।

सूझों का पहिन कलेवर-सा,
विकलाई का कल जेवर-सा,
घुल-घुल आँखों के पानी में—
फिर छलक-छलक बन छन्द चलो।
पर मन्द चलो।

प्रहरी पलकें! चुप, सोने दो!
धड़कन रोती है! रोने दो!
पुतली के अँधियारे जग में—
साजन के मग स्वच्छन्द चलो।
पर मन्द चलो।

ये फूल, कि ये काँटे आली,
आये तेरे बाँटे आली!
आलिंगन में ये सूली है—
इन में मत कर फर-फन्द चलो।
तुम मन्द चलो।

ओठों से ओठों की रूठन ,
बिखरे प्रसाद, छूटे जूठन ,
यह दंड-दान, यह रक्त-स्नान ,
करती चुपचाप पसन्द चलो ।
पर मन्द चलो ।

ऊषा यह तारों की समाधि ,
यह बिछुड़न की जगमगी व्याधि ,
तुम भी चाहों को दफनाती ,
छवि ढोती, मत्त-गयन्द चलो ।
पर मन्द चलो ।

सारा हरियाला, दूर्वो का ,
ओसों के आँसू ढाल उठा ,
लो साथी पाये—भागो ना ,
बन कर सखि, मत्त मरन्द चलो ।
तुम मन्द चलो ।

ये कड़ियाँ हैं, ये घड़ियाँ हैं
पल हैं, प्रहार की लड़ियाँ हैं
नीरव निश्वासों पर खिलतीं—
अपने सिसकन, निस्पन्द चलो ।
तुम मन्द चलो ।

———

जागना अपराध

जागना अपराध !
इस विजन वन-गोद में सखि ,
मुक्ति-बन्धन-मोद में सखि ,
विष-प्रहार-प्रमोद में सखि ,
मृदुल भावों स्नेह दावों

माखनलाल चतुर्वेदी

अश्रु के अगणित अभावों का शिकारी—
आगया विधि व्याध ;
जागना अपराध !
बंक वाली, भौंह काली,
मौत, यह अमरत्व ढाली,
करुण घन-सी तरल घन-सी
सिसकियों के सघन बन-सी,
श्याम - सी
ताजे, कटे-से,
खेत-सी असहाय,
कौन पूछे !
पुरुष या पशु
आय चाहे जाय,
खोलती-सी शाप,
कस कर बाँधती वरदान—
पाप में—
कुछ आप खोती
आप में—
कुछ मान।
ध्यान में, धुन में,
हिये में, घाव में
शर में,
आँख मूँदे,
ले रही विष को—
अमृत के भाव !
अचल पलक,
अचंचला पुतली
युगों के बीच,
दबी-सी,
उन तरल बूँदों से

कलेजा सींच,
खूब अपने से
लपेट-लपेट
परम अभाव,
चाव से बोली,
प्रलय की साध—
जागना अपराध!

चल पड़ी चुपचाप

चल पड़ी चुपचाप सन-सन-सन हुआ,
डालियों को यों चिताने-सी लगी,
आँख की कलियाँ, अरी, खोलो जरा,
हिल स्वपतियों को जगाने-सी लगी;
पत्तियों की चुटकियाँ
झट दीं बजा,
डालियाँ कुछ—
ढुलमुलाने-सी लगीं,
किस परम आनन्द—
निधि के चरण पर,
विश्व-साँसें गीत
गाने-सी लगीं।
जग उठा तरु-वृन्द-जग, सुन घोषणा,
पंछियों में चहचहाट मच गयी;
वायु का झोंका जहाँ आया वहाँ—
विश्व में क्यों सनसनाहट मच गयी!

माखनलाल चतुर्वेदी

गिरि पर चढ़ते, धीरे-धीरे

सूझ ! सलोनी, शारद-छौनी ,
यों न छका धीरे-धीरे !
फिसल न जाऊँ, छू भर पाऊँ ,
री, न थका धीरे-धीरे !
कम्पित दीठों की कलम करों में ले ले ,
पलकों का प्यारा रंग जरा चढ़ने दे ,
मत चूम ! नेत्र पर आ, मत जाय असाढ़ ,
री चपल चितोरी ! हरियाली छबि काढ़ !
ठहर अरसिके, आ चल हँस के ,
कसक मिटा धीरे-धीरे !
झट मूँद, सुनहली धूल, बचा नयनों से
मत भूल, डालियों के मीठे वयनों से ,
कर प्रकट विश्व-निधि रथ इठलाता, लाता
यह कौन जगत के पलक खोलता आता ?
तू भी यह ले, रवि के पहले ,
शिखर चढ़ा, धीरे-धीरे !
क्यों बाँध तोड़ती उषा, मौन के प्रण के ?
क्यों श्रम-सीकर बह चले, फूल के, तृण के ?
किस के भय से तोरण तरु-वृन्द लगाते ?
क्यों अरी अराजक कोकिल, स्वागत गाते ?
तू मत देरी से, रण-भेरी से
शिखर गुँजा धीरे-धीरे !
फट पड़ा ब्रह्म ! क्या छिपें ? चलो माया में ,
पाषाणों पर पंखे झलती छाया में ,
बूढ़े शिखरों के बाल-तृणों में छिप के ,
झरनों की धुन पर गायें चुपके-चुपके
हाँ, उस छलिया को साँवलिया की ,
टेर लगे, धीरे-धीरे !

तरु-लता सींखचे, शिखा-खंड दीवार,
गहरी सरिता है बन्द यहाँ का द्वार,
बोले मयूर, जंजीर उठी झनकार,
चीते की बोली, पहरे का 'हुशियार!'
मैं आज कहाँ हूँ, जान रहा हूँ,
बैठ यहाँ धीरे-धीरे!
आतप का शासन, श्रमियो! अधभूखे,
चक्कर खाता हूँ सूझ और मैं सूखे,
निर्द्वन्द्व, शिला पर भले रहूँ आनन्दी,
हो गया किन्तु सम्राट शैल का बन्दी।
तू तरु-पुंजों, उलझी कुंजों से
राह बता; धीरे-धीरे!
रह-रह, डरता हूँ, मैं नौका पर चढ़ते,
डगमगी मुक्ति की धारा में, यों बढ़ते,
यह कहाँ ले चली, कौन निम्नगा धन्या?
वृन्दावन-वासिनि है क्या यह रवि-कन्या?
यों मत भटकाये, होड़ लगाये,
बहने दे, धीरे-धीरे,
और कंस के बन्दी से कुछ
कहने दे धीरे-धीरे!

मेरा घर है

क्या कहा, कि यह घर मेरा है?
जिस के रवि ऊँगे जेलों में,
सन्ध्या होवे वीराने में,
उस के कानों में क्या कहने
आते हो? यह घर मेरा है?

है नील-चँदोवा तना कि झूमर
झालर उस में चमक रहे,
क्यों घर की याद दिलाते हो
जब सारा रैन बसेरा है!
जब चाँद मुझे नहलाता है,
सूरज रोशनी पिन्हाता है,
क्यों दीपक ले कर कहते हो,
यह तेरा है, यह मेरा है!
ये आये बादल घूम उठे,
ये हवा के झोंके झूम उठे,
बिजली की चम-चम पर चढ़
गीले मोती भू चूम उठे;
फिर सनसनाट का ठाठ बना,
आ गयी हवा कजली गाने,
आ गयी रात, सौगात लिये,
ये गुलसब्बी मासूम उठे।
इतने में कोयल बोल उठी,
अपनी तो दुनिया डोल उठी,
यह अन्धकार का तरल प्यार
सिसकें बन आयीं जब मलार;
मत घर की याद दिलाओ तुम,
अपना तो काला डेरा है,
कलरव, बरसात हवा ठंडी,
मीठे दाने खारे मोती,
सब कुछ ले, लौटाया न कभी,
घर वाला महज लुटेरा है।
हो मुकुट हिमालय पहनाता,
सागर जिस के पद धुलवाता,
यह बँधा बेड़ियों में मन्दिर,

मसजिद-गुरुद्वारा मेरा है।
क्या कहा कि यह घर मेरा है!

मरण-ज्वार

प्रहारक, बाण हो कि बात ?
चीज क्या, आर-पार जो न हो !
दान क्या भिखमंगों के स्वर्ग !
प्राण तक तू उदार जो न हो ?
फेंक वह जीत, या कि वह हार,
मिला बलि में प्रहार जो न हो ?
चुनौती किसे ? और किस भाँति ?
कि अरि के कर कुठार जो न हो ?
हार क्या—कलियों का जी छेद,
बिंधा उन में दुलार जो न हो ?
प्यार क्या ? खतरों का झूलना
झूलना बना प्यार जो न हो ?
लौह-बन्धन, कि वार पर वार,
मधुर-स्वर क्यों ? सितार जो न हो।
रखे लज्जा क्यों सन्त कपास
पेर कर, तार-तार जो न हो ?
दिखे हरियाली ? मेघ श्याम,
कृषक चरणोपहार जो न हो ?
शूलियाँ बनें प्रश्न के चिह्न,
देश का चढ़ा प्यार जो न हो ?
तुम्हारे मेरे बीचों-बीच,
प्रणय का बँधा तार जो न हो ?

अरे हो जाय रुधिर बेस्वाद ,
लाड़ला मरण-ज्वार जो न हो !

बलि-पन्थी से

मत व्यर्थ पुकारे शूल-शूल ,
कह फूल-फूल बस फूल-फूल ।
हरि को ही-तल में बन्द किये ,
केहरि से कह नख हूल-हूल ।

कागों का सुन कर्तव्य-राग ,
कोकिल-काकलि को भूल-भूल ।
सुरपुर ठुकरा; आराध्य कहे
तो चल रौरव के कूल-कूल ।

भूखंड बिछा, आकाश ओढ़ ,
नयनोदक ले, मोदक प्रहार ,
ब्रह्मांड हथेली पर उछाल ,
अपने जीवन-धन को निहार ।

गीतों के राजा

मेरे गीतों के राजा ! तुम
मेरे गीतों में वास करो ।

थक चुका, कि मैं कैसे डोलूँ !
इन गीतों के बेगाने में ,
भर चुका, कि मैं किस से बोलूँ !
इन गीतों के वीराने में !

मेरी उसाँस की दुनियाँ को
अब और न सत्यानाश करो ,
मेरे गीतों के राजा ! तुम
मेरे गीतों में वास करो ।

नभ रिमझिम रिमझिम बरस उठा
सूरज का किरन-जाल छाया ,
बहते बादल पर इन्द्र-धनुष
सतरंगी कविता बन आया ;
मिट गया छनक भर में फिर क्यों ?
मेरा मत यों उपहास करो ,
मेरे गीतों के राजा ! तुम
मेरे गीतों में वास करो ।

नभ साफ हुआ, तारे चमके ,
निशि ने चमकीले गान लिखे ,
काले अन्तस् में अमर चमक
वाले अपने अरमान लिखे ;
क्यों ऊषा झाड़ू फेर चली ?
नभ पर थोड़ा विश्वास करो !
मेरे गीतों के राजा ! तुम
मेरे गीतों में वास करो ।

फिर कैसे चमके गीत कि हाँ ,
रवि ने नभ की गोदी भर दी ,
दायें, बायें, ऊपर, नीचे, अणु-
अणु प्रकाश-कविता रच दी ;
'कविता पोंछी'—भेजा क्यों दल-
बल अन्धकार ? न निराश करो ।
मेरे गीतों के राजा ! तुम
मेरे गीतों में वास करो ।

तुम रहो न मेरे गीतों में
तो गीत रहें किस में बोलो ?
तुम रहो न मेरे प्राणों में
तो प्राण कहें किस से बोलो ?
मेरी कसकों में कसक-कसक
मेरी खातिर वनवास करो।
मेरे गीतों के राजा ! तुम
मेरे गीतों में वास करो।

कैदी और कोकिल

क्या गाती हो ?
क्यों रह-रह जाती हो ?
कोकिल बोलो तो !
क्या लाती हो ?
सन्देशा किस का है ?
कोकिल बोलो तो !
ऊँची काली दीवारों के घेरे में,
डाकू, चोरों, बटमारों के डेरे में,
जीने को देते नहीं पेट भर खाना,
मरने भी देते नहीं, तड़प रह जाना !
जीवन पर अब दिन-रात कड़ा पहरा है,
शासन है, या तम का प्रभाव गहरा है ?
हिमकर निराश कर चला रात भी काली,
इस समय कालिमामयी जगी क्यूँ आली ?
क्यों हूक पड़ी ?
वेदना बोझवाली-सी ;
कोकिल बोलो तो !
क्या लुटा ?

मृदुल वैभव की रखवाली-सी ,
कोकिल बोलो तो !
बन्दी सोते हैं, है घर घर श्वासों का ,
दिन के दुख का रोना है निश्वासों का ,
अथवा स्वर है लोहे के दरवाजों का ;
बूटों का, या सन्त्री की आवाजों का ,
या गिनने वाले करते हाहाकार ।
सारी रातों हैं—एक, दो, तीन, चार—!
मेरे आँसू की भरी उभय जब प्याली ,
बेसुरा ! मधुर क्यों गाने आयी आली ?
क्या हुई बावली
अर्द्ध-रात्रि को चीखी ,
कोकिल बोलो तो !
किस दावानल की
ज्वालाएँ हैं दीखीं ?
कोकिल बोलो तो !
निज मधुराई को कारागृह पर छाने ,
जी के घावों पर तरलामृत बरसाने ,
या वायु-विटप-वल्लरी चीर, हठ ठाने
दीवार चीर कर अपना स्वर अजमाने ,
या लेने आयी इन आँखों का पानी ?
नभ के ये दीप बुझाने की है ठानी !
खा अन्धकार, करते वे जग रखवाली
क्या उन की शोभा तुझे न भायी आली
तुम रवि-किरणों से खेल ,
जगत को रोज जगानेवाली ,
कोकिल बोलो तो ?
क्यों अर्द्ध रात्रि में विश्व
जगाने आयी हो ? मतवाली
कोकिल बोलो तो !

दूबों के आँसू धोती रवि-किरनों पर,
मोती बिखराती विन्ध्या के झरनों पर,
ऊँचे उठने के व्रतधारी इस वन पर,
ब्रह्मांड कँपाती उस उद्दंड पवन पर,
तेरे मीठे गीतों का पूरा लेखा
मैंने प्रकाश में लिखा सजीला देखा।

तब सर्वनाश करती क्यों हो,
तुम, जाने या बेजाने?
कोकिल बोलो तो!
क्यों तमोपत्र पर विवश हुई
लिखने चमकीली तानें?
कोकिल बोलो तो!

क्या?—देख न सकती जंजीरों का गहना?
हथकड़ियाँ क्यों? यह ब्रिटिश-राज का गहना;
कोल्हू का चर्रक-चूँ?—जीवन की तान,
गिट्टी पर अंगुलियों में लिक्खे गान?
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूआ,
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूआ।
दिन में क्यों करुणा जगे, रुलानेवाली,
इस लिए रात में गजब ढा रही आली?

इस शान्त समय में,
अन्धकार को बेध, रो रही क्यों हो?
कोकिल बोलो तो!
चुपचाप, मधुर विद्रोह-बीज
इस भाँति बो रही क्यों हो?
कोकिल बोलो तो!

काली तू, रजनी भी काली,
शासन की करनी भी काली,
काली लहर, कल्पना काली,

मेरी काल-कोठरी काली ,
टोपी काली, कमली काली ,
मेरी लौह-शृंखला काली ;
पहरे की हुंकृति की व्याली ,
तिस पर है गाली; ऐ आली !

इस काले संकट-सागर पर
मरने की मदमाती !
कोकिल बोलो तो !
अपने चमकीले गीतों को
क्यों कर हो तैराती !
कोकिल बोलो तो !

तेरे 'मांगे हुए' न बैना ,
री तू नहीं बन्दिनी मैना ,
न तू स्वर्ण-पिंजड़े की पाली ,
तुझे न दाख खिलाये आली ;
तोता नहीं; नहीं तू तूती ,
तू स्वतन्त्र बलि की गति कूती ,
तब तू रण का ही प्रसाद है ,
तेरा स्वर बस शंखनाद है ।

दीवारों के उस पार !
या कि इस पार दे रही गूँजें ?
हृदय टटोलो तो !
त्याग शुक्लता ,
तुझ काली को, आर्य-भारती पूजे ,
कोकिल बोलो तो !

तुझे मिली हरियाली डाली ,
मुझे नसीब कोठरी काली !
तेरा नभ भर में संचार
मेरा दस फुट का संसार !
तेरे गीत कहावें वाह ;

रोना भी है मुझे गुनाह !
देख विषमता तेरी मेरी ,
बजा रही तिस पर रण-भेरी !
इस हुंकृति पर ,
अपनी कृति से और कहो क्या कर दूँ !
कोकिल बोलो तो !
मोहन के व्रत पर ,
प्राणों का आसव किस में भर दूँ ?
कोकिल बोलो तो !
फिर कुहू !...अरे क्या बन्द न होगा गाना ?
इस अन्धकार में मधुराई दफनाना ?
नभ सीख चुका है कमजोरों को खाना ,
क्यों बना रही अपने को उस का दाना ?
फिर भी करुणा-गाहक बन्दी सोते हैं ,
स्वप्नों में स्मृतियों की श्वासें धोते हैं !
इन लौह-सीखचों की कठोर पाशों में
क्या भर दोगी ? बोलो निद्रित लाशों में ?
क्या ? घुस जायेगा रुदन ,
तुम्हारा निश्वासों के द्वारा ,
कोकिल बोलो तो !
और सबेरे हो जायेगा
उलट-पुलट जग सारा ,
कोकिल बोलो तो !

चाह

चाह नहीं, मैं सुर-बाला के गहनों में गूँथा जाऊँ ,
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध, प्यारी को ललचाऊँ ,

चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि! डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ,
मुझे तोड़ लेना वनमाली!
उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक॥

सियारामशरण गुप्त

पथ

हे अलक्ष्य-गामी पथ !
आये हो कहाँ से तुम ?
कर के मनोरथ
यहाँ से तुम
यात्री हुए कौन दूर देश के ?
कौन से प्रदेश के
तुम अधिवासी हो ?
कब के प्रवासी हो ?
किस दिन मायाजाल तोड़ के,
गेह निज छोड़ के,
बाहर हुए थे इस अक्षय भ्रमण को ?
—विश्व महा सिन्धु सन्तरण को—?
हे सर्वत्रगामी चर,
विचर-विचर कर
ढूँढ़ते किसे हो तुम,—
कौन प्रेयसी है वह, चाहते जिसे हो तुम ?
कोई कहीं मेला है,
या कि कहीं कोई नव खेला है ?
कर के इसी से टेक
बीच-बीच में अनेक
आये मार्ग बालकों के ये समूह
गाँवों से, विभेद विजनों के व्यूह,
ले के उन्हें साथ में
पकड़ा के तर्जनी को हाथ में
आगे चले जाते तुम,
कहाँ, कहाँ, इन को घुमाते तुम ?
दूर किसी नगरी में जा के,
भीड़ में समा के

नई नई बातें देखते हो वहाँ ;
जहाँ तहाँ
घूमते हो नागरिक बन के ,
चिह्न मिटते हैं ग्राम्यपन के ।
घूम-फिर यहाँ-वहाँ जाते हो ,
गलियों में बिलाते हो !
फिर भी क्या रहता अधूरा है
मनोकाम,—होता नहीं पूरा है ?
देते हो दिखाई तुम आगे गये ।
कौन-से नये-नये ,
दृश्य देखने की तुम्हें साध है ?
पायी गति तुमने अबाध है !
ऊँचे ताड़ जैसे दत्यकाय झाड़
रक्षक बनाये है जहाँ पहाड़—
व्याघ्र की दहाड़ बड़ी ,
हाथी की चिंघाड़ कड़ी ,
करती जहाँ है किसी पागल का अट्टहास ;
दिन में भी रात का जहाँ है वास ;
दुर्गम वहाँ के गर्त गड्ढों से ,
खड्ढों से—
'मार्गभ्रष्ट' होने नहीं पाते तुम ;
शीघ्र लिखे अक्षरों में शीघ्रतर
सर्प-चाल चल कर ,
कुशल कथा-सी लिख जाते तुम !
स्रोतस्विनी आ के पैर धोती जहाँ ,
कल-कल मंजु ध्वनि होती जहाँ ,
कर के चमर तीर-वासी द्रुम
कोमल कुसुम
शुचि तुम पै चढ़ाते हैं ,—
मानो पुष्प-शय्या-सी बिछाते हैं ;

लेने को विराम वहाँ तुम रुक जाते क्या ?
या कि किसी सेतु को सवारी-सम पाते क्या ?
या कि एक गोता साध कर के ;
भीतर ही भीतर अगाध जल तर के ,
आगे अविराम चले जाते हो ,
नृत्य और गान आदि से न छले जाते हो ।
किन्तु जहाँ पारावार
फैला हुआ अगम अपार
अन्तहीन है ,
हहाकार—
होता नहीं जिस का विलीन है ;
लहरें विलोल-लोल हार कर ,
सुध-सी बिसार कर
मुहँ से गिराती हुई फेन-पुंज, भ्रान्त-क्लान्त ,
आ के अनजाने किसी दूर देश से अशान्त ,
गिरती धड़ाम से हैं तट पर ,
किन्तु शीघ्र उठ कर ,
लौट वहीं जाती हैं इसी प्रकार ;
अन्य लहरों के लिए कूल का विरामागार
खाली कर जाती हैं ,
और फिर दृष्टि नहीं आती हैं ।
पूरी तीर्थयात्रा वहीं होती है तुम्हारी क्या ,
पैदल भ्रमण-वांछा मिटती है सारी क्या ?
फिर तुम दीख पड़ते हो नहीं ,
सागर के गर्भ में समाते तुम क्या वहीं ?
या किसी जहाज पर हो सवार
जाते हो अपर पार ?
बैठ के या नीर-गर्भ-गामी किसी पोत पर ,
या कि महावीर ज्यों छलाँग एक मार कर
पार जा उतरते ;

शांति-हीन देशों में विहार फिर करते ?
ज्ञात किसे, कहाँ-कहाँ घूम तुम आये हो ;
कितनी विलुप्त-कथा ,
हर्ष-व्यथा ,
धूलि के कणों में तुम यत्न से छिपाये हो ;—
वर्षा, शीत, आतप में
—रात-दिन मग्न रह मौन आत्मतप में—
कितने प्रवासियों को
—मर्त्यलोक-वासियों को—
तुमने ठिकाने पहुँचाया है ;
पार-सा लगाया है !
पूरी दिनचर्या जहाँ लिखित तुम्हारी हो ,
अश्रुत युगों की गूढ़गाथा छिपी सारी हो ,
उस तहखाने तक तुम पहुँचाओ हमें ,
अपना रहस्य सब खोलके दिखाओ हमें !

मूर्ति

मग्न हो हे मूर्ति, तुम किस ध्यान में ,
लग्न हो तुम किस अपूर्व विधान में ?
शीत, तप, वर्षा विपुल आ जा रहे ,
पर तुम्हें हम मौन ही हैं पा रहे ।
किस लिए है यह विकटतर साधना ,
किस लिए है यह अतुल आराधना ?
तुम यहाँ इस भाँति कब से हो खड़ी ,
पूर्ण कब होगी तपस्या यह कड़ी ?
स्वच्छ नभ में बिहँसती है जब निशा ,
जाग उठती है सुधांशुमयी दिशा ,

किन्तु तब भी मौन ही तुम दीखती ,
कौन पाठ दुरूह तुम हो सीखती ?
गरजती घन घोष से जब यामिनी ,
गाढ़ करती तिमिर को सौदामिनी ।
उस समय भी तुम खड़ी रहती यहीं ,
एक क्षण भी है विराम तुम्हें नहीं ।
ग्रीष्म जब बनता कृतान्ताकार-सा ,
गात होता तप्त तप्तांगार-सा ;
पर तुम्हें होता नहीं दुख-रोग है ,
कौन-सा हे योगिनी यह योग है ?
हो चुके साम्राज्य कितने ध्वंस हैं ,
राज्य भोग चुके विपुल नृप-वंश हैं ।
भूप भिक्षुक, और भिक्षुक नृप हुए ,
पर तुम्हारे साश्रु नेत्र कभी चुए ?
नासिका को छिन्न कोई कर गया ,
क्रूरता अपनी अमर कर मर गया ।
ध्यान इस का भी नहीं है पर तुम्हें ,
क्या कभी कोई हुआ है डर तुम्हें ?
सुरभि सुरभित पवन दे जाती तुम्हें ;
कौन कह सकता कि वह भाती तुम्हें ?
मार्ग-रज आ कर प्रभञ्जन डालता ,
पर—तुम्हारी धन्य धैर्य-विशालता !
शैल भी यह है खड़ा पाषाण का ,
प्रथित यह भी है कठिनतर प्राण का ।
पर वसन्त विशेष विहँसाता इसे ,
धूलि-धूसर ग्रीष्म कर जाता इसे ।
पर, न तुम हँसती कभी क्या बात है ?
खेद भी होता न तुम को ज्ञात है ।
क्या प्रतीक्षा है किसी सुवसन्त की—
हो कभी वेला न जिस के अन्त की ?

बहुत कुछ तुम देख-भाल चुकी अभी,
और देखोगी अनन्त भविष्य भी।
अन्त इस वैराग्य का कब आयगा?
या तुम्हारे साथ ही यह जायगा?
जिस तरह शिल्पी खड़ा है कर गया,
आन्तरिक जो भाव मुख पर भर गया।
धन्य आज्ञाकारिता के चाव से
तुम खड़ी हो आज तक उस भाव से!
हाय! यदि हम मूर्ति ही होते कहीं,
और हो कर और तो होते नहीं।
प्राप्त जो तुम को महान महत्त्व है,
इस मनुजता में कहाँ वह तत्त्व है?

किरण

ज्ञात नहीं जानें किस द्वार से
कौन से प्रकार से,
मेरे गृहकक्ष में,
—दुस्तर-तिमिरदुर्ग-दुर्गम-विपक्ष में—
उज्वल प्रभामयी
एकाएक कोमल किरण एक आ गयी।
बीच से अँधेरे के हुए दो टूक;
विस्मय-विमुग्ध
मेरा मन
पा गया अनन्त धन।

रश्मि वह सूक्ष्माकार
कज्जल के कूट में उसी प्रकार,

जौलों रही उज्वल बनी रही ;
ओठों पर हास रहा हँसता हुआ वही।
किन्तु उसी हास-सी ,
वीचि के विलास-सी ,
विद्युत-प्रवाहमयी
जैसी वह आयी बस वैसी ही चली गयी।
एक ही निमेष में
मेरे मरुदेश में
आ कर सुधा की धार अमृत पिला गयी ,
और फिर देखते ही देखते बिला गयी।
कोई दिव्य देवी दयादीप लिये जाती थी ;
मार्ग में सुवर्ण-रश्मि-राशि बरसाती थी।
उस में से एक यह रश्मि आ पड़ी थी यहाँ ,
किन्तु वह रहती भला कहाँ ,—
मेरा घर सूना था ,
अगम अरण्य का नमूना था।
रोकता उसे मैं यहाँ हाय ! किस मुख से ,
बाँधता उसे मैं किस भाँति भव-दुख से !
आयी वह, है क्या यही बात कम ;
एक ही निमेष वह मेरे एक जन्म-सम
मेरे मनोदोल पै अनन्त काल झूलेगा ;
सुकृति समान वह मुझ को न भूलेगा।

——

अभिसार

तेरे लिए प्रिये, यह मेरा जीवन है अभिसार ;
मार्ग में घन तम है दुर्वार ;
चलता हूँ प्रति क्षण प्रति पल मैं ,
कम्पित-वक्ष विकल, विह्वल मैं ,

तज संकोच विचार ;
हृदय पर रख कर भीषण भार ।
तेरे लिए प्रिये, यह मेरा जीवन है अभिसार ।
नित्य नवीन उषा आती है सज सोने का थाल ,
बिछा कर मनोमुग्ध-कर जाल ;
जानें क्या कितना लाती वह ,
किस को क्या-क्या दे जाती वह ,
निज स्वर्णच्छवि डाल ;
नहीं रुकती है मेरी चाल ;
नित्य नवीन उषा आती है सज सोने का थाल !
आती है गोधूलि नित्य ही दिन भर की-सी क्लान्ति ,
वहन कर भूली भटकी भ्रान्ति ,
एक दीप रख नभ-प्रांगण में
वह जाती है मुक्त पवन में ;
पा कर सुखमय शान्ति ;
नहीं मिटती इस उर की क्रान्ति ;
आती है गोधूलि नित्य ही दिन भर की-सी क्लान्ति ।
मुक्तकुन्तला सघन निशा जब नेत्रों में भर नीर ,
छोड़ कर दीर्घश्वास समीर ,
अशिव अवेश बना कर आती ,
चंचलाग्नि उर पर दहकाती ;
करके मुझे अधीर ,
हृदय में कौन छेदता तीर ;
मुक्तकुन्तला सघन निशा जब नेत्रों में भर नीर ।
दिन भर उठा-गिरा करता जब कठिन कर्म्म-कल्लोल ,
प्राप्त बाधा का बन्धन खोल ,
लाभ-हानि की उस क्यारी में !
उजयाली में , अँधियारी में ,
मेरा हृदय विलोल ,
सुना करता है किसका बोल ?

दिन-भर उठा गिरा करता जब कठिन कर्म्म-कल्लोल ।
ज्ञात नहीं, कितना चलना है—है कितना दिनमान ;
कहाँ है तेरा वासस्थान ।
होऊँ सुप्त कि होऊँ जाग्रत ,
यह यात्रा रहती है अविकृत ,
अविरत एक समान ;
चलूँगा मैं यों ही मुदमान ;
ज्ञात नहीं, कितना चलना है—है कितना दिनमान ।

पलायित

अरे पलायित भाव, रूठ कर कहाँ गया तू ,
ले आया था आज कौन उपहार नया तू ?
मैं था अन्यमनस्क कि ऐसे में तू आया ,
छली, तुझे मैं भली भाँति पहचान न पाया ।
आया था क्या कुशल-कथा ले नन्दन-वन से ,
सुमन चयन कर या कि शुभाषा के कानन से ;
या कि भविष्यत्-जाल वेध कुछ लाया था तू ,
आगामी कुछ दृश्य देख कर आया था तू ;
या वार्तावह बना चाहता था तू मेरा
दूर लोक के लिए, इष्ट क्या था कह तेरा ?
बीच मार्ग से लौट गया क्यों निर्मम बन तू ;
मेरा विषम विषाद और कर गया सघन तू ।

चोर

मेरे यहाँ दासी वह थी नयी
नाम था दयामयी।
विधवा अभागी जान,
मैंने उसे घर में दिया था स्थान।
और नौकरों की दया उस पर थी यथेष्ट,—
रहती क्यों काम में सदा सचेष्ट;
काम में जुटे रहो तो काम है बिगड़ता।
कोई जब व्यर्थ को ही इस से है लड़ता,
तब भी बुराई नहीं मानती,—
मूर्खा यह बात करना भी नहीं जानती।
सीधी बनती है, बस, वाहवाह पाने को;
औरों की बुराई ही जताने को।
तत्व यह मेरे सब नौकरों ने जान लिया;
तब तो स्वजाति से निकाल-सा उसे दिया!
मालकिन यद्यपि न रुष्ट थी,
तो भी न थी तुष्ट भी।
बोली—"इन नौकरों के मारे है नाकों-दम।
एक दूसरे से कम
जान नहीं पड़ता।
रात-दिन एक दूसरे से है झगड़ता।
हो रही हूँ चाकरों की चाकरानी
काम है इन्हीं की देख-भाल मात्र करनी!"
बोला मैं—"दयामयी को तो क्या कर दूँ मैं दूर?
दृष्टि है उसी पर सभी की क्रूर।"
बोली उमा उच्च हास्य करके,
"मालिक ही घर के
उस पै प्रसन्न हैं विशेषतर
तब फिर क्रूर दृष्टि से ही उसे देख कर

उसका बिगाड़ क्या सकेगा कौन ?"
बोली फिर रह के कुछेक मौन ,—
"चल ही गया है अब खूब विधवा-विवाह ;
किन्तु नहीं तुम हो विधुर आह !"
देखा—किसी काम से दयामयी ,
सामने से जल्दी से चली गयी ।
छी ! छी ! उमा, कैसी हँसी ,
उस पर व्यर्थ व्यंग्य जो विपत्ति में फँसी !
दुःख मुझे होता उसे देख के सदा उदास ।
चारों ओर आस-पास
अपने ही आप से उलझती ,
कल-कल नृत्य कर वेगवती
आलोड़ित हर्षामोद-धारा है ;
दुःखिनी का उर ही सतृष्ण शुष्क सारा है ।
गुंजित है चारों ओर जो अपूर्व हर्ष-गान ,
सुनते नहीं हैं हा ! इसी के कान ।
भीतर ही भीतर भभकती ,
उर में विषम-वह्नि-ज्वाला है धधकती ।
ऊर्ध्वगामी उस के धुएँ की राशि ही मलीन ,
मुख यों किये क्या हाय ! कान्तिहीन ?
दिन के प्रदीप की शिखा-समान ,
आग में जला के प्राण ,
पाती नहीं कण भी प्रकाश का ;
पाती उपहास, व्यंग्य-मात्र, आस-पास का ।
शंकित-सी चलती है मग में ;
मानो पग-पग में ,
ठोकरें ही ठोकरें भरी पड़ी ।
धीरे से कहती बात, बात कहीं कोई कड़ी

भूल से न मुहँ से निकल जाय,
और गला घोट दे उसी का हाय!
काम में ही रहती सदैव लीन,
दुर्बल करों से कहीं कोई उसे ले न छीन!
एक दिन प्रातःकाल,
गिन्नयों की गड्डी जेब से निकाल
रखने को भेज के उमा के पास,
बाहर गया मैं किसी काम को
सह कर भूख-प्यास
श्रान्त क्लान्त लौटा जब शाम को,
"गिन्नियाँ थीं कितनी?" उमा ने यह प्रश्न किया;
उत्तर जो मैंने दिया
एक की कमी पड़ी।
सामने दयामयी अधीर भाव से खड़ी,
सुनकर मेरी बात,
रोने लगी पा कर कठोर घोर बज्राघात।
झाड़ कर देखी जेब बार-बार,
पा न सका तो भी वह गिन्नी मैं किसी प्रकार।
रोती हुई सामने उसे विलोक
रोष मैं सका न रोक।
मैंने कहा—"जानता था मैं तो तुझे भोली बड़ी;
दूर हो यहाँ से यहाँ क्यों अड़ी?"
एकाएक नौकरों में छा गयी नयी उमंग;
हँस-हँस बातें कर एक दूसरे के संग,
जा कर सहर्ष जुटे निज-निज काम में
पा गये हों मानो वह गिन्नी ही इनाम में।
चार-पाँच रोज बाद
बैठा था अकेला काम-काज बिना घर में।
अन्तर के अन्तर में
छाया था न जाने कौन-सा विषाद।

चारों ओर सन्नाटा वहाँ था दोपहर का !
मानो विश्व-भर का
अकथ विषाद उस मूकता में था भरा।
सूर्यातप-खिन्न धरा
मानो कुछ सोचती थी पा कर क्षणावकाश।
अपने ही आप में निमग्न-सा था नीलाकाश।
नीरव इसी प्रकार
लाद कर सिर पै कलंक-भार,
आती न थी काम पै दयामयी।
याद उस की ही मुझे आगयी।
कपड़ों का ढेर किये,
छाँटती उन्हें थी उमा धोबी के यहाँ के लिए,
बैठी हुई आँगन में।
बिजली-सी दौड़ गयी मन में,
एकाएक मुझ को झनाका जो सुनाई दिया।
झाँकने को ऊर्ध्व तनु आगे किया ;—
दीख पड़ी गिन्नी वह !
हो गयी थी नीरव न जावें कौन बात कह,
हँस कर धूप में चमक के,
मेघ-युक्त तारा-सी दमक के !
वायु के जरा-से किसी झोंके से रह-रह,
वस्त्र काँपता था चोर के समान।
पूर्व-घटना का मुझे आ गया तुरन्त ध्यान।
मैंने उस वस्त्र की ही जेब में प्रथम वार
रक्खी थीं गिन्नियाँ सँभाल के ;
किन्तु फिर जीर्ण-सी उसे विचार
उन को निकाल के,
पलट दिया था अन्य जेब में तुरन्त ही।
किन्तु वह गिन्नी इसी जेब में छिपी रही।
रोषानल-दीप्त वह ताक कर मेरी ओर,

कहती-सी जान पड़ी—"चोर! चोर!"
मन को न दे सका मैं तोष आप।
विधवा अभागी का असह्य ताप
करने विदग्ध लगा मेरी देह भर को।
भेजा एक नौकर दयामयी के घर को,
चोरी का समस्त वृत्त उस को जताने को;
काम पर फेर उसे लाने को।
नौकर ने लौट कर
मुझको बताया— "नहीं वह तो मिली वहाँ।
छोड़ घर
चली गयी जाने कहाँ।"
आज तक खोज के भी मैं न उसे पा सका।
वह है अदोष,—न मैं उस को जता सका।
लाद कर मेरे अपराध की कलंक-कथा,
सह के असह्य व्यथा
जानें किस गुप्त-वास में है कहाँ;
आ भी नहीं सकती है आज वह हाय! यहाँ।

———

दुर्वार

"रुक जा, रुक जा बन्धु, आज तू;
आज प्रकृति-गति है प्रतिकूल;
भर-भर कर हुंकार कोपना
झंझा उड़ा रही है धूल।"

अहा ! धूल ने भी गति धारी ;
शुष्क पत्र भी हैं नभचारी ;
तज विलास मन्थरता सारी
हुआ मृदुल मारुत वातूल !
सखे, रोक मत मुझे आज तू ,
प्रकृति आज मेरे अनुकूल ।

"रुक जा, रुक जा बन्धु, आज तू ,
आज समय-गति है प्रतिकूल ;
रुद्र व्योम घन जटा खोल निज
लिये हुए हैं विद्युत्-शूल ।"

शूल अहा ! यह चमक-चमक कर ,
पड़ता है मेरे पथ-तम पर ।
इतना भी कम क्या, यदि डग भर
बढ़ जाता हूँ मैं भय भूल !
सखे, रोक मत मुझे आज तू ,
समय आज मेरे अनुकूल ।

"रुक जा, रुक जा बन्धु, आज तू ,
ऋतु है यात्रा के प्रतिकूल ;
जल ही जल सब ओर आज है ,
डूब गये हैं सब पथ-कूल ।"

मेरे मग की खन्दक खाई ,
बर्षा समतल पर है लाई ।
अहा ! सन्तरण की बन आयी ,
कंकट दे न सकेंगे शूल ।
सखे, रोक मत मुझे आज तू ,
सब कुछ है मेरे अनुकूल ।

तिमिर-पर्व

धन्य आज का यह खग्रास !
बहुत दिनों में जाना मैं ने
मुझ में इतना विभव-विलास !
आज पूर्ण मेरा उल्लास !
प्रखर प्रभा को शीतल कर के ,
निखिल मधुरिमा उस में भर के ,
निशि की कुटिल कालिमा हर के
फैलाया मैंने मृदु हास ।
देखी, मैं ने देखी अपनी
पुण्य-पूर्णिमा बारों मास ।
किन्तु कहीं यह राहु न आता ,
आ कर मुझ को नहीं छिपाता ,
देख भला कैसे मैं पाता
यहाँ अमावस का आभास ?
मेरे बिना एक क्षण में ही
प्रकृति हुई गति-हीन उदास !
धन्य आज का यह खग्रास !
बहुत दिनों में जाना मैं ने
कितना क्या है मेरे पास ।
पूर्ण हुआ मेरा उल्लास !
ज्यों ही मुझे गगन में पाया ,
कुमुदों ने भी मुद बरसाया ।
जो ला सका राहु भी लाया ,—
उसका प्रेम यही तम-पाश !
इस तम में ही देखा मैं ने
अपना षोडश-कला विभास !
वही रश्मिमाला सुरुचिर ले ,

उसी सुधाकरता से घिर के ,
लो, यह मैं आ पहुँचा फिर से ;
पुनः प्रसन्न उदधि-आकाश !
तिमिर-पर्व में आज नहा कर
पूर्ण हुआ मेरा उल्लास !
धन्य आज का यह खग्रास !

बापू

(१)

ज्ञान-गरिमा-विशिष्ट ,
कौन वृद्ध तुम हे तपस्वि, नित्य एकनिष्ठ ?
स्थित थे जहाँ वहीं सुसंस्थित हो ।
एकासनासीन सदा ,
एक ध्यान-धारण निलीन सदा ,
नित्य अचलित हो !
झंझावात आते हैं प्रचंड रोषगति से ,
मुक्त असंयति-से ,
उच्चशीर्ष कितने महीरुहों को जड़ से
पकड़-पकड़ के
ऊपर उछाल कर धूलि खिला जाते हैं
निम्न भूमितल की ;
कम्पन विभीति तुम्हें एक भी न झलकी !
निर्बल का कौन बल धारे-से ,
तुम हो वहीं के वहीं किस के सहारे से ?
आते हैं दुरन्त दोल भूमिचाल ,
स्थल के तरंगोत्ताल ,
देने समहीन ताल

उच्छृंखल काल नृत्य-गति में ;
मुक्त अनियति में
पीछे कहीं दौड़-दौड़ पड़ते ,
हाँफ-से उखड़ते ;
खस-खस पड़ते समुन्नत महीध्र शृंग ,
अचला के अंक में लिपटते ;
कर के प्रवाह-भंग
नित्य मार्ग में से नित्य नीर नद हटते ;
उच्चहर्म्य हेमधाम
छिपते उजाड़ में नगर-ग्राम ;
चाहते अशान्त-उर विस्तृत सुनीर-निधि
कौन विधि
ओट ले सपाट मरु स्थल की ;
शान्ति तुम ले कर अथाह किसी तल की
अपनी कुटी में वहीं स्थित हो ,
हे मनस्वि, श्रद्धा में अखंडित हो ।
दूरगत आशा-मध्य सुप्रतिष्ठ ,
कौन वृद्ध तुम हे तपस्वि, नित्य, एकनिष्ठ !

(२)

विश्व-महावंश-पाल ,
धन्य, तुम धन्य हे धरा के लाल !
छद्म-छल के अबोध ,
वीतराग वीतक्रोध ,
तुम में पुरातन है नूतन में ,
नूतन चिरन्तन में ।
छोटे-से क्षितिज हे ,
वसुधा के निज हे ,
वसुधा तुम्हारे बीच स्वर्ग में समुन्नत है ,
स्वर्ग वसुधा में समागत है ;

आ कर तुम्हारे नये संगम में
लघु अवतीर्ण है महत्तम में ;
दूर और पास आसपास खिले ,
एक दूसरे से हिले ;
भीतर में बाहर में ,
हास और रोदन ध्वनित एक स्वर में ।
जाने किस भाषा में ,
ज्ञात किसे, जानें किस आशा में ,
हास में तुम्हारे विश्व हँसता ;
रोदन में आ कर निबसता
विश्व-वेदना का महा पारावार ,
घोर घन हाहाकार ;
छोटा-सा तुम्हारा यह वर्तमान
विपुल भविष्य में प्रवर्द्धमान ;
आज के अपत्य तुम, कल के जनक हो ,
एक के अनेक में गणक हो ;
सब के सहज साध्य ,
सब के सदा अवाध्य ,
आत्मलीन सर्वकाल सर्वात्मीय ;
कौन तव परकीय !
तुम अपने ही विश्व भर के
पुण्यातिथि भी सदैव घर के ;
हे विदेह ,
गेही भी सदैव तुम हो अगेह ;
फेंक सकते हो तुम्हीं निर्विकार ;
मृत्तिका-समान हेम-हीर मणि-मुक्ता - हार ;
सन्तत अतुल हे ,
जन्मजात उच्च स्वर्गकुल के ,
मर्त्य कुलशाखा में हुए हो गोद
सप्रमोद ;

भूतल की शुक्ति यह हलकी
एक बड़ी बूँद किसी पुण्य-स्वाति-जल की
दुर्लभ सुयोग-जन्य
प्राप्त कर तुम में हुई है धन्य धन्य धन्य !

बाल तुम ? बाल-युवा-वृद्ध नहीं कुछ भी,
पूर्ण विश्व मानव तभी, तभी ;
प्यार प्रेम श्रद्धा-सह
बार-बार प्रणत प्रणाम तुम्हें अहरह !

(३)

प्राणवन्त, वेगवन्त, सुप्रसूत
उच्च महदुच्च के अतल से ;
ले कर लघुत्व में महत् प्रभूत
ऊपर उठा है स्वात्म-बल से ;
क्षिति के गभीर गूढ़ अन्तस् का
सहज विशुद्ध निष्कपट भाव ;
कर्कश कठोर में सुरस का
तरल सलील शुचि प्रादुर्भाव ;
राशि राशि पुण्य-वितरण का
बन्धन विमुक्त स्वच्छ हर्ष लिये,
व्यापक अनन्त के चरण का
अमिट अटूट सुखस्पर्श किये,
देवार्पित पुष्पनिभ नव्य वह
छूट पड़ा भरने धरा की गोद,
कठिन कठोर तपोलभ्य वह
काल के भगीरथ का काम्य मोद !
दूर के निमन्त्रण में धावित है,
सोच हो उसे क्या स्वल्प सम्बल का ?
प्राण के प्रभाव से प्रभावित है,
गति में प्रवाह-छन्द जल का ।

पर में अजस्र आत्म-संगम का
लाभ उसे, नित्य वह ओत-प्रोत ;
गंगा के पुनीत पयोद्गम का
क्या वह सुपावन अनादि स्रोत ?

नाम की प्यास

"मैं हूँ यहाँ, नीर यह मैं हूँ यहाँ,
आओ बन्धु, आओ तुम मेरे पास।
मरु हो, परन्तु मैं नहीं कहाँ,
प्यासे ही न जाओ, यहाँ आ कर बुझाओ प्यास!"
सुनता न हाय! कोई देके ध्यान
मेरा वह प्रेमाह्वान।
यात्रिदल आते, चले जाते सभी ;
ध्यान भी न लाते कभी
नीचे यहाँ मैं हूँ, तलातल है ;
ऊपर ही सूखा यह थल है।
रट बस मेरी यही—"आओ अरे,
मुझको उबारो इस मृत्तिका की कारा से,
आये तुम दूर से तृषा से भरे
परिचय प्राप्त करो मेरी सुधा धारा से!"

हाँ, यह यथार्थ,—यह मरु है ;
इधर-उधर दोनों ओर
बीस-बीस कोस है विजन घोर ;
बस कुछ झाड़—नहीं कोई यहाँ तरु है।
सीधी है सपाट मही ;
किन्तु देखने को बस है क्या यही ?
डालो दृष्टि और कुछ गहरी।

निर्मल सुनीर यह पाओगे
ताप-तृषा भूल सब जाओगे ;
उछल उठेगी मंजु मानस की लहरी ।
सुनता परन्तु कौन मेरी वहाँ ,
कहते हुए भी, " अरे पानी कहाँ, पानी कहाँ!"
जान गया, इनकी समस्त तृषा
निश्चय नितान्त मृषा ;
कोई सुनता ही नहीं, "मैं हूँ यहाँ, मैं हूँ यहाँ !"

उस दिन ज्ञात हुआ मेरा भाग
जाग उठा आज निज निद्रा त्याग ;
दोपहर को ही सही, जागा तो !
कठिन कृशानु को ही धूप में तरल कर
बरसा रहा था जब भानु भूमि-तल पर ,
आया वह पान्थ धनी, आया, अनुरागा तो ।
बैठा हुआ सज्जित सुरथ में
आया दूर से था इस पथ में ।
एकाएक आ के यहाँ ठहरा ।
गौर उसी सैकत मरुस्थल-सा
देह ताप-तृष्णा से विकल था ;
क्लान्ति-भाव मुख पर था गहरा ।
बोला—"अब और कहाँ जावेंगे ;
कोसों तक छाया नहीं पावेंगे !
सहना कहीं है, क्यों न सह लें यहाँ की धूप !
ओहो यहाँ कितना कठोर दाह !
कैसा यह ठौर आह !
गिर पड़ने को भी नहीं है यहाँ कोई कूप !
अच्छा, यहीं कूप खनवाऊँगा ,
अच्छी पान्थशाला बनवाऊँगा ।

यात्री यहाँ यात्रा का सुवास लें ;
स्नेहाशीष देते हुए,
प्रेम से किसी का नाम लेते हुए,
तप में भी शीतल सुनिश्वास लें।
कर के प्रबन्ध यह आगे तब जाऊँगा।"

धन्य धनी, अच्छी गुनी ;
मेरी गिरा आज तुमने ही सुनी!
नीर यह पायेगा सफलता।
बीच में ही यात्रा की विकलता
यात्री तृप्ति-पूर्वक सिरायगा।
स्वाद यह एकाएक पायगा
क्लान्त मरु-जीवन में जीवन का,
इष्ट निज मन का ;
दूर कर ग्लानि-खेद,
छाँह में सुखा के स्वेद,
बीती को भुला के यहाँ आगे तब जायगा!

निश्चय धनी का वह
श्रम-सह
होने लगा पूर्ण उपक्रम से ;
पर दिन से ही क्रम-क्रम से
आने लगे श्रमिक अनेकों वहाँ!
होती यह कूप की खुदाई इस ओर यहाँ
और उस ओर वह पान्थागार
शीघ्र शीघ्र पा कर नवीनाकार
ऊँचा उठ ताक-झाँक करता।
भीतर ही भीतर मैं मोद में विचरता।

पूरी हुई बन कर
कुछ ही दिनों में यह शाला तो मनोज्ञकाय ;
किन्तु इस कूप का खनन कर ,
पा न सके नीर एक बूँद भी श्रमिक हाय !
ढीले पड़े हाथ उन सब के ।
खोदो बन्धु, खोदो कुछ और यहाँ अब के ।
निश्चय ही नीर तुम पाओगे ।
बीच में ही थक यों न ठहरो ,
हाँ हाँ, श्रम थोड़ा कुछ और करो ।
इतना यहाँ है, एक साथ छक जाओगे !

निखिल प्रयास व्यर्थ !
पानी-सा बहा के धन पा न सके पानी ये ।
हार गये, हा अनर्थ ,
सम्पदा के कैसे स्वाभिमानी ये !
खोद लिया इतना गभीर गर्त्त ;
जाकर भी दूर तक गहरे ,
देख वह अन्तिम शिला की पर्त्त
हो के असमर्थ यहीं ठहरे ।
जा रहे हो ? जाओ धनी ,
जान लिया नाम की तुम्हें थी प्यास ।
जिस के निमित्त था कठोरायास
नाम को तुम्हारे यह कृति तो तुम्हारी बनी !

खेद करते हो अरे !
खेद छोड़ थोड़ा कुछ और तुम करते ,
जाते तो कदापि यों न श्री से हरे ;
एक क्षण में ही नया नीर तुम भरते ।
तुम कहते हो, "नीर रक्खा कहाँ ?"

यह कहता मैं सुनो—"मैं हूँ यहाँ।"
छोड़ कर रिक्त यह पक्का कूप
तुम तो यहाँ से चले,
नाम-शिला-लेख निज घोर यह भार-रूप
सर्वदा को बाँध गये हाय! इसके गले।
जा जा कर आने लगे वर्ष-मास,
कूप रहा सूखा,—निरा सूखा ही।
पाकर अँधेरे में विफल वास,
मेरा उर रूखा रहा,—रूखा ही।
आके कभी नीचा झुक कोई झाँक जाता था।
कोई कभी ऊपर से ढेले मार
खोटी-खरी जी भर सुनाता था।
हाय! इस जीवन में ऐसा सार!
किसको बताऊँ, नीर मानी मैं!
ऊपर जो देखते, नहीं हूँ वह।
नीचे यहाँ मैं हूँ यह,
ओतप्रोत पानी, बस पानी मैं।

उस दिन ग्रीष्म का था सायंकाल।
दिन का दुरन्त धूप-धूम तो विगत था,
दहक रहा था बस उस का ज्वलन-ज्वाल।
निश्चल प्रभंजन भी मानो बुद्धिहत था।
ऐसे इस दुस्समय
यात्रिदल कौन यह छोड़ भय
आया यहाँ पथ में विचरता!
आह! उस ऋतु की प्रखरता
छा रही थी एक-सी ही सब पर।
बाल-वृद्ध, नारी-नर
दीखते सभी थे कुम्हलाये-से
प्राण तक हार कर आये-से।

देख कर पक्का कूप ,
खुली हुई शाला का सुरम्य रूप ,
लोग कुछ हर्ष-सह चिल्ला पड़े—
"रुको, रुको पानी का सुपास यहाँ !"
पाकर नवीन बल, थे जो जहाँ
एकाएक हो गये तुरन्त खड़े ।
अश्वारूढ़ अश्वों की लगाम तान ,
वृषभों की जोड़ियों को थाम कर गाड़ीवान ,
कूद पड़े नीचे झट एक एक संग ।
फैल गयी हर्ष की नयी उमंग ।
"ढीलो गाड़ियों को यहीं ,
घोड़ों के उतारो साज ।
और अब आगे नहीं ;
होगा यहीं रात का विराम आज ।
धन्य अहा ! कौन पुण्यशाली वह
पक्का कूप जिसने बँधाया इस मरु में ,
सुधा-बूँद मरते हुए के गले डाली यह ;
ऐसा फल किसने फलाया शुष्क तरु में !"
यह कह हर्षित प्रधान वह ,—
निश्चय प्रधान ही, हाँ रूप-गुणवान वह ,—
घाट ओर आगे बढ़ा ;
उसने वहाँ का वह भारी शिला-लेख पढ़ा ।

तब तक लोटा और रस्सी लिये
भृत्य कुछ दौड़े हुए आये वहाँ ,
सब ने स्वपात्र निज कूप में अरा दिये ।
अब क्या करूँ हा ! मैं नहीं हूँ यहाँ !
लौटो बन्धु, लौटो, वहाँ नाम नहीं जल का ।
कूप यह माया का प्रपंच है !
मैं हूँ यहाँ बन्दी शिला-तल का ,

मेरे लिए विधि की दया-मया न रंच है।

' कुछ ही क्षणों के बाद ;
जाके टकराये पात्र नीचे के अँधेरे में।
पत्थर ही पाया हाय! कर के कठोर नाद
सीस-सा पटक उठे घूम चकफेरे में।
रिक्त पात्र अत्यधिक भारी पड़े ,
खींचे गये जैसे के तैसे ही।
लोग सब हो कर निराश बड़े
रह गये भौंचक-से वैसे ही।
क्षण भर पूर्व ही जो हर्ष-स्रोत
उमड़ पड़ा था जन-जन में ,
जानता था कौन यह झूठा तोत !
सूखा वह तत्क्षण वहीं का वहीं मन में।

तरुण प्रधान वह ,
यह सब देख-सुन क्रोध से भभक उठा।
सह न सका वंचना महान यह ,
दोपहर का-सा सान्ध्य-ज्वाला में धधक उठा।
"वंचक, घड़े का धूर्त !
आओ सब, कूप यह पाट अभी देंगे हम।
सब के लिए ही यह शाप मूर्त्त ;
घृण्य पाप-मूल यह काट अभी देंगे हम।
और कुछ होगा फिर ,
पहले उखाड़ो शिला-लेख ही धनिक का।
देख ले स्वयं ही यह नीचे गिर
अपने अमार्जनीय अघ की अधिकता।"

जोर का धमाका एक !
लेख-शिला नीचे गयी दुर्निवार रिस-सी।

घाट तक काँप-सा उठा कुछेक ,
नीचे की धरित्री कुछ नीचे और खिसकी ।
टूटा अहा ! तत्क्षण ही टूटा अहा !
पत्थर कठोर यह निम्न कूप-तल का ।
छूटा अहा ! तत्क्षण ही छूटा अहा !
मेरा अवरुद्ध स्रोत ऊपर उछलता ।
बस-बस बन्धु, अब रोको हाथ ;
घाट को न तोड़ो और देखो भर आया मैं ।
उमड़ उठा हूँ अहा ! एक साथ ,
मुक्त हो गया हूँ नये जीवन से छाया मैं ।
सच्ची कहो,—कैसी थी तुम्हारी प्यास ?
नीर देखते ही वह भागी कहाँ !
भूलो मत देखो अपने ही पास ;
हूँ मैं यहाँ, नीर यह हूँ मैं यहाँ !

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

हम हैं मस्त फ़कीर

हम से दूर रहो री सन्तत, हम हैं मस्त फ़कीर !
बाघम्बर से कहो क्यों बंधे चीनांशुक का चीर !
सखी री, हम हैं मस्त फ़कीर !
हमें मिला है सतत अटन का यह प्रसाद-अभिशाप ,
गृही लोग, हम अनिकेतन की क्या जानें सुख-पीर ?
सखी री, हम हैं मस्त फ़कीर !
हम क्या जानें दृग-अंजन की पतली-पतली रेख ?
हम तो जान सके हैं केवल मग की 'न-इति' लकीर।
सखी री, हम हैं मस्त फ़कीर।
हमें मिले हैं पथ में जब-तब कुछ लोचन स्मयमान ,
जो हम से सैनों में बोलेः दिखलाओ हिय चीर !
किन्तु हम ठहरे मस्त फ़कीर !
तुम्हें मिली है मानव-हिय की यह चंचल ठकुरास !
पर हम को तो मिली अचंचल मस्ती की जागीर !
सखी री, हम हैं मस्त फ़कीर।
क्या चिन्ता जो हम आ बैठे कारागृह में आज ?
क्या भय जो हम को घेरे है यह ऊँची प्राचीर ?
सखी री, हम हैं मस्त फ़कीर !
तुम समझो हो कि अब हो चले हम नवीन, प्राचीन ,
क्यों भूलो हो कि हम अमर हैं ! हम हैं लौह शरीर !
सखी री, हम हैं मस्त फ़कीर !
क्या पूछो हो पता हमारा ? हम हैं अगृह, अनाम !
यही पता है कि है कहीं भी अपनी नहीं कुटीर !
सखी री, हम हैं मस्त फ़कीर !

— —

हम अनिकेतन

हम अनिकेतन, हम अनिकेतन
हम तो रमते राम, हमारा क्या घर, क्या दर, कैसा वेतन?
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन।

अब तक इतनी यों ही काटी,
अब क्या सीखें नव परिपाटी?
कौन बनाये आज घरौंदा
हाथों चुन-चुन कंकड़-माटी!
ठाट फ़कीराना है अपना बाघम्बर सोहे अपने तन
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन।

देखे महल, झोंपड़े देखे,
देखे हास-विलास मजे के,
संग्रह के विग्रह सब देखे,
जँचे नहीं कुछ अपने लेखे;
लालच लगा कभी, पर हिय में मन न सका शोणित-उद्वेलन।
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन।

हम जो भटके अब तक दर-दर,
अब क्या खाक बनायेंगे घर?
हमने देखा; सदन बने हैं
लोगों का अपनापन ले कर।
हम क्यों सनें ईंट-गारे में, हम क्यों बनें व्यर्थ में बेमन।
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन।

ठहरे अगर किसी के दर पर
कुछ शरमा कर, कुछ सकुचा कर
तो दरबान कह उठा, 'बाबा
आगे जा देखो कोई घर!'

हम दाता बन कर विचरे पर हमें भिक्षु समझे जग के जन ।
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन ।

जागो प्राण-पिरीते

मेरे प्राण-पिरीते, जागो मेरे प्राण-पिरीते !
मुदित बह रहा प्रात-समीरण, स्वप्निल निशि-क्षण बीते,
जागो मेरे प्राण-पिरीते !

गगनाम्बुधि में डूबे थक कर, तरण-निरत सब तारे,
जो दो-चार बचे हैं वे भी लगते हैं हिय-हारे ।
उच्छल अगम प्रकाश-जलधि से इन को कौन उबारे ?
इस क्षण अरुणा ने निज स्मिति से नभ, जल, थल सब जीते ।
जागो मेरे प्राण-पिरीते !

द्विज-कुल ने जागरण-मन्त्र निज नीडों से उचारे,
लतिकाओं ने नव-जागृति के हिल-मिल किये इशारे ;
कब तक सोओगे तुम, मेरे बारे नयन उजारे ?
मुसकाओ, जागरण-अमीरस दृग से पीते-पीते !
जागो मेरे प्राण-पिरीते !

बलि जाऊँ ! खोलो तो अपनी ये अलसायीं अँखियाँ,
वैसे ही जैसे नव-कलियाँ खोल रही हैं पँखियाँ ।
बुला रही हैं तुम्हें, चहक कर सब विहंगिनी सखियाँ,
निरखो, मेरे ललन, प्रात के ये नव रँग मनचीते—
जागो मेरे प्राण-पिरीते !

माघ-मेघ

अपर निशि काल में माघ के मेघ ये
निरादृत अतिथि से आ गये री,
उमड़ घन घोर जल-धार बरसा रहे
गा रहे अटपटा राग ये री।

तडित विद्युत-छटा कटकटाती चली
कँप रही गगन-वक्षस्थली री
जग गयी विगत पावस-व्यथा की शिखा
मेघ-मल्लार स्वर गा गये री।

जटिल कृत कर्म की दुखद संस्मृति यहाँ
रात्रि में ठिठुरती है अली री,
पतित जलधार के संग बरसें उपल
जलद विपदा नयी ढा गये री।

टपक टप-टप चले विटप के अश्रुकण
मूक विपदा मनो बह चली री
दिशि-वधू छिप गयी धूम-पट पहन कर
क्षितिज में अभ्र ये छा गये री।

घोर सूची-भेद्य घन तिमिर चीर कर
स्फटिक चपला चमकती भली री
ज्ञान की ज्योति ज्यों प्रतिक्षण चमक
दिखला रही कर्म के दाग ये री।

——

प्रिय ! लो डूब चुका है सूरज

प्रिय ! लो, डूब चुका है सूरज ना जाने कब का—
वचन तुम्हारा भंग हुआ है क्या जाने कब का !

सान्ध्य-मिलन के आश्वासन पर काटीं घड़ियाँ दिन की,
बड़े चाव से हम ने जोही बाट साँझ के छिन की;
दिन की मेघ-विलास-वेदना किसी तरह सह डाली
इसी भरोसे कि तुम साँझ को आओगे, वनमाली!
सन्ध्या हुई, अँधेरा गहरा हुआ, मेघ मँडराये,
गहन तमिस्रा ने आ कर झींगुर-नूपुर झनकाये।
अब भी आ जाओ, देखो तो कितनी सुन्दर वेला—
अन्धकार लोकोपचार को ढाँक चला अलबेला।
पथ पंकिल है किन्तु शून्य है, नहीं जगज्जन-मेला,
अँधियारे में खड़ा हुआ है मम मन-भवन अकेला।
ऐसे समय पधारो, साजन! छोड़ भरम सब का—
देखो डूब चुका है सूरज ना जाने कब का!

शून्य भवन में सजग सँजोयी मैंने दीपक-बाती,
इधर मेघ-माला ने ढँक ली है अम्बर की छाती;
लुप्त हो गयीं अन्धकार में नभ की दीपावलियाँ।
निविड़ तिमिर में पड़ी हुई हैं जग-मग की सब गलियाँ।
किन्तु तुम्हे संकेत-दान हित मेरा घर जगमग है—
आओगे तो तुम देखोगे प्रहरी यहाँ सजग है।
क्यों न आज तुम लिये लकुटिया, कीच गूँधते आओ!
क्यों न चरण-प्रक्षालन हित मम दृग-झारी ढुलकाओ!
पन्थ पंकमय सही, किन्तु मत आने में अलसाओ—
तनिक देर को तो आकर मम शून्य-सदन हुलसाओ।
यदि आ जाओ तो मिट जाये खटका अब-तब का
प्रिय! लो डूब चुका है सूरज ना जाने कब का!

——

चेतन-वीणा

प्रियतम, मम रोम-रोम, रन्ध्र-रन्ध्र स्वनित आज ,
मेरी चेतन-वोणा है गुंजित, क्वणित आज
रन्ध्र-रन्ध्र स्वनित आज ।

सहसा मिल गये आज मेरे सब तार-तार ,
गूँजी झंकार, मधुर उमँगी मधु-गान-धार ,
आज पूर्ण हुआ, प्राण, जीवन का स्वर-सिंगार ,
आरोहण, अवरोहण, श्रुति, लय, ध्वनित आज ।
रोम-रोम स्वनित आज ।

वीणा के ककुभ बने ये वर्त्तुल देश-काल ,
मेरा अस्तित्व बना इस का रसमय प्रवाल ।
प्रतिक्षण हिय का स्पन्दन देता है नियत ताल ,
अनिल, अनल, जल, थल, बन झलक उठे स्वर-समाज ।
रोम-रोम स्वनित आज ।

गूँजी चेतन-वीणा, प्रकृति-नटी नाच उठी ,
सूने दिक्-काल मुझे, सिरजन की आँच उठी ,
अपनी इतिहास-कथा सकल सृष्टि लाँच उठी ,
अणु-अणु में, किरणों में रहे मधुर स्वर विराज ।
रोम-रोम स्वनित आज ।

प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी

प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी ,
ललक ढुलूँगी श्री चरणों में, निज तन-मन वारी-सी ,
साजन, आज भरी झारी-सी ।

अर्पित करने कंचन-काया
मैं आयी हूँ ! लख तम छाया ,
प्राणार्पण में नहीं सुहाती
जग उजियाले की वह माया ,
आज अँधेरे में खिल डोलो, हिय-कलिका न्यारी-सी ,
प्रिय मैं आज भरी झारी-सी ।

यह तम का पर्दा रहने दो,
मेरा 'अहं' यहाँ बहने दो,
इस अँधियाले में ही मुझ को
आत्म-विसर्जन-सुख सहने दो,
ओ मेरे प्रकाश, आओ ओढ़े चादर कारी-सी ।
प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी ।

मत पूछो, मम ग्राम कहाँ है,
ज्ञात नहीं निज धाम कहाँ है,
अपनापन तो लुप्त हो रहा,
मेरा निज का नाम कहाँ है,
अब तो 'तुम' हो, और तमिस्रा है यह अँधियारी-सी ,
प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी ।

चली आ रही हूँ ध्रुव पग धर
बरबस खिंचती-सी इस मग पर,
तारा-चन्द्र-रहित मम अम्बर,
दिशा-शून्य मम पन्थ विघ्नहर,
आज सभी दिक्शूल बने हैं सुमन, कली प्यारी-सी,
प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी ।

क्या तुम सोचो हो निज मन में :
कौन बला आयी तम-घन में !

क्यों यों सोच रहे हो, प्रियतम
हूक उठा कर इस जीवन में ?
मेरी और तुम्हारी तो है, युय-युग की यारी-सी,
प्रिय, मैं आज भरी झारी सी।

भूल गये क्या मुझ को, साजन ?
मैं हूँ वे एकत्रित रज-कण,
जिन को तुम ने स्वकर-परस से
कभी किया था झनझन, उन्मन।
आज वही माटी की पुतली, आयी हिय-हारी-सी।
प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी।

डोले वालो

डोला लिये चलो तुम झटपट, छोड़ो अटपट चाल, रे,
सजन-भवन पहुँचा दो हम को, मन का हाल बिहाल, रे,
बरखा ऋतु में सब सहेलियाँ मैके पहुँची आय रे,
बाकुल-घर से आज चलीं हम पिय-घर लाज बिहाय रे,
उन के बिन, बरसाती रातें कैसे कटें अचूक रे ?
पिय की बाँह उसीस न हो तो मिटे न मन की हूक रे।
डोले वालो, बढ़े चलो तुम आया सन्ध्या काल रे,
सजन-भवन पहुँचा दो हम को छोड़ो अटपट चाल रे।
ढली दुपहरी, किरनें तिरछी हुइँ, साँझ नज़दीक रे,
अभी दूर तक दीख पड़े है पथ की लम्बी लीक रे,
आज साँझ के पहले ही तुम पहुँचा दो पिय-गेह रे,
हम कह आयी हैं इन्दर से रात पड़ेगा मेह रे,
घन गरजेंगे, रस बरसेगा, होगी सृष्टि निहाल रे,
डोला लिये चलो तुम जल्दी, छोड़ो अटपट चाल रे।

बाबुल-घर में नेह भरा है, पर वाँ द्वैत विचार रे,
साजन के नव-नेह-सलिल में है अद्वैत विहार रे,
हृदय हृदय से, प्राण प्राण से, आज मिलें भरपूर रे,
पिय-मय तिय, तिय-मय पिय हों जब, तब हो सम्भ्रम दूर रे।
दूर करो पथ के अन्तर का यह अटपट जंजाल रे,
डोले वालो, बढ़े चलो तुम आया सन्ध्या-काल रे।
घन गरजे, तब हो न सजन-आलिंगन का संयोग रे,
तो फिर कैसे मिट सकता है, हिय का अतुल वियोग रे?
जब झनकारें अमित झिल्लियाँ, हो दादुर का शोर रे,
तब हम हुलस कहेंगी उन से : तुम्हरा ओर न छोर रे।
डोले वालो, कोयल कुहकी हरित आम की डाल रे,
सजन-भवन पहुँचा दो हम को आया सन्ध्या-काल रे।

मैं तो सजन, आ ही रही थी

क्यों बजायी बाँसुरी? मैं तो सजन, आ ही रही थी,
अयुत जन्मों की तृषा भर नयन में ला ही रही थी।

क्या बताऊँ कब सुने थे तव सुरति-आह्वान के स्वन?
युग अनेकों हो चुके हैं जब सुना था वह निमन्त्रण।
किन्तु झंकृत हैं अभी तक उन स्वरों से प्राण, तन, मन।
नवल स्वर-शर क्यों? पुरानी कसक अस्थायी नहीं थी।
सजन, मैं आ ही रही थी।

क्या कहूँ है पन्थ कैसा, क्या दशा है चरण-तल की?
क्या कहानी मैं सुनाऊँ आज निज यात्रा विकल की?
स्वेद झलका भाल पर, पद-तले शोणित धार झलकी;
किन्तु मैं तव निठुरता पर, सतत मुसका ही रही थी।
सजन, मैं आ ही रही थी।

क्या कहूँ, कब श्याम-घन तुम घिरोगे मम गगन में ?
क्या बताऊँ, मधु-पवन बन कब लगोगे तप्त तन में ?
कुछ कहो तो, शरद-शशि बन कब खिलोगे शून्य मन में ?
क्यों बजायी वेणु ? मैं यह प्रश्न सुलझा ही रही थी।
सजन, मैं आ ही रही थी।

मत बजाओ वेणु, यों दिक्-काल-पट आवरण में दुर,
सुन तुम्हारे मुरलिका-स्वर सिहरते हैं प्राण आतुर,
मुरझ जाता है, सजन, यों हृदय का निष्काम अंकुर,
स्वर-प्रणोदन क्यों ? जब कि मैं मार्ग पर जा ही रही थी ?
सजन, मैं आ ही रही थी।

उतर आये भूमि पर सब भाव मेरे गगन-चारी,
आज थल-चर हो गए हैं मम मनोरथ नभ-विहारी,
रज-कणों में ही तुम्हें नित खोजती हूँ मैं वि चारी,
सेन्द्रिया में, अगुणता से नित्य उकता ही रही थी।
सजन, मैं आ ही रही थी।

याद है : मैं ने तुम्हारे हैं कभी पद्-पद्म चूमे,
तव कमल-मुख पर कभी हैं मत्त मम दृग-भृंग झूमे,
पूर्ण अंगीकार में था लुप्त द्विविधा-रूप तू - मैं।
विलग हो कर भी मिलन के गीत मैं गा ही रही थी।
सजन, मैं आ ही रही थी।

ओ हिरनो की आँखों वाली

१

उस दिन चला आ रहा था मैं
अपने ढोर लिये जंगल से,
डूब चला था सूरज, मुझको
तपा-तचा कर अपने बल से ;

उड़े जा रहे थे सब कौवे,
तोते, करने रैन बसेरा,
चहचह करता चला जा रहा
था इक दिशि चिड़ियों का घेरा,
आसमान में फैल चुकी थी
सुघड़ साँझ किरनों की लाली,
उसी समय दिखलाई दी तू,
ओ हिरनी की आँखों वाली।

२

लट्ठ धरे अपने काँधे पर,
औ हँकारता अपनी गाएँ,
बढ़ा आ रहा था, लेकिन तू
देख रही थी ये लीलाएँ;
मैंने देखा, खड़ी मेंड़ पर,
खुरपी लिये हाथ में कोई,
द्वापर की राधा रानी-सी,
चितै रही है खोई खोई;
देख रही थी क्या तू गायें
धौली, धूमर, काजर, काली?
या ग्वाले को देख रही थी,
ओ हिरनी की आँखों वाली!

३

खुरपी हाथ, डहडहे लोचन,
वह मटमैला चीर हरा-सा,
कुछ गम्भीर और कुछ चंचल
वह मुख-मडल पीर भरा-सा;
यह कौमार्य स्वरूप, सलौना,
आया आँखों के आगे जब,
तब खिंचाव इक हुआ हृदय में,
औ लोचन भर आये डबडब।

चित्र जड़ गया हिय-चौखट में,
चित्राधार नहीं अब खाली,
समा गई तू मन प्राणों में,
ओ हिरनी की आँखों वाली।

४

दिन में गायों की कजरारी
भोली आँख देख देख कर,
याद कर लिया करता हूँ मैं,
सुन्दर तेरी आँखें मनहर;
तू जाती है खेत निराने,
मैं जाता हूँ ढोर चराने,
दिन भर गाया करता हूँ मैं
तेरे ही गुन - गान तराने;
देखा करता हूँ चिड़ियों की
जोड़ी बैठी डाली डाली,
पर मैं तो हूँ निपट अकेला,
ओ हिरनी की आँखों वाली।

५

बादल उमड़े, बिजली तड़पे,
घन गरजन से जियरा लरजे,
घूरें लोग खाँस कर जब तब,
लोक-लाज भी रह रह गरजे;
तू खेतों में, मैं जंगल में,
फिर भी कैसा अजब तमाशा,
लोगों ने ना जाने कैसे
पढ़ ली है नैनों की भाषा।
तू ने छुप-के देखा, मैंने
भी निगाह चुपके-से डाली,

फिर भी फैल गईं सब बातें ,
ओ हिरनी की आँखों वाली !

———

कलिका इस बबूल पर फूली

कलिका इस बबूल पर फूली ,
इस की इस कंटकित डाल पर वह मन-हरनी झूली ।
कलिका इस बबूल पर फूली ।
इस विकराल, अनुर्वर, ऊसर, अरस काल-प्रान्तर में ,
इक बबूल यह उग आया है, भरे शूल अन्तर में ।
कंटक ही कंटक झरते हैं इस की हहर-हहर में ,
अरे, सुरम्या, सुरभित मधु-ऋतु इस पर कब अनकूली ?
कलिका इस बबूल पर फूली ।
कब आयी इस की छाया में शीतलता सुकुमारी ?
किस ने इस की इस छाया में चिर-विश्रान्ति निहारी ?
इस पर तो कंटक ही जाते रहते हैं बलिहारी ,
मिले उसे कंटक ही, जिसने इस की डाली छू ली
कलिका ऐसे तरु पर फूली ।
खड़ा हुआ है, मूल बद्ध है, इस जग में यह अग है ,
यों यह सोया-सा लगता है पर यह बहुत सजग है ,
पग-विहीन है, पंख-हीन है, गति-युत यह न उरग है ,
इस तक कभी न आयी जग की गति, पथ भूली-भूली ।
कलिका ऐसे तरु पर फूली ।
खड़ा हुआ था यह, इतने में सुषमा एक पधारी ,
औ' कह उठी कि आयी तेरी अब खिलने की बारी ,
यह बोला : मैं ? मैं बबूल हूँ, मुझ से कैसी यारी ?
वह बोली : मैं बनी अपर्णा, यदि तू है चिरशूली ;
कलिका यों कह इस पर फूली ।

आओ जग के चतुर चितेरो, अवलोको यह क्रीड़ा ,
यह इस का सौभाग्य निहारो, निरखो इसकी व्रीड़ा ,
आओ, चित्रित करो तनिक यह इस की सौरभ-पीड़ा ,
अरे, सम्हालो कम्पित कर से अपनी-अपनी तूली ।
कलिका इस बबूल पर फूली ।

इस की इस प्रियतमा कली का यह अनुराग निहारो ,
इसकी आसावरी प्रिया का स्वरित विहाग निहारो ,
इस के काँटों में अनुरंजित सुमन-पराग निहारो ,
टुक देखो तो इस मीरा की सेज बनी यह सूली ।
कलिका इन शूलों में फूली ।

——

हम तो ओस बिन्दु सम ढरके

ओस-बिन्दु-सम ढरके, हम तो ओस-बिन्दु-सम ढरके ,
आये इस जड़ता में चेतन तरल रूप हम धर के ,
हम तो ओस-बिन्दु-सम ढरके ।

ना जाने किसने मनमानी कर हम को बरसाया ?
क्या जाने क्यों हम को इस भव-मरु-थल में सरसाया ?
किसने यों जड़ता-बन्धन में बाँध हमें तरसाया ?
कौन खिलाडी हम को सीमा-बन्धन दे हरषाया ?
था किस का आदेश कि उतरे हम नभ से झरझर के ?
हम तो ओस-बिन्दु-सम ढरके ।

आज वाष्प बन उड़ जाने की साध हिये उठ आयी ,
मन-पंछी ने पंख तौलने की रट आज लगायी ,
क्या इस अनाहूत ने आमन्त्रण की ध्वनि सुन पायी ?
अथवा आज प्रयाण-काल की नव-शंखध्वनि यी ?
लगता है, मानों जागे हैं स्मरण आज अम्बर के ,
हम तो ओस-बिन्दु-सम ढरके ।

——

पराजय गीत

आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ,
विजय-पताका झुकी हुई है, लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ।
बढ़ती हुई कतार फ़ौज की सहसा अस्तव्यस्त हुई,
त्रस्त हुई भावों की गरिमा, महिमा सब संन्यस्त हुई।
मुझे न छेड़ो इतिहासों के पन्नो! मैं गतधीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ।

मैं हूँ विजित, जीत का प्यासा, कहो भूल जाऊँ कैसे?
वह संघर्षण की घटिका है बसी हुई हिय में ऐसे—
ज्यों माँ की गोदी में शिशु का मृदु दुलार बस जाता है,
जैसे अंगुलीय में मरकत का नव नग कस जाता है।
विजय, विजय रटते-रटते यह मम मनुआ कलकीर हुआ,
फिर भी असि की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ।

गगन भेद कर वरद करों ने विजय-प्रसाद दिया था जो,
जिस के बल पर किसी समय में मैंने विजय किया था जो,
वह सब आज टिमटिमाती स्मृति-दीप-शिखा बन आया,
कालान्तर ने कृष्ण आवरण में उस को लिपटाया।
गौरव गलित हुआ गुरुता का, निष्प्रभ क्षीण शरीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ।

एक सहस्र वर्ष की माला मैं हूँ उलटी फेर रहा,
गत युग के गुम्फित मनकों को फिर-फिर कर मैं हेर रहा,
घूम गया जो चक्र, उसी की ओर देखता जाता हूँ,
इधर-उधर चहुँ ओर पराजय की ही मुद्रा पाता हूँ,
आँखों का ज्वलन्त क्रोधानल क्षीण दैन्य का नीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ।

विजय-सूर्य ढल चुका, अँधेरा, आया है रखने को लाज,
कहीं पराजित का मुख देख न ले यह विजयी कुटिल समाज,
आँचल—कहाँ फटा आँचल वह ? माँ का लज्जा अस्त्र कहाँ ?
कहो छिपाऊँ यह मुख अपना ? खो कर विजय फ़कीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ।

जहाँ विजय के प्यासे सैनिक हुए आँख की ओट कई,
जहाँ जूझ कर मरे अनेकों, जहाँ खा गये चोट कई,
वहीं आज सन्ध्या को बैठा मैं हूँ, अपनी निधि छोड़े,
कई सियार, श्वान, गीदड़ ये लपक रहे दौड़े-दौड़े,
विजित साँझ के झुटपुटे समय कर्कश रव गम्भीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ।

रग-रग में ठंडा पानी है, अरे उष्णता चली गयी,
नस-नस में टीसें उठती हैं, विजय दूर तक टली सही,
विजय नहीं रण के प्रांगण की धूल बटोरे लाया हूँ,
हिय के घावों में, वर्दी के चिथड़ों में ले आया हूँ,
टूटे अस्त्र, धूल माथे पर हा ! कैसा मैं वीर हुआ !
आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ।

वर्दी फटी, हृदय घायल, कारिख मुख, पर क्या वेश बना ?
आँखें सकुचीं, कायरता के पंकिल से सब देश सना,
अरे पराजित, रण चंडी के ओ कपूत ! हट जा, हट जा,
अभी समय है; कह दे, माँ मेदिनी जरा फट जा, फट जा !
हन्त, पराजय-गीत आज क्या द्रुपद-सुता का चीर हुआ।
खिंचता ही आता है जब से खाली यह तूणीर हुआ।

———

गणेशशंकर : चतुर्थ आहुति

निज अस्थि-पुंज का बनाये दीप्त अग्नि-कुण्ड, किये प्रज्वलित नव आत्महुताशन ज्वाल
हिय में अगाध स्नेह भर, भर नयनों में नर के नारायण-स्वरूप की छटा विशाल,
शंकर गणेश घर छोड़, मुँह मोड़ चले, उनकी अभीति देख सहमा कराल काल,
अर्पित की उन के अडिग धीर चरणों में हो के प्रणत मानवता ने निज भक्ति-माल।

शुभ्र वस्त्र खद्दर के, नग्न शिर, हँसमुख, कृशतन, तेजोमय लोचन, सुसन्त रूप,
अभय जगाते औ' भगाते नैश-भय आये बालरविसंग बलिदान के ज्वलन्त रूप,
घर-घर सिहर उठे, सिहर उठे जन, तन-मन खिले देख सदय अमन्द रूप,
आरती उतारी भीतिग्रस्त नर-नारियों ने कर प्रज्वलित निज नेह के प्रदीप-धूप।

उनका चरणानुगमन कर पायेगी न, थक हार जायेगी चंचल प्राण की उड़ान,
धीर चरणांकन नहीं हैं भूतलांकित ये, देश के परे हैं काल—वक्षस्थल अंकमान,
अभय गणेश ने अशेष काल आँक दिया, निज-चरणों से उसे दिया चिर-कीर्ति-दान,
कारण यही है कि है अब तक बना हुआ विस्मृत, विगत पूर्ण भूत-काल वर्तमान।

मानव के हिय में रहेगा द्वेष जब तक, जब तक रक्त की पिपासा रही आयेगी,
जब तक अन्तर में दुबका रहेगा पशु, जब तक शोणित की धार बही आयेगी,
जब तक मानव न होगा निज शुद्ध रूप, जब तक भावना निर्वेद नहीं पायेगी,
तब तक गणेश शंकर की अतीत गाथा जन-गण हिताय सतत कही जायेगी।

मानव कराल दंष्ट्र-नख-धारी हो के जहाँ एक ओर घोर हिंस्र कर्म में निरत थे,
कर नाकेबन्दी जहाँ बैठे थे जन-समूह, पहरे पै यत्र-तत्र जहाँ वे नियत थे,
जहाँ एक ओर प्राणघातक थे, दूजी ओर जहाँ पे कराहते अनेक हताहत थे,
उसी ठौर पहुँचे गणेश क्लेश-भय-हर, हत्यारे सहमे और हो गये विनत थे।

जहाँ-जहाँ गये वहाँ-वहाँ मिली विभीषिका मिले क्रोधमत्त, द्वेषग्रस्त सब छल-छन्द,
भावना उन्मत्त मिली, परुष वचन मिले अवहेला मिली, मिला उपहास जन्म-अन्ध,
व्यवहार-बुद्धि ने व्यवस्था दे दी : 'पागल है करना जो चाहता है दानवाचरण बन्द!'
किन्तु बढ़ते ही गये निज असि-पथ पर अडिग गणेश तोड़ बुद्धि-भ्रम-प्रतिबन्ध।

प्राण ले हथेली पर, मुष्टिका में बन्द किये जीवन की सब मोहमयी अभिलाषाएँ ,
बन्धन मरोड़, तोड़ प्रतिबन्ध, दौड़ चले, छोड़ कर घर लौटने की सब आशाएँ ;
निकल पड़े वे लोक-आराधक जिस क्षण, फीकी पड़ी लोक-संग्रह की परिभाषाएँ ,
आशाओं के पुंज में समुद परिणत हुईं जन-गण-हृदय की समय-निराशाएँ ।

हिन्दू बस्ती से मुसलमान नर, नारी, बाल, जा कर उबारे दिया प्राण-दान क्षण में ,
काल की कराल दाढ़ें फटी की फटी ही रहीं, लग्न नहीं हो पायीं वे मारक चर्वण में ,
अन्ध जनों ने निहारा एक ऐसा हिन्दू, जाति-धर्म-भेद-भाव जिस के न मन में ,
स्नेह से भरा था हिय, प्रेम में पगे थे प्राण, करुणा भरी थी रोम रोम कण-कण में।

अहिंसा उपास्य देवता है जिन मनुजों का उन्हीं ने आश्चर्य से निहारा वह नर वर ,
कौन यह? कौन यह? अरे जो सुना रहा है प्रेम, क्षेम, शान्ति का सन्देश आज घर-घर!
दानव ने मानव को इतना दबोच लिया, कि वह बिसर गया अपने को सत्वर—
देख श्री गणेश का स्वरूप कुछ याद आया, किंवा वह निज को विलोक कँपा थर-थर।

त्रिशंकुमति

इस हतभाग्य त्रिशंकु-काल के हम संशय-मय प्राणी ,
अविश्वासमय, श्रद्धाभिरहित, भक्ति शून्य मन-वाणी ,
प्रश्नों की चिह्नांगुलियों से हृदय मथित, चिन्तातुर ,
शंकाओं के उद्भव-भय से चकित व्यथित अन्तःपुर ,
आहत है विश्वास हृदय है तर्क-बाण-क्षत-खण्डित ,
श्रद्धा-भक्ति लुप्त है, निष्ठा बुद्धि-दण्ड से दण्डित ।

निपट अन्ध-विश्वासी युग के जो भी हों नर-नारी ,
वे बेचारे क्या समझेंगे यह वेदना हमारी ?
स्वीकारोक्ति बनी है जिन की जीवन-टेव पुरानी ,
जिनने अन्तः प्रश्न-व्यथाएँ कभी न जानी मानी ,

वे क्या जानेंगे कि बीतती है क्या-क्या इस मन पर ?
हमें नहीं रहने देती है दुश्चिन्ता स्थिर क्षण भर ।

इच्छा होती है कि आज फिर चिर-विश्वास जगावें ,
इच्छा होती है कि आज फिर पौधा नया लगावें ,
तर्क वालुकामय हिय-मरु यदि हरा-भरा कर पावें ,
तो हम अपना नया जन्म-दिन फिर से आज मनावें ,
लेकिन रह जाते हैं मनसूबे मन के मन ही में ।
उड़ जाते हैं ये विचार के तूल एक क्षण ही में ,

सोचो जरा हमारा जीवन निराधार है कितना ,
सोचो तो आधार बिना यह अतुल भार है कितना ,
सोच रहे हैं क्या होता यदि हम विश्वासी होते ?
क्या होता यदि हम न आज यों बुद्धि-विलासी होते ?
तब भी वह शूकरी अवस्था क्या हम को सुख देती ?
मनस्तुष्टि वह क्या हिय के इन प्रश्नों को हर लेती ?

दोलाचल चित-प्रवृत्ति है, अटके प्राण अधर में ,
हमें शून्य ही शून्य दिखाई दिया अवनि-अम्बर में ,
हम प्रत्यक्ष ज्ञान के प्यासे, सम्मुख पड़ी यवनिका ,
सम्भ्रम की क्रीड़ा करती है क्षण-क्षण माया-गणिका ,
कहाँ ईश ? जगदीश कहाँ ? परमेश्वर कहाँ तुम्हारा ?
चिर संशय की भूल भुलैयों में मन पड़ा हमारा !!

———

क्या मैं कर सकता हूँ कृत को अकृत ?

क्या मैं कर सकता हूँ कृत को अकृत और ,
लिखित को अलिखित ? पूछ मैं रहा हूँ यह ।
क्या मैं कर सकता हूँ अपना अतीत नष्ट ?

पूछ मैं रहा हूँ अपने ही से यों रह-रह ।
किन्तु तर्क मेरा मुझ से यों बोल उठा, 'ए रे,
कर्म-बद्ध जन ! ऐसी पोच बात मत कह,
संचितों की शृंखलाएँ कौन तोड़ सका है यों ?
वे तो दृढ़तर होती जा रही हैं अहरह !'

शायद बलिष्ठ तर्क ठीक ही रहा है कह,
तर्क की अकाट्य बात कैसे ठुकराऊँ मैं ?
किन्तु इस विवश प्रारब्ध-बद्ध धारणा से,
हिय में सन्तोष कहो कैसे टुक पाऊँ मैं ?
मानव क्या इतना है विवश नितान्त, अहो ?
तब निज कृति का दायित्व क्यों उठाऊँ मैं ?
क्यों न निज धर्म्म-कर्म्म-प्रेरणा, विवेक, ज्ञान,
संचितों की वेगवती धारा में बहाऊँ मैं ?

किन्तु संचितों का पूर्वकर्त्ता है कहो तो, कौन ?
मैं हूँ ? तो फिर मैं क्यों हूँ विवश, बिचारहीन ?
मैं ही हूँ जब अपने भाग्य का विधाता आदि,
तो क्यों कहते हो मैं हूँ रज्जु-बद्ध और दीन ?
मैंने सिरजी हैं निज संचितों की प्रेरणाएँ,
मैं ही कर दूंगा उन्हें क्षार-क्षार और क्षीण ।
मैं ही यों हुआ हूँ जब स्वेच्छा से प्रवृत्ति-पीन,
तब क्यों न होऊँगा मैं स्वेच्छया निवृत्ति-लीन ?

हाँ ! हाँ ! आज कृत को अकृत करने को, और,
लिखित को अलिखित करने की चाह है,
किया है उच्छिष्ट जो प्रसून इन अधरों से,
उस के लिए इस जीवन में दाह है ।
तुम से प्रार्थी हूँ, अहो जीवन-आदर्श मेरे,
असंलग्नता की मेरे लिए नयी राह है,

उन को उबार सकूँ जिन को डुबोया मैंने—
इतने गहरे, कहीं जिसकी न थाह है।

बल दो : मरोड़ सकूँ ग्रीवा निज प्यार की मैं,
बल दो कि नोंच सकूँ नीड़ निज हिय का,
बल दो कि मैं न बनूँ पिय के पगों का शूल,
निष्कंटक बने पन्थ मेरे प्राण-प्रिय का।
पीतम बँधे हैं मेरे बन्धन में, किन्तु यह—
बन्धन है अति अविचारमय जिय का,
बन्ध-मुक्त होवे मेरे पीतम का मन-अलि,
और करे पान निज चयन अमिय का!

——

कस्त्वं ? कोऽहम् ?

मानव, तेरा आरम्भ कहाँ ? मानव, तेरी उद्भूति कहाँ ?
तेरे जीवन का स्रोत कहाँ ? तेरी वह आदि प्रसूति कहाँ ?
तू कब जागा ? तू कब उट्ठा ? जड़ से तू कब चैतन्य हुआ ?
जग के इन जंगम जीवों में कब से तू बोल अनन्य हुआ ?
तेरी कैसी परिभाषा है ? ओ द्विपद जीव, तू कौन अरे ?
कितने दिन से तू विचर रहा है कैसे-कैसे रूप धरे ?
मैं मानव हूँ, मनु-वंशज हूँ, मैं क्या अपना इतिहास कहूँ ?
मैं अपने ही मुख से कैसे निज उद्भव और विकास कहूँ ?
मैं इतनी बड़ी कहानी हूँ जिसका अथ है अज्ञात, सखे;
मैं आदि अन्त से परे, यहाँ अथ-इति की कौन बिसात, सखे ?
हे जग, मैं एक पहेली हूँ! क्या दूँ तुझको अपना परिचय ?
मैं द्रष्टा हूँ, मैं भोगी हूँ; जड़-जंगम है मेरा सपना!
आरम्भ ? अरे मेरे अथ का इतिहास रहा अज्ञेय सदा;
मम प्रथम प्रात के भैरव-स्वर हैं, रहे अगम्य, अगेय सदा;

कोई न गा सका आदि-गीत, कोई न भर सका गत स्वर वे ;
कोई न रख सका याद कि थे कैसे नव-गायन निर्झर वे ;
मैं आज जगाने बैठा हूँ वह आदि प्रभाती स्वर-लहरी ;
विस्तृत अतीत के सागर में कल्पना पैठती है गहरी ।
इस विस्तृत-से वक्षस्थल में जिस को कहते आकाश महा ,—
इस नीले-से गगनांगन में,—था कभी नाचता नाश महा ;
अंगारों का था खेल यहाँ, शोलों की याँ इक बस्ती थी ,
था धुआँधार का राज यहाँ, लपटों ही की याँ हस्ती थी ;
जिस को जड़-जंगम कहते हैं उस का न पता था कहीं यहाँ ,
जलचर, थलचर की कौन कहे ! जल-थल भी तो थे नहीं यहाँ ।
उन सर्वभक्षिणी लपटों में लिपटा था आविर्भाव स्वयं ,
उस महानाश के नर्तन में था विश्व-सृजन का चाव स्वयं ;
प्रलयंकारी आग्नेय रास था आदि रूप निर्माणों का ,
उस सर्व-दहन की लाली में था तत्त्व निहित चिर-प्राणों का ।
पावक की दाहक होली की गोदी में सृजन विहँसता था ,
संहारकारिणी लीला में चिर-सुन्दर उद्भव बसता था ।
ये प्रलय और उद्भव दोनों थे बद्ध एक आलिंगन में ,
थी बँधी सृजन की प्रगति धीर उस महानाश के रिंगण में ।
आगे-आगे था महानाश, पीछे-पीछे था भव-उद्भव ;
अथवा विनाश, उद्भव, दोनों थे एकरूप मिश्रित, तद्भव ;
है, अरे, कौन अज्ञानी वह जो नाश, सृजन, को अलग कहे !
तत्त्वार्थ-दीपिका बुद्धि व्यर्थ विश्लेषण का क्यों भार सहे ।
था काल-ज्ञान से बहुत दूर उस सर्वनाश का रास-रंग ,
उस समय काल-अनुभव-कर्ता मानव था अवगुण्ठित, अनंग ;
भावी, अतीत औ' वर्तमान थे एक रूप औ' एक प्राण ,
काल-त्रय के गुण-बन्धन से था विनिर्मुक्त वह कालमान ।
वह महाकाल था आदि-रूप, वा था निर्मम सत् श्री अकाल ,
थे विश्व-सृजन में पूर्ण लीन जिसकी ग्रीवा के तन्तुजाल ।
धू-धू करती उन लपटों से, अंगारों से, ज्वालाओं से ,—
धूमायित उन कुण्डलियों से प्रज्ज्वलित अग्नि-मालाओं से ,

अपने को पूर्णावृत कर के बैठा था क्या कोई साजन ?—
जिस का कन्दुक था अग्निपुंज, था महाशून्य जिस का आसन ?
क्या कोई लीलामय भी है लोकान्तर जिसकी कृतियाँ हैं ?
ताराओं के ये चलन-कलन किस की लीला की सुतियाँ हैं ?
किस के अंगुलि-परिचालन में रमते हैं उद्भव, नाश सदा ?
किस की भ्रूभंगी का नाटक है प्रलय, सृष्टि की यह विपदा ?
कोई इस का कर्त्ता भी है ? या स्वयम्भूत है जगत् बाल ?
इस का निर्णय करते-करते थक गयी तर्क की तीव्र चाल।
कल्पना शिथिल, है बुद्धि थकित, मति-गति चकिता, विश्वास मूक,
कर्ता, कारण का तत्त्व कहो, कोई कैसे जाने अचूक ?
इस जग की नाटक-शाला के उस सूत्रधार का किसे पता ?
वह है भी, या कि नहीं भी है, यह भी कोई कब सका बता ?
पर, मैं मानव कैसे आया ? कब निकला मैं अंगारों से ?
कैसे मैं हुआ विभूषित इन उपकरणों के शृङ्गारों से ?
इन दस इन्द्रिय के बन्धन से मैं बँधा अहो किस क्षण बोलो ?
कब हुए चलित, जीवित, गतियुत मम अंगों के रजकण, बोलो ?
प्रज्वलित पुंज यह पिण्ड, जिसे भूमंडल का अभिधान मिला,—
जिस की छाती पर आज सभी जड़-जंगम को सुस्थान मिला,—
धीरे-धीरे रख चला ज्वलित अंगारों को अन्तस्तल में ;
आकार-रहित तारल्य हुआ अति घनीभूत उस हलचल में।
लपटों के बुझते-बुझते ही छा गया वायु आवरण यहाँ ;
पृथिवी हो गई उदधि-वसना, लहरें उट्ठी मनहरण यहाँ।
जल की कल-कल ध्वनि में मानों नवजीवन की रसधार बही,
उद्भिज का स्फोट-विकास हुआ, जीवन-प्रेरणा पुकार रही ;
तृण ने, विटपों ने उद्ग्रीवी होकर जीवन-सन्देश दिया,
उरगों ने मतिमय हो कर के अपने सिर गति का क्लेश लिया ;
फिर गगन-विहारी और कई पगधारी की बारी आयी।
जलचर, थलचर, नभचर आये, नर आये औ' नारी आयी।
मैं आ पहुँचा, हाँ आ पहुँचा; पर मैं कैसे आ गया यहाँ ?
जड़ता के इन जंजालों में चेतन कैसे छा गया यहाँ ?

पावक-प्रसूत इस भूतल पै,—जिस में जड़ता ही जड़ता है,
चंचल चेतन बोलो, कैसे विकसित हो कर यों बढ़ता है?

जड़, चेतन, ये हैं भिन्न या कि अन्योन्याश्रित इन की माया?
क्या जड़, चेतन का भेद-भाव है केवल सम्भ्रम की छाया?
वे हैं कुछ, जो यों कहते हैं; "जड़-चेतन में कुछ भेद नहीं,
क्या तत्त्व-समीक्षक कर पाये इन दोनों में विच्छेद कहीं?

जड़ में भी तो अति की गति है, उस में भी तो है शक्ति भरी,
कण-कण में विद्युद्वेग-भरी आकर्षण की अनुरक्ति भरी।
है शक्ति निरी उस में भी तो जिस को हम चेतन कहते है;
फिर भेद कहाँ जड़-चेतन में? इस भ्रम में हम क्यों रहते हैं?

जीवन तो इक मादकता है; यह अहंभाव है एक नशा;
चेतनता है भौतिक पदार्थ-मिश्रण की रासायनिक दशा।
जड़-जंगम का यह भेद-भाव है निकट अतार्किक, दोषपूर्ण,
भ्रम-युक्त द्वैत-दर्शन में कब मिल सकता है संतोष पूर्ण?

है शाश्वत सत्य पदार्थवाद, अवशेष सभी भ्रम ही भ्रम है,
अप्रत्यक्षों का अन्वेषण अविशुद्ध कल्पना का श्रम है।"
पर क्या भौतिक प्रत्यक्षवाद दे सका तुष्टि मानव-मन को?
इतने ही से मिल गयी शान्ति क्या आतुर अन्वेषक जन को?

कल्पना-क्षितिज के परे, दूर, इस परदे के भी आर-पार—
उड़ने की यह चटपटी लगी, कब रुका पंख का सुविस्तार?
डैने फैलाये चला हंस, सन-सन ध्वनि अम्बर में छायी;
चिर अपराजिता 'नेति'-गति ने भौतिक सीमा कब अपनायी?

चेतनता का अभिव्यंजन है जडता ही के उपकरणों में;
निश्चय ही जीवन लिपटा है भौतिकता के आवरणों में;
पर केवल भौतिकता में ही आबद्ध नहीं है जीव-भाव,
भौतिक पदार्थ से भिन्न रूप बहता है चेतन सुरस-स्राव;

जड़ता विकास-गुणशून्य; किन्तु जीवन में वर्द्धन-शक्ति भरी;
जीवन में रस-परिपाक-शक्ति, आत्मोत्पादन-अनुरक्ति भरी।
जड़ में विकास के भाव कहाँ? उत्पादन की क्षमता न वहाँ;
जठराग्निक्षिप्त आहारों की वह सद्यीकृत पक्वता कहाँ?

चेतन की ये विशेषताएँ जड़ता में कब उद्भूत हुईं ?
तब क्यों कहते हो जड़ता से यह चिर-चेतना प्रसूत हुई ?
चेतन आया इस जड़ जग में जड़ता को धन्य बनाने को,
अपनी अनंगता त्यागी है उसने अंगी कहलाने को।

नर आया—मैं मानव आया—कैसे आया ? कुछ याद नहीं ;
पर समागमन की घटना में है रंचमात्र अपवाद नहीं।
सम्भवतः मैं निर्गुणता की गुणमय होने की आह, सखे,
सम्भवतः हूँ एकाकी की अनेक होने की चाह सखे ;

निर्वाह हो रहा है मेरा विक्षुब्ध सिन्धु की लहरों में,
मैं उतराता ही रहता हूँ अह-निशि के आठों प्रहरों में।
निस्सीम प्रेरणा-लालित मैं; मेरा विकास सीमान्त नहीं ;
अक्षर-प्रणोदना का शिशु मैं, नश्वरता से आक्रान्त नहीं ;

मैं आदि-कल्पना का स्वरूप, मेरी कल्पना विश्व सारा ;
मम ज्ञान-रज्जु से बँधा हुआ है यह उजियाला-अँधियारा।
मैं अग्नि पुंज का हूँ स्फुलिंग, मुझ में भी पावक-क्षमता है ;
जड़ता से हूँ मैं बद्ध, किन्तु मुझ में जगपति की समता है।

मैं बन्धन में हूँ; किन्तु, अरे, बन्धन मेरी ही कृतियाँ हैं,
ये बन्धन तो मुझ निर्गुण की गुणयुत होने की स्मृतियाँ हैं ;
मैं विनिर्मुक्त, जब उकताया अपनी अबद्ध परिभाषा से—
आकार-रहित मैं, जब मचला साकार भाव की आशा से—

बस तभी निरिन्द्रियता मेरी प्रकटी नव सेन्द्रियता हो कर,
मैंने ही इसे बनाया है अपनी वह निर्गुणता खो कर।
अपने बन्धन का स्वामी मैं अपने बन्धन का दास बना,
अपनी ही लीला-कृतियों का मैं आज निरा उपहास बना ;

मेरे नयनों के पानी का कारण मम हास-विलास बना,
मेरे दिग्भ्रम का मूल स्रोत मेरा ही शोणित-रास बना,—
मैं कभी रहा हूँगा विमुक्त अब तो हूँ रज्जु-बद्ध प्राणी,
बन गया आज मैं तो अपने इस नव-बन्धन का अभिमानी।

मैं प्रकृति-विजय करने निकला, ठोकर खायी, गिर पड़ा उठा,
फिर बढ़ा और मेरे श्रम से भौतिक उन्नति का साज जुटा ;

भूमण्डल हुआ कमण्डल मम मैंने जल-थल को नाप लिया,
मेरी आकांक्षा ने जग को वरदान दिया, अभिशाप दिया;
हूँ बना आज मैं जग-विजयी, आकाश-जयी, भूतल-विजयी,
मैं देश-जयी, मैं काल-जयी, मैं वायु-जयी, जल-थल विजयी।
तब से अब तक मैंने कितने साम्राज्य बनाये, ढेर किये;
है क्या गणना मैंने कितने ये सीधे-उलटे फेर किये!
मानव को दास बना कर मैं जगती में शाहंशाह बना,
फिर प्रलयंकर विद्रोही बन मैं मनुज-मोक्ष की चाह बना।
हिय तड़प उठा, बन गया पुंज मैं तीव्र विरोधाभासों का,
मेरा आँगन बन गया मंच नित नूतन ताण्डव-रासों का;
चाहे मैं आज नागरिक हूँ या हूँ अनागरिक वनवासी,
तब भी तो मैं अतृप्त ही हूँ, प्यासा हूँ, मैं हूँ अभिलाषी;
मैं द्वन्द्वों का अभिव्यंजन हूँ, मैं पुंजीभूत द्विधा-गति हूँ;
मैं प्रतिमा-भंजनकारी हूँ, मैं भक्तिमयी नवधा रति हूँ;
मैं विद्या और अविद्या हूँ; मैं श्रेय-प्रेय-सम्मिश्रण हूँ;
हूँ शान्ति-तरणिजा-धारा मैं संकर्षण-संघर्षण-रण हूँ;
मैं सतत सनातन अन्वेषक, मैं शाश्वत टोह-निरत प्राणी;
हूँ सर्वार्पण-साधना-लीन, मैं यज्ञभुक्त, चिर बलिदानी;
अपने लम्बे यात्रा-पथ में थक कर मैं बैठा हूँ न कभी,
चलता ही जाता हूँ प्रतिपल, हैं यदपि शिथिल मम अंग सभी;
मेरे मग में धुंधलापन है, धूमिल है मेरी दृष्टि रंच,
मेरे मस्तक से श्रमकण की होती रहती है वृष्टि रंच।
है लक्ष्य अलख, अस्पष्ट, किन्तु, मेरे हिय बीच विराम नहीं,
अन्वेषण के अतिरिक्त मुझे कुछ और यहाँ पर काम नहीं;
जिस को ढूँढ़ूँ हूँ वह क्या है, इस का कुछ है आभास मुझे;
अपने पिय की है दरस-प्यास ऐसी कि बुझाये भी न बुझे;
अपने मग में मैं चलता ही जाता हूँ धीर चरण धर-धर;
हैं सहस्राब्दियाँ बीत चुकीं, बीतेंगे अगणित मन्वन्तर।
मम अवस्थान का छोर दूर, मेरे पथ का विस्तार बड़ा;
मेरी प्रणोदना नित नूतन, मेरा उत्सुक अभिसार बड़ा।

अति दूर - दूर के बहुरंगी चिर - संगी हैं मेरे सपने ,
निश्चय अवगुंठन के भीतर छिप बैठे हैं साजन अपने ;
घूँघट को तनिक उठाने को कितने युग से मैं इच्छुक हूँ ;
अपनापन खो देने को मैं देखो तो कितना उत्सुक हूँ ।
ये ललित भावनाएँ मेरी, बलखाती हुई तरंगें ये—
क्षण-क्षण ऊपर को चढ़ती-सी बहुरंग कल्पना चंगें ये—
जब मेरे लघु अन्तस्तल में क्रम - क्रम से आविर्भूत हुईं ,
तब मेरे नयनों के सम्मुख इक नयी सृष्टि सम्भूत हुई ।
मैंने जल-थल में, अम्बर में, देखे हैं अगणित चित्र कई ,
इन भावों ने दिखलायी हैं ये कई सृष्टियाँ नयी - नयी ।
मद, काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह, यह मत्सर, घृणा और करुणा ,
वात्सल्य, शान्ति चिर-नेह, लगन, मैत्री, श्रद्धा, लज्जा अरुणा ,—
ये सब मेरे हिय-मन्दिर के चिर-कम्पित-से हैं अधिवासी ;
मेरे गति-उत्तेजक हैं ये, फिर भी हैं मेरी गल-फाँसी ;
ये मेरे यत्नों के प्रेरक हैं मेरे दृढ़तम बन्धन ये ;
हैं ये मेरे मन-सन्तापी, फिर भी हैं मम हिय-नन्दन ये ।
है अपनापन भी तो मुझ में है अहम्भावना की धारा ,
रस-राग-समुच्चय ही से तो व्यक्तित्व बना मेरा सारा ;
हैं ऊर्ध्व गमन के अर्थ बने सोपान रूप मम मनोराग ,
पर अधःपतन-कारण बनते ये विकृत रूप में जाग-जाग ;
अपने ही हाथों स्वर्ग-नरक रच लेता हूँ मैं जीवन में ,
देवासुर का संग्राम नित्य होता मम हृदय-रणाङ्गन में ।
मैंने ही आज बनाया है अपना स्वरूप वीभत्स बड़ा ,
मैं आग उगलता हूँ जग के इस चतुष्पन्थ पर खड़ा-खड़ा ।
निर्म्माण-तत्त्व ने आशा से था मेरा आविष्कार किया ;
पर मैंने तो अब तक जग को केवल विनाश-उपहार दिया ;
आगे, पीछे, दायें, बायें, भट्टियाँ नाश की धधक रहीं ;
अंगारों के अम्बार लगे, शोलों से लपटें भभक रहीं ।
मैंने अपना अस्तित्व स्वयं जकड़ा विनाश के बन्धन में ,
चिर-हास-विलास डुबोया है निज हाहाकारी क्रन्दन में ;

प्रतिबिम्ब रूप मेरे स्वरूप हैं भाजन अत्याचारों के ,
हो रहे यहाँ नाटक जग में मेरे ही क्षुब्ध विहारों के ;
पर आज अचानक ही मुझ को सुध आयी बन्धन-खण्डन की ,
आतुरता मुझ में जाग उठी यह निज शृंखला-विभंजन की ,
मैं डोल रहा उन्मेष-मत्त जग में विप्लव-सन्देश लिये ,
मैं आज फिर रहा जल-थल में प्रलयंकर-शंकर-वेश किये ;
मैं देवदूत, मैं अग्निदूत हूँ मनःपूत चिर बलिदानी ,
नवजीवन का उन्नायक मैं अंगारों की मेरी वाणी ;
मम नासा-रन्ध्रों से निकली मेरे निःश्वासों की ज्वाला ;
मेरी वाणी में वज्र-घोष, मेरे नयनों में उजियाला ।
मैं उग्र मुक्ति-सन्देश-दूत कहता हूँ अपने जग जन से ;
"ओ मृतकों, उठो, खीर खाओ, भूखे हो तुम अपने मन से ;
ओ सिंहपूत, हैं खींच रहे ये स्यार तुम्हारा कौर, अहो ,
फैलाओ तो अपने पंजे, मन मारे यों मत बैठ रहो ;
तुम आज दहाड़ो, क्रुद्ध वीर, कँप जाये वसुन्धरा सारी ,
पर्वत शिखरें कँप जायें ये, दहलें शृगाल अत्याचारी ।
क्या कहा, कि तुम में प्राण नहीं ? मदहोशी है ? कुछ होश नहीं ?
क्यों कहते हो तुम यों कि रंच तुम में जीवन का जोश नहीं ?
तुम तेज-पुंज निर्धूम वह्नि, तुम गहनशक्ति-भण्डार अहो ,
केवल तव शोणित-सिंचन से वसुधा है हेमागार अहो ।
कड़का दो तुम अपनी बिजली, दोहन-गढ़ होगा नष्ट, अरे ,
सत्ताधारी हो जायेंगे निज सिंहासन से भ्रष्ट, अरे ;
धरती पर बेतरतीबी से तुम अब तक चलते आये हो ,
बस इसी लिए तो तुम अब तक टुकड़ों पर पलते आये हो ;
हाँ, आज कतारें बाँध चलो, सम-तालयुक्त निर्बाध चलो ,
दायें पर दायें, बायें पर बायें चरणों को साध चलो ।
पद-निःक्षेपों की धम्-धम् से मेदिनी कँपा दो, थर्रा दो ;
प्राचीन गगन के आँगन में तुम नवल पताका फहरा दो ।
क्यों जकड़ रखा है अपने को इस जीर्ण पुरातन बन्धन में ?
ओ मानव, तुम गतिहीन हुए, शैथिल्य भरा हिय-स्पन्दन में ;

अब तो अपने में शक्ति भरो, सामूहिक की अनुरक्ति भरो ,
जड़ता का द्रुत संहार करो, शङ्कर-विप्लव की भक्ति करो ;
संगठित करोड़ों हाथों से सत्ता-गढ़ को कर दो सपाट ;
सम्राट् तुम्हारे चरण-दास तुम हो अनेक, तुम हो विराट ;
हे मानव, कब तक मेटोगे यह निर्म्मम महाभयंकरता ;
बन रहा आज मानव, देखो, मानव ही का भक्षण-कर्ता ;
है स्वर्ग-राज्य स्थापित करना मानव के इस लीला-स्थल में ;
सुख-समता का विस्तार यहाँ करना है इस जगतीतल में ।
जग के उपवन में सुमन बने हैं खिले बिन्दु तव शोणित के ,
हीरक हारों में, ओ मानव, तव युग-युग के श्रम-कण झलके ;
तुम दास बने उल्लास-हीन, पैठे पृथिवी के अन्तर में ;
खानों की वीभत्सता घृणित भर लाये अपने पंजर में ;
अब तो नीचे से उठो, वीर, विचरो इस विस्तृत अम्बर में ,
तुम पड़े रहोगे यों कब तक इस गत-अनुगति-आडम्बर में ?
फिर से तुम को सन्देश मिला, नाशों का, नव-निर्म्माणों का ,
तुम देखो तो, संहारों में होता है उत्सव प्राणों का ;
डमरू ले कर बन जाओ तो प्रलयंकर शंकर रूप रच ,
यह नाश और नव-सृजनों की हो लीला यहाँ अनूप रंच ;
यह सृष्टि पुरानी पड़ी, बन्धु, अब तुम रच डालो सृष्टि नयी ,
जिस में उन्नत शिर हो विचरें ये मुकुट-हीन नत माथ कई ;
आता ही रहता है प्रतिपल विप्लव का यह सन्देश महा ;
जीवन के रक्त-रणांगन में अवकाश कहाँ ? है क्लेश कहाँ ?
जूझो-जूझो लड़ते जाओ, गिरते जाओ, पड़ते जाओ ,
नीचे गिर-गिरकर फिर सम्हलो, फिर ऊपर को चढ़ते जाओ ;
अन्यायों के आधारों को भुज-बल से नष्ट-भ्रष्ट करो ;
तुम नाश करो, नव-सृष्टि करो, मानवता के सब कष्ट हरो ;
क्यों चौंक रहे हो ? मत चौंको; यह शंखनाद गम्भीर, धीर ,
कम्पित करता है अन्तरिक्ष घन-वायु-आवरण चीर-चीर ;
घहराता है गुंजन नभ में, हृदय-स्थल में, उर-अन्तर में ,
नव-यौवन का सन्देश आज गूँजा मानव के घर-घर में ;

बाहें फड़कीं, उत्साह नया बल-हीनों का आलम्ब हुआ ,
संहारों की प्रेरणा मिली, निर्म्माणों का आरम्भ हुआ ।"

——

जग चुकी है वर्तिका

जग चुकी है वर्तिका स्थिरकाय तापस की ,
कँप रही है गहन अँधियारी अमावस की ।
ध्यान में वह सिद्ध बैठा यों कि जैसे लौ—
हो अकम्पित, बात के आघात सह सौ-सौ ;
पवन-पीड़ित, किन्तु स्थिर, हिमगिरि सदृश हो जो ,—
इन्द्रियार्थों के झकोरों से चलित क्यों हो ?
हो चुकी पूरी पराजय ध्वान्त तामस की ,
जग चुकी है वर्तिका स्थिरकाय तापस की ।
सत् हुआ उद्भूत, प्रादुर्भूत चित्, आनन्द ,
हो चुके हैं असदचित् के गलित जर्जर फन्द ;
आज जन-संसदि पधारा, छोड़ ब्रह्मानन्द ,
यह विनोबा, तोड़ने को सब हमारे बन्ध ;
रुद्ध है गति लोभ के दुर्दान्त राक्षस की
जग चुकी है वर्तिका स्थिरकाय तापस की ।
झर रही उस के नयन से सतत करुणा-धार ;—
ज्यों कि गो-मुख से झरे माँ जाह्नवी का प्यार ;
प्यार की वह धार, जो सींचे सकल संसार ;
वैर-मरु में जो करे निर्वैर जल-संचार ;
हाँ, घिरी है ग्रीष्म-नभ में घटा पावस की ;
जग चुकी है वर्तिका स्थिरकाय तापस की ।
जटिल भौतिक वाद का परिणाम यह आया—
कि बस मँडरायी गगन में मृत्यु की छाया ;
जब मरण ने विश्व जीवन को विवश पाया ,
डौंक उट्ठी जब शतघ्नी, घोर रव छाया ।

तब विनोबा ने दिखा दी ज्योति साहस की ;
हाँ, जगी है वर्तिका स्थिरकाय तापस की।
गा रहा है सन्त यह नव चेतना के गीत ,
और तूष्णीम् हो रहे हैं सकल स्वर विपरीत ;
वायु, नभ, जल, मुक्त हैं, तब भूमि क्यों हो क्रीत ?
पूछ बैठा सिद्ध जब यों, सहज अडिग, अभीत—
तब तरंगित हुइ लहरें विश्व-मानस की ;
जग चुकी है वर्तिका स्थिरकाय तापस की।

——

जयशंकर 'प्रसाद'

अन्यस्थित

विश्व के नीरव निर्जन में।
जब करता हूँ बेकल, चंचल,
मानस को कुछ शान्त,
होती है कुछ ऐसी हलचल,
हो जाता है भ्रान्त;
भटकता है भ्रम के वन में,
विश्व के कुसुमित कानन में।
जब लेता हूँ आभारी हो,
बल्लरियों से दान,
कलियों की माला बन जाती,
अलियों का हो गान;
विकलता बढ़ती हिमकन में,
विश्वपति तेरे आँगन में।
जब करता हूँ कभी प्रार्थना,
कर संकलित विचार,
तभी कामना के नूपुर की,
हो जाती झनकार;
चमत्कृत होता हूँ मन में,
विश्व के नीरव निर्जन में।

किरण

किरण तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग?
स्वर्ण-सरसिज-किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु पराग।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली-सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना-दूती-सी तुम कौन?

अरुण शिशु के मुख पर सविलास, सुनहली लट घुँघराली कान्त
नाचती हो जैसे तुम कौन ? उषा के अंचल में अश्रान्त ।
भला उस भोले मुख को छोड़, और चूमोगी किस का भाल ?
मनोहर यह कैसा है नृत्य, कौन देता है सम पर ताल ?

कोकनद-मधु-धारा-सो तरल, विश्व में बहती हो किस ओर ?
प्रकृति को देती परमानन्द, उठाकर सुन्दर सरस हिलोर ।
स्वर्ग के सूत्र सदृश तुम कौन, मिलाती हो उससे भूलोक ?
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध, बना दोगी क्या विरज विशोक !

सुदिन-मणि-वलय विभूषित उषा-सुन्दरी के कर का संकेत
कर रही हो तुम किसको मधुर, किसे दिखलाती प्रेम-निकेत ?
चपल ! ठहरो, कुछ लो विश्राम, चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त,
सुमन-मन्दिर के खोलो द्वार जगे फिर सोया वहाँ वसन्त ।

कहो

शिथिल शयन-सम्भोग-दलित कवरी के कुसुम सदृश कैसे,
प्रतिपद व्याकुल आज छन्द क्यों होते हैं प्रियतम ! ऐसे ?
वाणी मस्त हुई अपने में, उस से कुछ न कहा जाता,
गद्‌गद् कंठ स्वयं सुनता है जो कुछ है वह कह जाता ॥

ऊँचे चढ़े हुए वीणा के तार मधुप-से गूँज रहे,
पर्दा रखते हैं सुर पर वे मनमाने-से बोल रहे ।
जीवन-धन ! यह आज हुआ क्या बतलाओ, मत मौन रहो,
बाह्य वियोग, मिलन या मन का, इसका कारण कौन कहो !

सुधा में गरल

सुधा में मिला दिया क्यों गरल।
पिलाया तुमने कैसा तरल ॥
माँगा होकर दीन,
कंठ सींचने के लिए,
गर्म झील का मीन,
निर्दय, तुमने कर दिया।
सुना था तुम हो सुन्दर ! सरल।
सुधा में मिला दिया क्यों गरल ॥
राग-रंजित सन्ध्या हो चली।
कुमुदिनी मुकुलित हो कुछ खिली ॥
तारागण नभ प्रान्त,
क्षितिज छोर में चन्द्र था।
फैला कोमल ध्वान्त,
दीपक जल कर बुझ गये।
हमें जाने की आज्ञा मिली।
राग-रंजित सन्ध्या हो चली ॥
विजन वन, आधी रजनी गयी !
मधुर मुरली ध्वनि चुप हो गयी ॥
थी मुझ को अज्ञात,
शुक्ल पक्ष की अष्टमी,
बीते कैसे रात,
अस्त हो गयी कौमुदी—
राह में ही; वह भी है नयी।
विजन वन आधी रजनी गयी ॥

आँसू

इस करुणा-कलित हृदय में अब विकल रागिनी बजती ;
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती ?

मानस-सागर के तट पर क्यों लोल लहर की घातें
कल-कल ध्वनि से हैं कहती कुछ विस्मृत बीती बातें ?

आती है शून्य क्षितिज से क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी ,
टकराती बिलखाती-सी पगली-सी देती फेरी ?

क्यों व्यथित व्योम-गंगा सी छिटका कर दोनों छोरें
चेतना - तरंगिनि मेरी लेती है मृदुल हिलोरें ?

क्यों छलक रहा दुख मेरा ऊषा की मृदु पलकों में
हाँ ! उलझ रहा सुख मेरा सन्ध्या की घन अलकों में !

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति-सी छायी
दुर्दिन में आँसू बन कर वह आज बरसने आई !

* * *

बस गयी एक बस्ती है स्मृतियों की इसी हृदय में ,
नक्षत्र - लोक फैला है जैसे इस नील-निलय में ।

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी इस ज्वालामयी जलन के ,
कुछ शेष चिह्न हैं केवल मेरे उस महा-मिलन के ।

चातक की चकित पुकारें श्यामा-ध्वनि सरल, रसीली ,
मेरी करुणार्द्र-कथा की टुकड़ी आँसू से गीली ।

* * *

किंजल्क-जाल हैं बिखरे, उड़ता पराग है रूखा ;
क्यों स्नेह-सरोज हमारा विकसा मानस में सूखा ?

* * *

बुलबुले सिन्धु के फूटे, नक्षत्र-मालिका टूटी ;
नभ-मुक्त-कुन्तला जगती, दिखलाई देती लूटी ।

इस विकल वेदना को ले किसने जग को ललकारा ?
वह एक अबोध, अकिंचन, बेसुध चैतन्य हमारा ।

* * *

जब शान्त मिलन-सन्ध्या को हम हेम-जाल पहनाते ,
काली चादर की तह का खुलना न देखने पाते ।

सन्ध्या की मिलन-प्रतीक्षा कह चलती कुछ मनमानी ;
ऊषा की रक्त निराशा कर देती अन्त कहानी ।

कितनी निर्जन रजनी में तारों के दीप जलाये
स्वर्गङ्गा की धारा में मिलन की भेंट चढ़ाये ,

शशि-मुख पर घूँघट डाले अंचल में दीप छिपाये ,
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आये !

* * *

घन में सुन्दर बिजली-सी बिजली में चपल चमक-सी ,
आँखों में काली पुतली, पुतली में श्याम झलक-सी ;

प्रतिमा में सजीवता-सी, बस गयी सु-छवि आँखों में ;
थी एक लकीर हृदय में जो अलग रही लाखों में ।

* * *

है किस अनंग के धनु की यह शिथिल शिंजनी दुहरी ,
अलबेली बाहु-लता या तन-छवि-सर की है लहरी ।

चंचला स्नान कर आवे चन्द्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा आलोक-मधुर है ऐसी !

* * *

गौरव था, नीचे आये प्रियतम मिलने को मेरे ;
मैं इठला उठा अकिंचन, देखे ज्यों स्वप्न सवेरे ।

छलना थी, तब भी मेरा उसमें विश्वास घना था—
उस माया की छाया में कुछ सच्चा स्वयं बना था ।

* * *

तुम सत्य रहे चिर-सुन्दर मेरे इस मिथ्या जग के ।
थे कभी न क्या तुम साथी कल्याण-कलित मम मग के !

माना कि रूप सीमा है यौवन में सुन्दर ! तेरे ;
पर एक वार आये थे निस्सीम हृदय में मेरे ।

तुम रूप-रूप थे केवल या हृदय भी रहा तुम को ?
जड़ता की सब माया थी चैतन्य समझ कर हम को ।

* * *

मधु राका मुसक्याती थी पहले देखा जब तुम को ;
परिचित से जाने कब के तुम लगे उसी क्षण हम को ।

परिचय ! राका-जलनिधि का जैसे होता हिमकर से—
ऊपर से किरणें आतीं मिलती हैं गले लहर के ।

इतना सुख ! जो न समाता अन्तरिक्ष में जल-थल में
मुट्ठी में तुम ले बैठे आश्वासन दे कर छल में ।

दुख क्या था तुम को मेरा जो सुख ले कर यों भागे ?
सोते में चुम्बन ले कर जब रोम तनिक-सा जागे ।

इतना सुख ले पल भर में जीवन के अन्तस्-तल से
तुम खिसक गये धीरे-से रोते हैं प्राण विकल-से।

* * *

मत कहो कि यही सफलता कलियों के लघु जीवन की;
मकरन्द-भरी खिल जायें तोड़ी जायें बेमन की।

यदि दो घड़ियों का जीवन कोमल वृन्तों में बीते
कुछ हानि तुम्हारी है क्या चुप-चाप चू पड़ें जीते।

* * *

मेरे क्रन्दन में बजती क्या वीणा जो ? सुनते हो;
धागों से इन आँसू के निज करुणा-पट बुनते हो।

विभ्रम मदिरा से उठ कर आओ तम-मय अन्तर में
पाओगे कुछ न टटोलो अपने बिन सूने घर में।

इस शिथिल आह से खिंच कर तुम तने हुए आओगे,
इस बड़ी व्यथा को मेरी रोओगे अपनाओगे।

चमकूँगा धूलि-कणों में सौरभ हो उड़ जाऊँगा;
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो ग्रह-पथ में टकराऊँगा।

सुवासिनी का गीत

तुम कनक-किरण के अन्तराल में
लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?

नत-मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन, रस कन ढरते,

हे लाज-भरे सौन्दर्य !
बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों में ,
कल-कल ध्वनि की गुंजारों में ,
मधुसरिता-सी यह हँसी ,
तरल अपनी पीते रहते हो क्यों ?
बेला विभ्रम की बीत चली ,
रजनीगन्धा की कली खिली ,
अब सान्ध्य-मलय आकुलित
दुकूल-कलित हो, यों छिपते हो क्यों ?

बढ़े चलो

हिमाद्रि-तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—
"अमर्त्य वीरपुत्र हो दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त पुण्य पन्थ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो !"
असंख्य कीर्ति-रश्मियाँ
विकीर्ण दिव्यदाह-सी
सपूत मातृभूमि के
रुको न शूर साहसी
अराति सैन्य सिन्धु में सुवाडवाग्नि से जलो
प्रवीर हो जयी बनो बढ़े चलो, बढ़े चलो !

नर्त्तकियों का गीत

न छेड़ना उस अतीत स्मृति से
खिंचे हुए बीन-तार, कोकिल !
करुण रागिनी तड़प उठेगी
सुना न ऐसी पुकार कोकिल।

हृदय धूल में मिला दिया है,
उसे चरण चिह्न-सा किया है,
खिले फूल सब गिरा दिया है
न अब वसन्ती बहार, कोकिल।

सुनी बहुत आनन्द-भैरवी
विगत हो चुकी निशा-माधवी
रही न अब शारदी कैरवी
न तो मघा की फुहार, कोकिल।

न खोज पागल मधुर प्रेम को,
न तोड़ना और के नेम को।
बचा विरह मौन के क्षेम को,
कुचाल अपनी सुधार, कोकिल !

——

देवसेना का गीत

आह ! वेदना, मिली बिदाई।
मैंने भ्रम-वश जीवन-संचित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।

छल-छल थे सन्ध्या के श्रम-कण ,
आँसू से गिरते थे प्रति क्षण ,
मेरी यात्रा पर लेती थी ,
नीरवता अनन्त अँगड़ाई ।

श्रमित स्वप्न की मधुमाया में ,
गहन विपिन की तरु-छाया में ,
पथिक उनींदी श्रुति में किसने—
यह विहाग की तान उठाई ?

लगी सतृष्ण दीठ थी सब की ,
रही बचाये फिरती कब की ;
मेरी आशा आह ! बावली
तूने खो दी सकल कमाई ।

चढ़ कर मेरे जीवन-रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर ,
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उस से हारी होड़ लगायी ।

लौटा लो यह अपनी थाती ,
मेरी करुणा हा-हा खाती ,
विश्व ! न सँभलेगी यह मुझ से
इसने मन की लाज गँवायी ।
आह ! वेदना मिली बिदाई ।

———

सुरमा का गीत

सम्हाले कोई कैसे प्यार !

मचल-मचल उठता है चंचल
भर जाता है आँखों में जल
बिछलन कर, चलता है उस पर
लिये व्यथा का भार ।

सिसक-सिसक उठता है मन में ,
किस सुहाग के अपनेपन में ,
'छुईमुई'-सा होता, हँसता ,
कितना है सुकुमार ।

पद्मावती का गीत

मींड़ मत खिंचे बीन के तार ,
निर्दय उँगली ! अरी ठहर जा ,
पल-भर अनुकम्पा से भर जा ,
यह मूर्छित मूर्छना आह-सी
निकलेगी निस्सार ।
छेड़-छेड़ कर मूक तन्त्र को ,
विचलित कर मधु मौन मन्त्र को ,
बिखरा दे मत, शून्य पवन में
लय हो स्वर-संसार ।
मसल उठेगी सकरुण व्रीड़ा ,
किसी हृदय को होगी पीड़ा ,
नृत्य करेगी नग्न विकलता
परदे के उस पार ।

श्यामा का गीत

चला है मन्थर गति से पवन रसीला नन्दनकानन का ।
नन्दनकानन का, रसीला नन्दनकानन का ।
फूलों पर आनन्द-भैरवी गाते मधुकर-वृन्द ,
बिखर रही है किस यौवन की किरण, खिली अरविन्द ,

ध्यान है किस के आनन का।
उषा सुनहला मद्य पिलाती, प्रकृति बरसाती फूल,
मतवाले हो कर देखो तो, विधि-निषेध को भूल,
आज कर लो अपने मन का।

विभावरी

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर-पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा-नागरी।
खग-कुल कुल-कुल-सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लायी—
मधु-मुकुल नवल-रस गागरी।
अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये—
तू अब तक सोयी है आली!
आँखों में भरे विहाग री!

वरुणा की कछार

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!
सतत व्याकुलता के विश्राम, अरे ऋषियों के कानन-कुंज!
जगत नश्वरता के लघु त्राण, लता, पादप, सुमनों के पुंज!

तुम्हारी कुटियों में चुपचाप, चल रहा था उज्ज्वल व्यापार।
स्वर्ग की वसुधा से शुचि संधि, गूँजता था जिससे संसार।
अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!
तुम्हारे कुंजों में तल्लीन, दर्शनों के होते थे वाद।
देवताओं के प्रादुर्भाव, स्वर्ग के स्वप्नों के संवाद।
स्निग्ध तरु की छाया में बैठ परिषदें करती थीं सुविचार—
भाग कितना लेगा मस्तिष्क, हृदय का कितना है अधिकार?
अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!
छोड़ कर पार्थिव भोग-विभूति, प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार,
पिता का वक्ष भरा वात्सल्य, पुत्र का शैशव-सुलभ दुलार;
दुःख का कर के सत्य निदान, प्राणियों का करने उद्धार।
सुनाने आरण्यक - संवाद, तथागत आया तेरे द्वार।
अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!
मुक्ति जल की वह शीतल बाढ़, जगत की ज्वाला करती शान्त।
तिमिर का हरने को दुख भार, तेज अमिताभ अलौकिक कान्त।
देव-कर से पीड़ित विक्षुब्ध, प्राणियों से कह उठा पुकार—
तोड़ सकते हो तुम भवबन्ध, तुम्हें है यह पूरा अधिकार।
अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!
छोड़ कर जीवन के अतिवाद, मध्य पथ से लो सुगति सुधार।
दुःख का समुदय उस का नाश, तुम्हारे कर्मों का व्यापार।
विश्व-मानवता का जयघोष, यहीं पर हुआ जलद-स्वर-मन्द्र।
मिला था वह पावन आदेश, आज भी साक्षी हैं रवि-चन्द्र।
अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!
तुम्हारा वह अभिनन्दन दिव्य, और उस यश का विमल प्रचार।
सकल वसुधा को दे सन्देश, धन्य होता है बारम्बार।

आज कितनी शताब्दियों बाद, उठी ध्वंसों में वह झंकार।
प्रतिध्वनि जिस की सुने दिगन्त, विश्व वाणी का बने विहार।

ले चल वहाँ भुलावा देकर

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक! धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर-लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।
जहाँ साँझ-सी जीवन छाया,
ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढुलकाती हो,
ताराओं की पाँति घनी रे।
जिस गम्भीर मधुर छाया में—
विश्व चित्र-पट चल माया में—
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई,
दुख-सुख वाली सत्य बनी रे।
श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से—
जहाँ सृजन करते मेला से—
अमर जागरण उषा-नयन से—
बिखराती हो ज्योति घनी रे!

ओ री मानस की गहराई !

ओ री मानस की गहराई !
तू सुप्त, शान्त, कितनी शीतल—
निर्वात मेघ ज्यों पूरित जल—
नव मुकुर नीलमणि फलक अमल,
ओ पारदर्शिका ! चिर चचल—
यह विश्व बना है परछाईं !

तेरा विषाद द्रव तरल-तरल
मूर्च्छित न रहे ज्यों पिये गरल,
सुख-लहर उठा री सरल-सरल
लघु-लघु सुन्दर-सुन्दर अविरल
—तू हँस जीवन की सुघराई !

हँस, झिलमिल हो लें तारा-गन,
हँस, खिलें कुंज में सकल सुमन,
हँस, बिखरें मधु मरन्द के मन,
बन कर संसृति के नव श्रम कन,
—सब कह दें 'वह राका आयी !'

हँस लें भय शोक प्रेम या रण,
हँस लें काला पट ओढ़ मरण,
हँस लें जीवन के लघु-लघु क्षण,
दे कर निज चुम्बन के मधुकण,
नाविक अतीत की उतराई !

——

पेशोला की प्रतिध्वनि

अरुण करुण विम्ब !
वह निर्धूम भस्म रहित ज्वलन-पिण्ड !
विकल विवर्तनों से
विरल प्रवर्तनों में
श्रमित नमित-सा—
पश्चिम के व्योम में है आज निरवलम्ब-सा ।
आहुतियाँ विश्व की अजस्र ले लुटाता रहा—
सतत सहस्र कर-माला से—
तेज ओज बल जो वदान्यता कदम्ब-सा ।
पेशोला की उर्मियाँ हैं शान्त, घनी छाया में—
तट-तरु है चित्रित तरल चित्रसारी में ।
झोंपड़े खड़े हैं बने शिल्प से विषाद के
दग्ध अवसाद से ।
धूसर जलद-खंड भटक पड़े हैं,
जैसे विजन अनन्त में ।
कालिमा बिखरती है सन्ध्या के कलंक-सी,
दुन्दुभि-मृदंग-तूर्य शान्त, स्तब्ध, मौन हैं ।
फिर भी पुकार-सी है गूँज रही व्योम में—
"कौन लेगा भार यह ?
कौन विचलेगा नहीं ?
दुर्बलता इस अस्थिमांस की—
ठोंक कर लोहे से, परख कर वज्र से,
प्रलयोल्का-खण्ड के निकष पर कस कर
चूर्ण अस्थि-पुंज-सा हँसेगा अट्टहास कौन ?
साधना पिशाचों की बिखर चूर-चूर हो के
धूलि-सी उड़ेगी किस दृप्त फूत्कार से ।
कौन लेगा भार यह ?
जीवित है कौन ?

साँस चलती है किसकी
कहता है कौन ऊँची छाती कर, मैं हूँ—
—मैं हूँ—मेवाड़ में।
आरावली शृंग-सा समुन्नत सिर किसका ?
बोलो, कोई बोलो—अरे क्या तुम सब मृत हो ?
आह, इस खेवा की !—
कौन थामता है पतवार ऐसे अन्धड़ में।
अन्धकार-पारावार गहन नियति-सा—
उमड़ रहा है ज्योति-रेखा-हीन क्षुब्ध हो।
खींच ले चला है—
काल-धीवर अनन्त में,
साँस, सफरी-सी अटकी है किसी आशा में।"
आज भी पेशोला के—
तरल जल-मंडलों में,
वही शब्द घूमता-सा—
गूँजता विकल है।
किन्तु वह ध्वनि कहाँ ?
गौरव की काया पड़ी माया है प्रताप की
वही मेवाड़ !
किन्तु आज प्रतिध्वनि कहाँ ?

लज्जा और श्रद्धा

श्रद्धा :

"कोमल किसलय के अंचल में नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी,
गोधूली के धूमिल पट में दीपक के स्वर में दिपती सी।

"मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में मन का उन्माद निखरता ज्यों ;
सुरभित लहरों की छाया में बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों ;

"वैसी ही माया में लिपटी अधरों पर उंगली धरे हुए ;
माधव के सरस कुतूहल का आँखों में पानी भरे हुए ।

"नीरव निशीथ में लतिका-सी तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?
कोमल बाहें फैलाये-सी आलिंगन का जादू पढ़ती !

"किन इन्द्रजाल के फूलों से ले कर सुहाग-कण राग-भरे ,
सिर नीचा कर हो गूँथ रही माला जिस से मधु-धार ढरे ?

"पुलकित कदम्ब की माला-सी पहना देती हो अन्तर में ,
झुक जाती है मन की डाली अपनी फलभरता के डर में ।

"वरदान सदृश हो ढाल रही नीली किरनों से बुना हुआ ,
यह अंचल कितना हलका-सा कितने सौरभ से सना हुआ ।

"सब अंग मोम से बनते हैं कोमलता में बल खाती हूँ ,
मैं सिमिट रही-सी अपने में परिहास गीत सुन पाती हूँ ।

"स्मित बन जाती है तरल हँसी नयनों में भर कर बाँकपना ,
प्रत्यक्ष देखती हूँ सब जो वह बनता जाता है सपना ।

"मेरे सपनों में कलरव का संसार आँख जब खोल रहा ,
अनुराग समीरों पर तिरता था इतराता-सा डोल रहा ।

"अभिलाषा अपने यौवन में उठती उस सुख के स्वागत को ,
जीवन-भर के बल-वैभव से सत्कृत करती दूरागत को ।

"किरनों का रज्जु समेट लिया जिस का अवलम्बन ले चढ़ती ,
रस के निर्झर में धँस कर मैं आनन्द-शिखर के प्रति बढ़ती ।

"छूने में हिचक, देखने में पलकें आँखों पर झुकती हैं ,
कलरव-परिहास भरी गूँजें अधरों तक सहसा रुकती हैं ।

"संकेत कर रही रोमाली चुपचाप बरजती खड़ी रही ,
भाषा बन भौंहों की काली रेखा-सी भ्रम में पड़ी रही ।

"तुम कौन ? हृदय की परवशता ? सारी स्वतन्त्रता छीन रही ,
स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे जीवन-वन से हो बीन रही ?"

सन्ध्या की लाली में हँसती, उस का ही आश्रय लेती-सी ,
छाया प्रतिमा गुनगुना उठी श्रद्धा का उत्तर देती-सी ।

लज्जा :

"इतना न चमत्कृत हो बाले ! अपने मन का उपकार करो ,
मैं एक पकड़ हूँ जो कहती ठहरो कुछ सोच-विचार करो ।

"अम्बर-चुम्बी हिम-शृंगों से कलरव कोलाहल साथ लिये ,
विद्युत की प्राणमयी धारा बहती जिसमें उन्माद लिये ?

"मंगल-कुंकुम की श्री जिसमें निखरी हो ऊषा की लाली ,
भोला सुहाग इठलाता हो ऐसी हो जिस में हरियाली ।

"हो नयनों का कल्याण बना आनन्द सुमन-सा विकसा हो ,
वासन्ती के वन-वैभव में जिसका पंचम स्वर पिक-सा हो ,

"जो गूँज उठे फिर नस-नस में मूर्च्छना समान मचलता-सा ,
आँखों के साँचे में आ कर रमणीय रूप बन ढलता-सा ,

"नयनों की नीलम की घाटी जिस रस-घन से छा जाती हो ,
वह कौंध कि जिस से अंतर की शीतलता ठंडक पाती हो ।

"हिल्लोल भरा हो ऋतुपति का गोधूली की-सी ममता हो ,
जागरण प्रात-सा हँसता हो जिस में मध्याह्न निरखता हो ।

"हो चकित निकल आयी सहसा जो अपने प्राची के घर से ,
उस नवल चन्द्रिका से बिछले जो मानस की लहरों पर से ।

"फूलों की कोमल पंखड़ियाँ बिखरें जिस के अभिनन्दन में ,
मकरन्द मिलाती हों अपना स्वागत के कुंकुम-चन्दन में ।

"कोमल किसलय मर्मर-रव से जिस का जय-घोष सुनाते हों ,
जिस में दुख-सुख मिल कर मन के उत्सव आनन्द मनाते हों ।

"उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं ,
जिस में अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं ।

"मैं उसी चपल की धात्री हूँ गौरव महिमा हूँ सिखलाती,
ठोकर जो लगने वाली है उस को धीरे से समझाती।

"मैं देव-सृष्टि की रति-रानी निज पंचबाण से वंचित हो,
बन आवर्जना-मूर्ति दीना अपनी अतृप्ति-सी संचित हो।

"अवशिष्ट रह गयी अनुभव में अपनी अतीत असफलता-सी,
लीला-विलास की खेद-भरी अवसाद-मयी श्रम-दलिता-सी।

"मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ शालीनता सिखाती हूँ,
मतवाली सुन्दरता पग में नूपुर-सी लिपट मनाती हूँ।

"लाली बन सरल कपोलों में आँखों में अंजन-सी लगती,
कुंचित अलकों-सी घुँघराली मन की मरोर बन कर जगती।

"चंचल किशोर सुन्दरता की मैं करती रहती रखवाली,
मैं वह हलकी-सी मसलन हूँ जो बनती कानों की लाली।"

श्रद्धा :

"हाँ ठीक, परन्तु बताओगी मेरे जीवन का पथ क्या है?
इस निविड़ निशा में संसृति की आलोकमयी रेखा क्या है?

"यह आज समझ तो पायी हूँ मैं दुर्बलता में नारी हूँ,
अवयव की सुन्दर कोमलता ले कर मैं सब से हारी हूँ।

"पर मन भी क्यों इतना ढीला अपने ही होता जाता है!
घनश्याम खंड-सी आँखों में क्यों सहसा जल भर आता है?

"सर्वस्व समर्पण करने की विश्वास महा-तरु छाया में,
चुप-चाप पड़ी रहने की क्यों ममता जगती है माया में?

"छाया-पथ में तारक-द्युति-सी झिलमिल करने की मधु-लीला,
अभिनय करती क्यों इस मन में कोमल निरीहता श्रम-शीला?

"निस्सम्बल हो कर तिरती हूँ इस मानस की गहराई में,
चाहती नहीं जागरण कभी सपने की इस सुधराई में।

"नारी जीवन का चित्र यही क्या ! विकल रङ्ग भर देती हो ,
अस्फुट रेखा की सीमा में, आकार कला को देती हो ।

"रुकती हूँ और ठहरती हूँ पर सोच-विचार न कर सकती ,
पगली-सी कोई अन्तर में बैठी जैसे अनुदिन बकती ।

"मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ ,
भुज-लता फँसा कर नर-तरु से झूले-सी झोंके खाती हूँ ।

"इस अर्पण में कुछ और नहीं केवल उत्सर्ग छलकता है ,
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ, इतना ही सरल झलकता है ।"

लज्जा :

"क्या कहती हो ठहरो नारी ! संकल्प अश्रु-जल से अपने ,
तुम दान कर चुकी पहले ही जीवन के सोने-से सपने ।

"नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पग-तल में ,
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में ।

"देवों की विजय, दानवों की हारों का होता युद्ध रहा ,
संघर्ष सदा उर-अन्तर में जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा ।

"आँसू से भींगे अञ्चल पर मन का सब कुछ रखना होगा ,
तुमको अपनी स्मित रेखा से यह सन्धि-पत्र लिखना होगा ।"

श्रद्धा का गीत

तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन !

विकल होकर नित्य चञ्चल ,
खोजती जब नींद के पल ,
चेतना थक-सी रही तब ,
मैं मलय की बात रे मन !

चिर-विषाद, विलीन मन की,
इस व्यथा के तिमिर-वन की,
मैं उषा-सी ज्योति-रेखा,
कुसुम-विकसित प्रात रे मन!

जहाँ मरु-ज्वाला धधकती,
चातकी कन को तरसती,
उन्हीं जीवन घाटियों की,
मैं सरस बरसात रे मन!

पवन की प्राचीर में रुक,
जला जीवन जी रहा झुक,
इस झुलसते विश्व दिन की,
मैं कुसुम-ऋतु-रात रे मन!

चिर-निराशा नीरधर से
प्रतिच्छायित अश्रु-सर में,
मधुप मुखर मरन्द मुकुलित,
मैं सजल जलजात रे मन!

——

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

वर दे, वीणा वादिनि

वर दे ! वीणा वादिनि वरदे !
प्रिय स्वतन्त्र-रव अमृत-मन्त्र नव भारत में भर दे !

काट अन्ध-उर के बन्धन-स्तर
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर,
कलुष-भेद-तम हर प्रकाश भर जगमग जग कर दे !

नव गति, नव लय, ताल-छन्द नव,
नवल कंठ, नव जलद-मन्द्र रव,
नव नभ के नव विहग-वृन्द को नव पर, नव स्वर दे !

भारति, जय

भारति, जय, विजयकरे !
कनक-शस्य-कमलधरे !

लंका पदतल - शतदल
गर्जितोर्मि सागर-जल,
धोता शुचि चरण-युगल
स्तव कर बहु-अर्थ-भरे।

तरु-तृण-वन-लता वसन,
अंचल में खचित सुमन,
गंगा ज्योतिर्जल-कण
धवल-धार हार गले।

मुकुट शुभ्र हिम-तुषार ,
प्राण प्रणव ओंकार ,
ध्वनित दिशाएँ उदार ,
शतमुख - शतरव - मुखरे !

वर्ण-चमत्कार

वर्ण-चमत्कार ,
एक-एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार ।

पद-पद चल बही भाव-धारा ।
निर्मल कल-कल में बँध गया विश्व सारा ,
खुली मुक्ति बन्धन से बँधी फिर अपार—
वर्ण-चमत्कार ।

शत-शत रंग खिला, मिला प्राण ,
गूँजे गगनांगण में ये अगण्य गान ,
दिखी रूप की छबि झंकृत-कर-स्वर-तार
वर्ण-चमत्कार !

किरण-वसना

कौन तुम शुभ्र-किरण-वसना ?
सीखा केवल हँसना—केवल हँसना—
शुभ्र-किरण-वसना !
मन्द मलय भर अंग-गन्ध मृदु
बादल अलकावलि कुंचित-ऋजु ,

तारक हार, चन्द्र मुख, मधु ऋतु,
सुकृत-पुंज-अशना।
नहीं लाज, भय, अनृत, अनय, दुख
लहराता उर मधुर प्रणय-सुख,
अनायास ही ज्योतिर्मय मुख
स्नेह-पाश-कसना।
चंचल कैसे रूप-गर्व-बल
तरल सदा बहतीं कल-कल-कल,
रूप राशि में टलमल-टलमल,
कुन्द-धवल-दशना।

वसन्त आया

सखि, वसन्त आया।
भरा हर्ष वन के मन, नवोत्कर्ष छाया।
किसलय-वसना नव-वय-लतिका
मिली मधुर प्रिय-उर तरु-पतिका,
मधुप-वृन्द वन्दी पिक-स्वर नभ सरसाया।
लता-मुकुल-हार-गन्ध-भार भर
बही पवन मन्द मन्द मन्दतर,
जागी नयनों में वन यौवन की माया।
आवृत सरसी-उर-सरसिज उठे,
केशर के केश कली के छुटे,
स्वर्ण-शस्य-अंचल पृथ्वी का लहराया।

शेष

सुमन भर न लिये ,
सखि, वसन्त गया ।
हर्ष-हरण-हृदय
आह ! निर्दय क्या ?
विवश नयनोन्मादवश हँस कर तकी ,
देखती ही देखती री मैं थकी ,
अलस पग, मग में ठगी-सी रह गयी ,
मुकुल-व्याकुल श्री सुरभि वह कह गयी—
'सुमन भर न लिये ,
सखी, वसन्त गया ।
हर्ष-हरण-हृदय
नहीं निर्दय क्या ?'
याद थी आयी ,
एक दिन जब शान्त
वायु थी, आकाश
हो रहा था क्लान्त ,
ढल रहे थे मलिन-मुख रवि, दुख-किरण
पद्म-मन पर थी, रहा अवसन्न वन ,
देखती यह छवि खड़ी मैं, साथ वे
कह रहे थे, हाथ में यह हाथ ले ,
एक दिन होगा
जब न मैं हूँगा ,
हर्ष - हरण - हृदय
नहीं निर्दय क्या ?'

———

तुम और मैं

तुम तुंग-हिमालय-शृंग
    और मैं चंचल-गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय-उच्छ्वास
    और मैं कान्त-कामिनी-कविता।
    तुम प्रेम और मैं शान्ति,
    तुम सुरा-पान-घन अन्धकार,
    मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।
तुम दिनकर के खर किरण-जाल,
    मैं सरसिज की मुसकान,
तुम वर्षों के बीते वियोग,
    मैं हूँ पिछली पहचान।
    तुम योग और मैं सिद्धि,
    तुम हो रागानुग निश्छल तप
    मैं शुचिता सरल समृद्धि।
तुम मृदु मानस के भाव
    और मैं मनोरंजिनी भाषा,
तुम नन्दन-वन-घन विटप
    और मैं सुख-शीतल-तल शाखा।
    तुम प्राण और मैं काया,
    तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म
    मैं मनमोहिनी माया।
तुम प्रेममयी के कंठहार,
    मैं वेणी काल-नागिनी,
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार,
    मैं व्याकुल विरह-रागिनी।
    तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु,
    तुम हो राधा के मनमोहन,
    मैं उन अधरों की वेणु।

तुम पथिक दूर के श्रान्त
और मैं बाट जोहती आशा ,
तुम भवसागर दुस्तर
पार जाने की मैं अभिलाषा ।
तुम नभ हो, मैं नीलिमा ,
तुम शरत-काल के बाल-इन्दु ,
मैं हूँ निशीथ-मधुरिमा ।
तुम गन्ध-कुसुम-कोमल पराग ,
मैं मृदुगति मलय-समीर ,
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष ,
मैं प्रकृति, प्रेम-जंजीर ।
तुम शिव हो मैं हूँ शक्ति ,
तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र ,
मैं सीता अचला भक्ति ।
तुम आशा के मधुहास
और मैं पिक-कल-कूजन तान ,
तुम मदन पंच-शर-हस्त
और मैं हूँ मुग्धा अनजान !
तुम अम्बर, मैं दिग्वसना ,
तुम चित्रकर, घन-पटल श्याम ,
तड़ित् तूलिका रचना ।
तुम रण-तांडव-उन्माद नृत्य
मैं मुखर मधुर नूपुर-ध्वनि ,
तुम नाद-वेद ओंकार सार ,
मैं कवि-श्रृंगार शिरोमणि ।
तुम यश हो, मैं हूँ प्राप्ति ,
तुम कुन्द इन्दु अरविन्द शुभ्र
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति ।

——

बादल राग

(१)

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !
झर-झर-झर निर्झर-गिरि-सर में
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में ,
सरित्—तड़ित-गति—चकित पवन में;
मन में, विजन-गहन-कानन में ,
आनन-आनन में, रव घोर कठोर
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर !
अरे वर्ष के हर्ष !
बरस तू बरस-बरस रसधार !
पार ले चल तू मुझ को ,
बहा, दिखा मुझ को भी निज
गर्जन-भैरव-संसार !
उथल-पुथल कर हृदय—
मचा हलचल—
चल रे चल ,—
मेरे पागल बादल !
धँसता दल दल ,
हँसता है नद खल् खल्
बहता, कहता कुलकुल कलकल कलकल ।
देख-देख नाचता हृदय
बहने को महा विकल-बेकल ,
इस मरोर से—इसी शोर से—
सघन घोर गुरु-गहन रोर से
मुझे—गगन का दिखा सघन वह छोर !
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर

(२)

ऐ निर्बन्ध !—
अन्ध-तम-अगम-अनर्गल—बादल !
ऐ स्वच्छन्द—
मन्द-चंचल-समीर-रथ पर उच्छृंखल !
ऐ उद्दाम !
अपार कामनाओं के प्राण !
बाधारहित विराट !
ऐ विप्लव के प्लावन !
सावन-घोर गगन के
ऐ सम्राट !
ऐ अटूट पर छूट टूट पड़ने वाले—उन्माद !
विश्व-विभव को लूट-लूट लड़ने वाले—अपवाद !
श्री बिखेर, मुख-फेर कली के निष्ठुर पीड़न !
छिन्न-भिन्न कर पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन ,
वज्र-घोष से ऐ प्रचंड !
आतंक जमाने वाले !
कम्पित जंगम, नीड़—विहंगम ,
ऐ न व्यथा पाने वाले !
भय के मायामय आँगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर ।

(३)

निरंजन बने नयन-अंजन !
कभी चपल गति, अस्थिर मति ,
जल-कलकल तरल प्रवाह ,
वह उत्थान-पतन-हत अविरत
संसृति-गत उत्साह ,
कभी दुख-दाह ,
कभी जलनिधि-जल विपुल अथाह ,—

कभी क्रीड़ारत साथ प्रभंजन—
बने नयन अंजन !

कभी किरण-कर पकड़-पकड़ कर
चढ़ते हो तुम मुक्त गगन पर ,
झलमल ज्योति अयुत-कर-किंकर ,
सीस झुकाते तुम्हें तिमिरहर—
अहे कार्य से गत कारण पर !
निराकार, हैं तीनों मिले भुवन—
बने नयन-अंजन !

आज श्याम-घन श्याम, श्याम छवि ,
मुक्त-कंठ है तुम्हें देख कवि ,
अहो कुसुम-कोमल कठोर-पवि !
शत-सहस्र-नक्षत्र-चन्द्र-रवि-संस्तुत
नयन-मनोरंजन !
बने-नयन-अंजन !

——

जुही की कली

विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी—स्नेह स्वप्न मग्न—
अमल-कोमल-तनु-तरुणी—जुही की कली ,
दृग बन्द किये, शिथिल,—पत्रांक में ,
वासन्ती निशा थी ;
विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल ।
आयी याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात ,

आयी याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात ,
आयी याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात ,
फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित गहन-गिर-कानन
कुंज-लता-पुंजों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली-खिली-साथ ।

सोती थी ,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल ,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल ।
इस पर भी जागी नहीं ,
चूक-क्षमा माँगी नहीं ,
निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही—
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये ,
कौन कहे ?

निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली ,
मसल दिये गोरे कपोल गोल ;
चौंक पड़ी युवती ,—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर ,
हेर प्यारे को सेज-पास ,
नम्रमुखी हँसी—खिली ,
खेल रंग, प्यारे संग ।

जागो फिर एक बार

(१)

जागो फिर एक बार!
समर में अमर कर प्राण,
गान गाये महासिन्धु-से
सिन्धु-नद-तीरवासी!—
सैन्धव तुरंगों पर
चतुरंग चमू संग,
"सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्दसिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।"
किसने सुनाया यह
वीर-जन-मोहन अति
दुर्जय संग्राम-राग,
फाग का खेला रण
बारहों महीनों में?—
शेरों की माँद में
आया है आज स्यार—
जागो फिर एक बार।
सत् श्री अकाल,
भाल-अनल धक-धक कर जला,
भस्म हो गया था काल—
तीनों गुण-ताप-त्रय,
अभय हो गये थे तुम
मृत्युंजय व्योमकेश के समान,
अमृत-सन्तान! तीव्र
भेद कर सप्तावरण-मरण-लोक,

शोकहारी। पहुँचे थे वहाँ
जहाँ आसन है सहस्रार—
जागो फिर एक बार!
सिंही की गोद से
छीनता रे शिशु कौन?
मौन भी क्या रहती वह
रहते प्राण? रे अजान!
एक मेषमाता ही
रहती है निर्निमेष—
दुर्बल वह—
छीनती सन्तान जब
जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आँसू बहाती है;—
किन्तु क्या,
योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं—
गीता है, गीता है—
स्मरण करो बार-बार—
जागो फिर एक बार!
पशु नहीं, वीर तुम,
समर शूर, क्रूर नहीं,
काल-चक्र में हो दबे
आज तुम राज-कुँवर!—समर-सरताज!
पर, क्या है,
सब माया है—माया है,
मुक्त हो सदा ही तुम,
बाधा-विहीन-बन्ध छन्द ज्यों,
डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द-रूप।
महामन्त्र ऋषियों का
अणुओं-परमाणुओं में फूँका हुआ—

"तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्,
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, काम-परता,—
ब्रह्म हो तुम,
पद-रज भर भी है नहीं पूरा यह विश्व-भार—"
जागो फिर एक बार!

—

राम का मोह

रवि हुआ अस्त; ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र-कर, वेग-प्रखर,
शत-शेल-संवरण-शील, नील-नभ-गर्जित-स्वर,
प्रति-पल-परिवर्तित व्यूह,—भेद-कौशल-समूह,—
राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह,—क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरित-वह्नि-राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण,
लोहित-लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
राघव-लाघव—रावण-वारण—गत-युग्म-प्रहर,
उद्धत-लंकापति-मर्दित-कपि-दल-बल-विस्तर।

* * *

आये सब शिविर, सानु पर पर्वत के, मन्थर,
सुग्रीव, विभीषण, जाम्बवान आदिक वानर,
सेनापति दल विशेष के, अंगद, हनूमान,
नल, नील, गवाक्ष, प्रात के रण का समाधान
करने के लिए, फेर वानर-दल आश्रय-स्थल।
बैठे रघुकुल-मणि श्वेत-शिला पर, निर्मल जल
ले आये कर-पद-क्षालनार्थ पटु हनूमान;
अन्य वीर सर के गये तीर-सन्ध्या-विधान—
वन्दना ईश की करने को, लौटे सत्वर,

सब घेर राम को बैठे आज्ञा को तत्पर ;
पीछे लक्ष्मण, सामने विभीषण, भल्ल धीर ,—
सुग्रीव, प्रान्त पर पाद-पद्म के महावीर ,
यूथपति अन्य जो, यथास्थान हो निर्निमेष
देखते राम का जित-सरोज-मुख-श्याम देश !

है अमा-निशा, उगलता गगन घन अन्धकार ,
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन-चार ,
अप्रतिहत गरज रहा पीछे, अम्बुधि विशाल ,
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न; केवल जलती मशाल ।
स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय ,
रह रह उठता जग जीवन में रावण-जय-भय ,
जो नहीं हुआ आज तक हृदय रिपुदम्भ—श्रान्त ,—
एक भी, अयुत,—लक्ष में रहा जो दुराक्रान्त ,
कल लड़ने को हो रहा विकल वह बार-बार ,
असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार-हार ,
ऐसे क्षण अन्धकार घन में जैसे विद्युत
जागी पृथ्वी-तनया-कुमारिका-छवि, अच्युत
देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन
विदेह का; प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का—नयनों से गोपन—प्रिय सम्भाषण ,—
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान—पतन ,—
काँपते हुए किसलय,—झरते पराग-समुदय ,—
गाते खग नव-जीवन-परिचय,—तरु मलय-वलय ,—
ज्योतिः-प्रताप स्वर्गीय,—ज्ञात छवि प्रथम स्वीय ,—
जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय ।
सिहरा तन, क्षण भर भूला मन, लहरा समस्त ,
हर-धनुभंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त ,
फूटी स्मिति सीता-ध्यान-लीन राम के अधर ,
फिर विश्व-विजय-भावना हृदय में आयी भर ,

वे आये याद दिव्य शर अगणित मन्त्रपूत,—
फड़का पर नभ को उड़े सकल ज्यों देवदूत,
देखते राम, जल रहे शलभ ज्यों रजनीचर,
ताड़का, सुबाहु, विराध, शिरस्त्रय, दूषण, खर;
फिर देखी भीमा-मूर्ति आज रण देवी जो
आच्छादित किये हुए सम्मुख समग्र नभ को,
ज्योतिर्मय अस्त्र सकल बुझ बुझ कर हुए क्षीण,
पा महानिलय उस तन में हुए लीन,
लख शंकाकुल हो गये अतुल-बल शेष-शयन,
खिंच गये दृगों में सीता के राममय नयन,
फिर सुना—हँस रहा अट्टहास रावण खल-खल,
भावित नयनों से सजल गिरे दो मुक्ता-दल।

राम की शक्ति-पूजा

बोले भावस्थ चन्द्र मुख निन्दित रामचन्द्र
प्राणों में पावन कम्पन भर स्वर-मेघमन्द्र—
"देखो, बन्धुवर, सामने स्थित जो वह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना हैं इस की मकरन्द-विन्दु,
गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु।
दशदिक-समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर,
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर,
लख महाभाव-मंगल पद-तल धँस रहा गर्व,
मानव के मन का असुर मन्द हो रहा खर्व।"
फिर मधुर दृष्टि से प्रिय कपि को खींचते हुए
बोले प्रियतर स्वर से अन्तर सींचते हुए—
"चाहिए हमें एक सौ आठ, कवि, इन्दीवर,

कम से कम अधिक और हो, अधिक और सुन्दर,
जाओ देवीदह, उषःकाल होते, सत्वर
तोड़ो, लाओ वे कमल, लौट कर लड़ो समर।"
अवगत हो जाम्बवान से पथ, दूरत्व, स्थान,
प्रभु-पद-रज सिर धर चले हर्ष भर हनूमान।
राघव ने विदा किया सब को जान कर समय,
सब चले सदय राम की सोचते हुए विजय।

निशि हुई विगत, नभ के ललाट पर प्रथम किरण
फूटी रघुनन्दन के दृग महिमा-ज्योति-हिरण,
है नहीं शरासन आज हस्त—तूणीर स्कन्ध,
वह नहीं सोहता निविड़-जटा-दृढ़ मुकुट-बन्ध,
सुन पड़ता सिंहनाद रण-कोलाहल अपार,
उमड़ता नहीं मन, स्तब्ध सुधी हैं ध्यान धार;
पूजोपरान्त जपते दुर्गा-दशभुजा-नाम,
मन करते हुए मनन नामों के गुण-ग्राम;
बीता वह दिवस, हुआ मन स्थिर इष्ट के चरण,
गहन से गहनतर होने लगा समाराधन।
क्रम-क्रम से हुए पार राघव के पंच दिवस,
चक्र से चक्र मन चढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस;
कर-जप पूरा कर एक चढ़ाते इन्दीवर,
निज पुरश्चरण इस भाँति रहे हैं पूरा कर।
चढ़ षष्ठ दिवस आज्ञा पर हुआ समाहित मन,
प्रति जप से खिंच-खिंच होने लगा महाकर्षण,
संचित त्रिकुटी पर ध्यान द्विदल देवी-पद पर,
जप के स्वर लगा काँपने थर-थर-थर अम्बर!
दो दिन निःस्पन्द एक आसन पर रहे राम,
अर्पित करते इन्दीवर जपते हुए नाम,
आठवाँ दिवस मन ध्यान-युक्त चढ़ता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा-हरि-शंकर का स्तर,

हो गया विजित ब्रह्मांड पूर्ण, देवता स्तब्ध ,
हो गये दग्ध जीवन के तप के समारब्ध ,
रह गया एक इन्दीवर, मन देखता पार ,
प्रायः करने को हुआ दुर्ग जो सहस्रार ,
द्विप्रहर रात्रि, साकार हुई दुर्गा छिप कर ,
हँस उठा ले गयीं पूजा का प्रिय इन्दीवर ।
यह अन्तिम जप, ध्यान में देखते चरण-युगल
राम ने बढ़ाया कर लेने को नील कमल ;
कुछ लगा न हाथ, हुआ सहसा स्थिर मन चंचल ,
ध्यान की भूमि से उतरे, खोले पलक विमल ,
देखा, वह रिक्त स्थान, यह जप का पूर्ण समय ,
आसन छोड़ना असिद्धि, भर गये नयन-द्वय :
"धिक् जीवन जो पाता ही आया है विरोध ,
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध !
जानकी ! हाय उद्धार प्रिया का न हो सका !"
वह एक ओर मन रहा राम का जो न थका ;
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय ,
कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय ,
बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युत-गति हतचेतन
राम में जगी स्मृति हुए सजग पा भाव प्रमन ।
"यह है उपाय," कह उठे राम ज्यों मन्द्रित घन—
"कहती थीं माता मुझे सदा राजीव-नयन !
दो नील-कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ दे कर मातः एक नयन ।"
कह कर देखा तूणीर, ब्रह्मशर रहा झलक ,
ले लिया हस्त लक-लक करता वह महाफलक ,
ले अस्त्र वाम कर, दक्षिण कर दक्षिण लोचन
ले अर्पित करने को उद्यत हो गये सुमन ।
जिस क्षण बँध गया बेधने का दृग दृढ़ निश्चय ,
काँपा ब्रह्माण्ड, हुआ देवी का त्वरित उदय :—

"साधु साधु, साधक-धीर, धर्म-धन-धन्य राम !"
कह लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम।
देखा राम ने, सामने श्री दुर्गा-भास्वर
वामपद असुर-स्कन्ध पर, रहा दक्षिण हरि पर ;
ज्योतिर्मय रूप, हस्त दश विविध-अस्त्र-सज्जित ,
मन्द-स्मित मुख, लख हुई विश्व की श्री लज्जित ,
हैं दक्षिण में लक्ष्मी, सरस्वती वाम भाग ,
दक्षिण गणेश, कार्तिक बायें रण-रंग-राग ,
मस्तक पर शंकर। पद पद्मों पर श्रद्धाभर
श्रीराघव हुए प्रणत मन्द-स्वर-वन्दन कर।
"होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन !"
कह महाशक्ति राम के वदन में हुईं लीन।

भिक्षुक

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिल कर हैं एक ,
चल रहा लकुटिया टेक ,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाये ,
बायें से वे मलते हुए पेट को चलाते ,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाये।
भूख से सूख ओंठ जब जाते
दाता—भाग्य-विधाता से क्या पाते ?—
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते।

चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उन से कुत्ते भी हैं अड़े हुए।

वह तोड़ती पत्थर

वह तोड़ती पत्थर,
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर।
नहीं छायादार
पेड़ वह जिस के तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार,—
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।
चढ़ रही थी धूप,
गर्मियों के दिन,
दिवा का तमतमाता रूप;
उठी झुलसाती हुई लू,
रुई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगी छा गयी,
प्रायः हुई दुपहर—
वह तोड़ती पत्थर।
देखते देखा, मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्न-तार;
देख कर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से,
जो मार खा रोई नहीं,

सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार।
एक छन के बाद काँपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा—
"मैं तोड़ती पत्थर।"

तुलसीदास का उद्बोधन

बिखरीं छूटीं शफरी-अलकें,
निष्पात नयन-नीरज-पलकें,
भावातुर पृथु उर की छलकें पपशमिता;

निःसम्बल केवल ध्यान-मग्न,
जागी योगिनी अरूप-लग्न,
वह खड़ी शीर्ण प्रिय-भाव-मग्न निरुपमिता।

कुछ समय अनन्तर, स्थित रह कर,
स्वर्गीयाभा वह स्वरित प्रखर
स्वर में झर-झर जीवन भर कर ज्यों बोली,

अचपल ध्वनि की चमकी चपला,
बल की महिमा बोली अबला,
जागी जल पर कमला, अमला मति डोली:

"धिक! आये तुम यों अनाहूत,
धो दिया श्रेष्ठ कुल-धर्म धूत,
राम के नहीं, काम के सूत कहलाये!

हो बिके जहाँ तुम बिना दाम ,
वह नहीं और कुछ हाड़, चाम !
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आये !"

जागा जागा संस्कार प्रबल ,
रो गया काम तत्क्षण वह जल ,
देखा, वामा वह न थी, अनल-प्रतिमा वह ,

इस ओर ज्ञान, उस ओर ज्ञान ,
हो गया भस्म वह प्रथम भान ,
छूटा जग का जो रहा ध्यान, जड़िमा वह ।

देखा, शारदा नील-वसना ,
हैं सम्मुख स्वयं सृष्टि-रशना ,
जीवन-समीर-शुचि निःश्वसना, वरदात्री ,

वीणा वह स्वयं सुवादित स्वर ,
फूटीं तर अमृताक्षर-निर्झर ,
यह विश्व हंस, हैं चरण सुघर जिस पर श्री ।

दृष्टि से भारती की बँध कर
कवि उठता हुआ चला ऊपर ,
केवल अम्बर—केवल अम्बर फिर देखा ;

धूमायमान वह घूर्ण्य प्रसर
धूसर समुद्र-शशि-ताराहर ,
सूझता नहीं क्या ऊर्ध्व, अधर, क्षर रेखा ।

चमकी तब तक तारा नवीन ,
द्युति नील-नील, जिस में विलीन
हो गयीं भारती, रूप-क्षीण महिमा अब ,

आभा भी क्रमशः हुई मन्द ,
निस्तब्ध व्योम—गति-रहित छन्द ,
आनन्द रहा, मिट गये द्वन्द्व बन्धन सब ।

थे मुँदे नयन, ज्ञानोन्मीलित
कलि में सौरभ ज्यों, चित में स्थित ,
अपनी असीमता में अवसित प्राणाशय ;

जिस कलिका में कवि रहा बन्द
वह आज उसी में खुली मन्द
भारती रूप में सुरभि छन्द निष्प्रश्रय ।

जब आया फिर देहात्म बोध ,
बाहर चलने का हुआ शोध ,
रह निर्विरोध, गति हुई रोध-प्रतिकूला ,

खोलती मृदुल दल-बन्द सकल
गुदगुदा विपुल धारा अविचल
बह चली सुरभि की ज्यों उत्कल, निःशूला—

बाजीं बहती लहरें कलकल ,
जागे भावाकुल शब्दोच्छल ,
गूँजा जग का कानन-मंडल, पर्वत-तल ,

सूना उर ऋषियों का ऊना ,
सुनता स्वर, हो हर्षित, दूना ,
आसुर भावों से जो भूना, था निश्चल ।

"जागो जागो, आया प्रभात ,
बीती वह, बीती अन्ध रात ,
झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वाचल ,

बाँधो, बाँधो किरणें चेतन ,
तेजस्वी, हे तमजिज्जीवन ,
आती भारत की ज्योतिर्घन महिमाबल ।

होगा फिर से दुर्धर्ष समर
जड़ से चेतन का निशि-वासर ,
कवि का प्रति छवि से जीवनहर, जीवनभर ,

भारती इधर, हैं उधर सकल
जड़ जीवन के संचित कौशल ,
जय, इधर ईश, हैं उधर सबल माया-कर ।

हो रहे आज जो खिन्न-खिन्न
छुट-छुट कर दल से भिन्न-भिन्न
यह अकल-कला, यह सकल छिन्न, जोड़ेगी ,

रविकर ज्यों बिन्दु-बिन्दु जीवन
संचित कर करता है वर्षण ,
लहरा भव-पादप, मर्षण-मन मोड़ेगी ।

देश काल के शर से बिंध कर
यह जागा कवि अशेष-छविधर
इस का स्वर भर भारती मुखर होएँगी ,

निश्चेतन, निज तन मिला विकल ,
छलका शत-शत कल्मष के छल
बहती जो, वे रागिनी सकल सोएँगी ।

तम के अमार्ज्य रे तार-तार
जो, उन पर पड़ी प्रकाश-धार ,
जग-वीणा के स्वर के बहार रे, जागो ;

इस कर अपने कारुणिक प्राण
कर लो समक्ष देदीप्यमान—
दे गति विश्व को रुको, दान फिर माँगो।"

क्या हुआ कहाँ, कुछ नहीं सुना,
कवि ने निज मन भाव में गुना,
साधना जगी केवल अधुना प्राणों की,

देखा सामने, मूर्ति छल-छल
नयनों में छलक रही अचपल,
उपमिता न हुई समुच सकल तानों की।

जगमग जीवन का अन्त्य भाष:
"जो दिया मुझे तुमने प्रकाश,
अब रहा नहीं लेशावकाश रहने का

मेरा उस से गृह के भीतर;
देखूँगा नहीं कभी फिर कर,
लेता मैं जो वर जीवन-भर बहने का।"

चल मन्दचरण आये बाहर,
उर में परिचित वह मूर्ति सुघर
जागी विश्वाश्रय महिमाधर, फिर देखा—

संकुचित, खोलती श्वेत पटल,
बदली, कमला तिरती सुख-जल,
प्राची-दिगंत-उर में पुष्कल रवि-रेखा।

बहार के दिन

हँसी के तार होते हैं ये बहार के दिन।
हृदय के हार के होते हैं ये बहार के दिन।
निगाह रुकी कि केशरों की वेशिनी ने कहा,
सुगन्ध-भार के होते हैं ये बहार के दिन।
कहीं की बैठी हुई तितली पर जो आँख गयी,
कहा, सिंगार के होते हैं ये बहार के दिन।
हवा चली, गले खुशबू लगी कि वे बोले,
समीर-सार के होते हैं ये बहार के दिन।
नवीनता की आँखें चार जो हुई उन से,
कहा कि प्यार के होते हैं ये बहार के दिन।

——

गर्म पकौड़ी

गर्म पकौड़ी—
ऐ गर्म पकौड़ी।
तेल की भुनीं
नमक-मिर्च की मिली,
ऐ गर्म पकौड़ी!
मेरी जीभ जल गयी
सिसकियाँ निकल रहीं,
लार की बूँदें कितनी टपकीं,
पर दाढ़ तले तुझे दबा ही रक्खा मैंने
कंजूस ने ज्यों कौड़ी।
पहले तूने मुझ को खींचा,

दिल ले कर फिर कपड़े-सा फींचा ,
अरी, तेरे लिए छोड़ी
बम्हन की पकायी
मैंने घी की कचौड़ी ।

शोभा-श्री

अट नहीं रही है
आभा फागुन की तन सट नहीं रही है ।
कहो साँस लेते हो ,
घर-घर भर देते हो ,
उड़ने को नभ में तुम
पर पर कर देते हो ,
आँख हटाता हूँ तो हट नहीं रही है ।
पत्तों से लदी डाल
कहीं हरी, कहीं लाल ,
कहीं पड़ी है उर में ,
मन्द-गन्ध-पुष्प-माल ,
पाट-पाट शोभा-श्री पट नहीं रही है ।

बाँधो न नाव

बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु !
पूछेगा सारा गाँव, बन्धु !

यह घाट वही जिस पर हँस कर ,
वह कभी नहाती थी धँस कर ,

आँखें रह जाती थीं फँसकर,
कँपते थे दोनों पाँव, बन्धु !

वह हँसी बहुत कुछ कहती थी,
फिर भी अपने में रहती थी,
सब की सुनती थी, सहती थी,
देती थी सब के दाँव, बन्धु !

वृत्ति

देख चुका जो-जो आये थे,
चले गये,
मेरे प्रिय सब बुरे गये, सब,
भले गये !
क्षण भर की भाषा में,
नव-नव अभिलाषा में,
उगते पल्लव से कोमल शाखा में,
आये थे जो निष्ठुर कर से
मले गये,
मेरे प्रिय सब बुरे गये, सब,
भले गये !
चिंताएँ, बाधाएँ,
आती ही हैं, आयें,
अन्ध हृदय है, बन्धन निर्दय लायें,
मैं ही क्या, सब ही तो ऐसे
छले गये,
मेरे प्रिय सब बुरे गये, सब,
भले गये !

स्नेह निर्झर बह गया है

स्नेह निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।
आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है: "अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ
जीवन दह गया है।
दिये हैं मैंने जगत को फूल-फल,
किया है अपनी प्रभा से चकित चल,
पर अनश्वर था सकल पल्लवित पल
ठाठ जीवन का वही
जो ढह गया है।
अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा,
श्याम तृण पर बैठने को निरुपमा।"
बह रही है हृदय पर केवल अमा,
मैं अलक्षित हूँ, यही
कवि कह गया है।

दुख के दिन

ये दुख के दिन
काटे है जिसने
गिन-गिन कर
पल-छिन, तिन-तिन।
आँसू की लड़ के मोती के
हार पिरोये,

गले डाल कर प्रियतम के
लखने को शशिमुख
दुःख-निशा में
उज्ज्वल अमलिन।

तिमिर दारण

तिमिरदारण मिहिर दरसो।
ज्योति के कर अन्ध कारागार जग का सजग परसो।
खो गया जीवन हमारा,
अन्धता से गत सहारा,
गात के सम्पात पर उत्थान दे कर प्राण बरसो।
क्षिप्रतर हो गति हमारी,
खुले प्रति कलि कुसुम-क्यारी,
सहज सौरभ से समीरण पर सहस्रों किरण हरसो।

सुमित्रानन्दन पन्त

प्रथम रश्मि

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि ! तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनि ! पाया तूने यह गाना ?

सोयी थी तू स्वप्न-नीड़ में पंखों के सुख में छिप कर ,
झूम रहे थे, घूम द्वार पर, प्रहरी-से जुगनू नाना ;

शशि-किरणों से उतर-उतर कर भू पर कामरूप नभचर
चूम नवल कलियों का मृदु मुख सिखा रहे थे मुसकाना ।

स्नेह-हीन तारों के दीपक, श्वास-शून्य थे तरु के पात ,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में, तम ने था मंडप ताना ।

कूक उठी सहसा तरु-वासिनि ! गा तू स्वागत का गाना ,
किसने तुझको अंतर्यामिनि ! बतलाया उस का आना ?

निकल सृष्टि के अंध-गर्भ से छाया-तन बहु छाया-हीन ,
चक्र रच रहे थे खल निशिचर चला कुहुक, टोना माना ।

छिपा रही थी मुख शशि-बाला निशि के श्रम से हो श्री-हीन ,
कमल-क्रोड़ में बन्दी था अलि, कोक शोक से दीवाना ;

मूर्च्छित थीं इन्द्रियाँ, स्तब्ध जग, जड़-चेतन सब एकाकार ,
शून्य-विश्व के उर में केवल साँसों का आना-जाना ;

तू ने ही पहले बहुदर्शिनि ! गाया जागृति का गाना ,
श्री-सुख-सौरभ का, नभचारिणि ! गूँथ दिया ताना-बाना ।

निराकार तम मानो सहसा ज्योति-पुंज में हो साकार ,
बदल गया द्रुत जगत-जाल में धर कर नाम-रूप नाना ।

सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल, सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम अधरों पर हिल मोती का-सा दाना!

खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि, जगी सुरभि, डोले मधु-बाल,
स्पन्दन, कम्पन औ' नव-जीवन सीखा जग ने अपनाना!

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि! तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनि! पाया यह स्वर्गिक गाना?

——

सरलपन ही था उस का मन

*　　　　*　　　　*

हृदय के सुरभित साँस!
जरा है आदरणीय,
सुखद यौवन? विलास-उपवन रमणीय,
शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु सरल, कमनीय,

—बालिका ही थी वह भी!
सरलपन ही था उस का मन,
निरालापन था आभूषन,
कान से मिले अजान नयन,
सहज था सजा सजीला तन।

*　　　　*　　　　*

रँगीले, गीले फूलों से
अधखिले भावों से प्रमुदित
बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग-सी नित।
इसी में था असीम अवसित!

* * *

उस के उस सरलपने से
मैंने था हृदय सजाया,
नित मधुर-मधुर गीतों से
उस का उर था उकसाया।

कह उसे कल्पनाओं की
कल कल्पलता, अपनाया,
बहु नवल भावनाओं का
उस में पराग था पाया।

मैं मन्द हास-सा उस के
मृदु अधरों पर मँड़राया,
औ' उसकी सुखद सुरभि से
प्रति-दिन समीप खिंच आया।

पावस-ऋतु थी, पर्वत-प्रदेश,
पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़,

अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार,
—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल!

गिरि का गौरव गा कर झर् झर्
मद से नस-नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर।

गिरिवर के उर से उठ-उठ कर
उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर

हैं झाँक रहे नीरव नभ पर ,
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्तापर !

—उड़ गया, अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार पारद के पर !
रव-शेष रह गये हैं निर्झर !
है टूट पड़ा भू पर अम्बर !

धँस गये धरा में समय शाल !
उठ रहा धुआँ, जल गया ताल !
यों जलद-यान में विचर-विचर ,
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल !

[वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर ।]
इस तरह मेरे चितेरे हृदय की
बाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत चित्र थी ,

सरल शैशव की सुखद सुधि-सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी ।

*   *   *

आँसू

*   *   *

देखता हूँ जब, उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये ! भर-भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को ;
नवोढ़ा-बाल-लहर
अचानक उपकूलों के

प्रसूनों के ढिंग रुक कर
सरकती है सत्वर ;
अकेली आकुलता-सी, प्राण !
कहीं तब करती मृदु-आघात ,
सिहर उठता कृश गात ,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात !
देखता हूँ जब, पतला
इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला ,
तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
मुझे करता तब अन्तर्धान ,
न जाने तुम से मेरे प्राण
चाहते क्या आदान !

* * *

करुण है हाय ! प्रणय ,
नहीं दुरता है जहाँ दुराव ,
करुणतर है वह भय ,
चाहता है जो सदा बचाव ;
करुण तम भग्न हृदय ,
नहीं भरता है जिस का घाव ,
करुण अतिशय उनका संशय ,
छुड़ाते हैं जो जुड़े स्वभाव !
किये भी हुआ कहाँ संयोग ?
टला टाले कब इस का वास ?
स्वयं ही तो आया यह पास ,
गया भी, बिना प्रयास !

* * *

परिवर्त्तन

अहे निष्ठुर - परिवर्त्तन !
तुम्हारा ही तांडव-नर्तन
विश्व का करुण-विवर्तन !
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन ,
निखिल उत्थान, पतन !

अहे वासुकि सहस्र-फन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत-वक्षःस्थल पर !
शत-शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत-फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !
मृत्यु तुम्हारा गरल-दन्त, कंचुक-कल्पान्तर ,
अखिल विश्व ही विवर ,
वक्र-कुंडल
दिग्मंडल !

अहे दुर्जेय विश्वजित् !
नवाते शत सुरवर, नरनाथ
तुम्हारे इन्द्रासन - तल माथ ,
घूमते शत-शत भाग्य अनाथ ,
सतत रथ के चक्रों के साथ !
तुम नृशंस-नृप-से जगती पर चढ़ अनियन्त्रित ,
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद-मर्दित ,
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित ,
हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर-संचित !
आधि, व्याधि, बहु वृष्टि, वात, उत्पात, अमंगल ,
वह्नि, बाढ़, भूकम्प, तुम्हारे विपुल सैन्य-दल ,
अहे निरंकुश ! पदाघात से जिनके विह्वल

हिल हिल उठता है टल-मल
पद - दलित धरातल !

*　　　*　　　*

हमारे निज सुख, दुख, निःश्वास
तुम्हें केवल परिहास ;
तुम्हारी ही विधि पर विश्वास
हमारा चिर-आश्वास !
ऐ अनन्त हृत्कम्प ! तुम्हारा अविरत-स्पन्दन
सृष्टि-शिराओं में संचारित करता जीवन ;
खोल जगत के शत-शत नक्षत्रों-से लोचन ,
भेदन करते अन्धकार तुम जग का क्षण-क्षण ,
सत्य तुम्हारी राज-यष्टि, सम्मुख नत त्रिभुवन ,
भूप, अकिंचन ,
अटल शास्ति नित करते पालन !

तुम्हारा ही अशेष व्यापार ,
हमारा भ्रम, मिथ्याहंकार ,
तुम्हीं में निराकार साकार ,
मृत्यु-जीवन सब एकाकार !
अहे महाम्बुधि ! लहरों से शत लोक, चराचर ,
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर ;
तुंग-तरंगों से शत युग, शत-शत कल्पान्तर
उगल, महोदर में विलीन करते तुम सत्वर ,
शत-सहस्र रवि-शशि, असंख्य ग्रह, उपग्रह, उडुगण ,
जलते-बुझते हैं स्फुलिंग से तुम में तत्क्षण ,
अचिर विश्व में अखिल दिशावधि, कर्म, वचन, मन ,
तुम्हीं चिरन्तन
अहे विवर्तन-हीन विवर्तन !

———

ज्योतिर्मय जीवन

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन !
बरसो लघु-लघु तृण, तरु पर
हे चिर अव्यय, चिर नूतन !
बरसो कुसुमों में मधु बन ,
प्राणों में अमर प्रणय-धन ,
स्मिति-स्वप्न अधर पलकों में ,
उर-अंगों में सुख-यौवन !
छू-छू जग के मृत रज-कण
कर दो तृण-तरु में चेतन ,
मृन्मरण बाँध दो जग का ,
दे प्राणों का आलिंगन !
बरसो सुख बन, सुखमा बन ,
बरसो जग-जीवन के धन !
दिशि-दिशि में औ' पल-पल में
बरसो संसृति के सावन !

—

झर गयी कली

झर गयी कली, झर गयी कली !
चल सरित पुलिन पर वह विकसी ,
उर के सौरभ से सहज बसी ,
सरला प्रातः ही तो विहँसी ,
रे कूद सलिल में गयी चली !
आयी लहरी चुम्बन करने ,
अधरों पर मधुर अधर धरने ,

फेनिल मोती से मुहँ भरने ,
वह चंचल सुख से गयी छली !
आती ही जाती नित लहरी ,
कब पास कौन किस के ठहरी ?
कितनी ही तो कलियाँ फहरीं ,
सब खेलीं, हिलीं, रहीं सँभली !
निज वृन्त पर उसे खिलना था ,
नव-नव लहरों से मिलना था ,
निज सुख-दुख सहज बदलना था ,
रे गेह छोड़ वह बह निकली !
है लेन-देन ही जग-जीवन ,
अपना पर सब का अपनापन ,
खो निज आत्मा का अक्षय धन
लहरों में भ्रमित, गयी निगली !

गृह-काज

आज रहने दो यह गृह काज ,
प्राण ! रहने दो यह गृह काज !
आज जाने कैसी वातास
छोड़ती सौरभ-श्लथ उच्छ्वास ,
प्रिये ! लालस-सालस वातास ,
जगा रोओं में सौ अभिलाष ।
आज उर के स्तर-स्तर में, प्राण !
सजग सौ-सौ स्मृतियाँ सुकुमार ,
दृगों से मधुर स्वप्न - संसार ,
मर्म में मदिर स्पृहा का भार !

शिथिल, स्वप्निल पंखड़ियाँ खोल
आज अपलक कलिकाएँ बाल,
गूँजता भूला भौंरा डोल
सुमुखि ! उर के सुख से वाचाल !

आज चंचल-चंचल मन प्राण,
आज रे शिथिल-शिथिल तन-भार,
आज दो प्राणों का दिन-मान,
आज संसार नहीं संसार !
आज क्या प्रिये, सुहाती लाज ?
आज रहने दो सब गृह-काज !

सन्ध्या-तारा

नीरव सन्ध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम-प्रान्त ।
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर ।
खग-कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलि-हीन,
धूसर भुजंग-सा जिह्म, क्षीण ।
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशान्ति को रहा चीर,
सन्ध्या-प्रशान्त को कर गंभीर ।
इस महा-शान्ति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण-धार,
ज्यों बेध रही हो आर—पार ।
अब हुआ सान्ध्य - स्वर्णाभ लीन,

सब वर्ण-वस्तु से विश्व हीन ।
गंगा के चल-जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल

है मूँद चुका अपने मृदु-दल।
लहरों पर स्वर्ण-रेख सुन्दर पड़ गयी नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर-शिशिर से डर!
तरु-शिखरों से वह स्वर्ण-विहग उड़ गया, खोल निज पंख सुभग,
किस गुहा - नीड़ में रे किस मग!
मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील-नील, कोमल-कोमल,
छाया तरु-वन में तम श्यामल।

पश्चिम नभ में हूँ रहा देख
उज्ज्वल, अमन्द नक्षत्र एक!
अकलुष, अनिन्द्य नक्षत्र एक ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक,
उर में हो दीपित अमर टेक।
किस स्वर्णाकांक्षा का प्रदीप वह लिये हुए? किस के समीप?
मुक्तालोकित ज्यों रजत-सीप!
क्या उस की आत्मा का चिर-घन स्थिर, अपलक नयनों का चिन्तन?
क्या खोज रहा वह अपना पन।
दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल इच्छा से निर्धन।

आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नहीं बन्धन - विवेक!
चिर-आकांक्षा से ही थर्-थर्, उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर!
अविरत इच्छा ही में नर्तन करते अबाध रवि, शशि, उडुगण,
दुस्तर आकांक्षा का बन्धन!
रे उडु क्या जलते प्राण विकल! क्या नीरव, नीरव नयन सजल!
जीवन निसंग रे व्यर्थ विफल!
एकाकीपन का अन्धकार, दुस्सह है इसका मूक-भार,
इस के विषाद का रे न पार!

*   *   *

चिर अविचल पर तारक अमन्द !
जानता नहीं वह छन्द-बन्ध !
वह रे, अनन्त का मुक्त-मीन अपने असंग सुख में विलीन ,
स्थित निज स्वरूप में चिर-नवीन !
निष्कम्प शिखा-सा वह निरुपम भेदता जगत-जीवन का तम ,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र, वह सम !
गुंजित अलि-सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन अन्धकार !
हलका एकाकी व्यथा-भार !
जगमग-जगमग नभ का आँगन लद गया कुन्द-कलियों से घन ,
वह आत्म-और यह जग-दर्शन !

ताज

हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !
संग-सौध में हो शृंगार मरण का शोभन ,
नग्न, क्षुधातुर, वास-विहीन रहें जीवित जन ?

मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति !
प्रेम-अर्चना यही, करें हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल, भरें जीवन का प्रांगण ?
शव को दें हम रूप, रंग, आदर मानव का ?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?
गत-युग के मृत आदर्शों के ताज मनोहर
मानव के मोहान्ध हृदय में किये हुए घर !
भूल गये हम जीवन का सन्देश अनश्वर
मृतकों के हैं मृतक, जीवितों का है ईश्वर !

गा कोकिल

गा, कोकिल, बरसा पावक-कण !
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन ,
ध्वंस-भ्रंस जग के जड़ बन्धन !
पावक-पग धर आवे नूतन ,
हो पल्लवित नवल मानवपन !

गा, कोकिल, भर स्वर में कम्पन !
झरें जाति-कुल-वर्ण-पर्ण घन ,
अन्धनीड़ से रूढ़ि - रीति छन ,
व्यक्ति - राष्ट्र - गत राग-द्वेष-रण ,
झरें, मरें विस्मृति में तत्क्षण !

गा, कोकिल, गा, कर मत चिन्तन !
नवल रुधिर से भर पल्लव-तन ,
नवल स्नेह सौरभ से यौवन ,
कर मंजरित नव्य जगजीवन ,
गूँज उठें पी-पी मधु सब जन !

गा, कोकिल, नव गान कर सृजन !
रच मानव के हित नूतन मन ,
वाणी, वेश, भाव नव शोभन ,
स्नेह, सुहृदयता हो मानस-धन ,
करें मनुज नव जीवनयापन !

गा, कोकिल, सन्देश सनातन !
मानव दिव्य स्फुलिङ्ग चिरन्तन ,
वह न देह का नश्वर रज-कण !
देश-काल हैं उसे न बन्धन ,
मानव का परिचय मानवपन !
कोकिल, गा मुकुलित हों दिशि-क्षण !

—

बाँसों का झुरमुट

बाँसों का झुरमुट—
सन्ध्या का झुटपुट—
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ—
टी-वी-टी टुट्-टुट् !
वे ढाल-ढाल कर उर अपने
हैं बरसा रहीं मधुर सपने ,
श्रम-जर्जर विधुर चराचर पर ,
गा गीत स्नेह-वेदना सने !
ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग ,
भारी है जीवन ! भारी पग !
आः, गा-गा शत-शत सहृदय खग ,
सन्ध्या बिखरा निज स्वर्ण सुभग ,
औ' गन्ध-पवन झल मन्द व्यजन
भर रहे नया इन में जीवन ,
ढीली हैं जिन की रग-रग !
—यह लौकिक औ' प्राकृतिक कला ,
यह काव्य अलौकिक सदा चला
आ रहा—सृष्टि के साथ पला !

* * *

गा सके खगों-सा मेरा कवि
विश्री जग की सन्ध्या की छवि !
गा सके खगों-सा मेरा कवि ,
फिर हो प्रभात, फिर आवे रवि !

—

धोबियों का नृत्य

लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
नाच गुजरिया हरती मन !
उस के पैरों में घुँघरू कल,
नट की कटि में घंटियाँ तरल,
वह फिरकी-सी फिरती चंचल,
नट की कटि खाती सौ-सौ बल,
लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
ठुमुक गुजरिया हरती मन !
उड़ रहा ढोल धाधिन, धातिन,
औ' हुडुक घुडुकता ढिम-ढिम-ढिन,
मंजीर खनकते खिन-खिन-खिन,
मद-मस्त रजक, होली का दिन,
लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
थिरक गुजरिया हरती मन !
वह काम-शिखा-सी रही सिहर,
नट की कटि में लालसा भँवर,
कँप-कँप नितम्ब उस के थर-थर
भर रहे घंटियों में रति-स्वर,
लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
मत्त गुजरिया हरती मन !
फहराता लहँगा लहर-लहर,
उड़ रही ओढ़नी फर फर फर,
चोली के कंदुक रहे उघर,
(स्त्री नहीं गुजरिया, वह है नर !)

लो छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
हुलस गुजरिया हरती मन !
उर की अतृप्त-वासना उभर
इस ढोल-मँजीरे के स्वर पर
नाचती, गान के फैला पर,
प्रिय जन-गण को उत्सव अवसर,—
लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
चतुर गुजरिया हरती मन !

ग्राम-श्री

फैली खेतों में दूर तलक मखमल की कोमल हरियाली,
लिपटीं जिस से रवि की किरणें चाँदी की-सी उजली जाली।
तिनकों के हरे-हरे तन पर हिल हरित रुधिर है रहा झलक,
श्यामल भू-तल पर झुका हुआ नभ का चिर-निर्मल नील फलक।

रोमांचित-सी लगती वसुधा, आयी जौ-गेहूँ में बाली,
अरहर-सनई की सोने की किंकिणियाँ हैं शोभाशाली।
उड़ती भीनी तैलाक्त गन्ध, फूली सरसों पीली-पीली,
लो, हरित धरा से झाँक रही नीलम की कलि, तीसी नीली।

रँग-रँग के फूलों में रिलमिल हँस रही सखिया मटर खड़ी,
मखमली पेटियों-सी लटकीं छीमियाँ, छिपाये बीज-लड़ी।
फिरती हैं रँग-रँग की तितली रँग-रँग के फूलों पर सुन्दर,
फूले फिरते हों फूल स्वयं उड़-उड़ वृंतों से वृंतों पर।

अब रजत-स्वर्ण मंजरियों से लद गयी आम्र-तरु की डाली।
झर रहे ढाक, पीपल के दल, हो उठी कोकिला मतवाली।
महके कटहल, मुकुलित जामुन, जंगल में झरबेरी झूली।
फूले आड़ू, नीबू, दाड़िम, आलू, गोभी, बैंगन, मूली!

पीले मीठे अमरूदों में अब लाल-लाल चित्तियाँ पड़ीं,
पक गये सुनहले मधुर बेर, अँवली से तरु की डाल जड़ीं।
लहलह पालक, महमह धनियाँ, लौकी औ' सेम फलीं, फैलीं,
मखमली टमाटर हुए लाल, मिरचों की बड़ी हरी थैली।

गंजी को मार गया पाला, अरहर के फूलों को झुलसा,
हाँका करती दिन भर बन्दर अब मालिन की लड़की तुलसा।
बालाएँ गजरा काट-काट, कुछ कह गुप-चुप हँसतीं किन-किन,
चाँदी की-सी घंटियाँ तरल बजती रहतीं रह-रह खिन-खिन।

छायातप के हिलकोरों में चौड़ी हरीतिमा लहराती,
ईखों के खेतों पर सुफेद काँसों की झंडी फहराती।
ऊँची अरहर में लुका-छिपी खेलतीं युवतियाँ मदमातीं,
चुम्बन पा प्रेमी युवकों के श्रम से श्लथ जीवन बहलातीं।

बगिया के छोटे पेड़ों पर सुन्दर लगते छोटे छाजन,
सुन्दर, गेहूँ की बालों पर मोती के दानों-से हिमकन।
प्रातः ओझल हो जाता जग, भू पर आता ज्यों उतर गगन,
सुन्दर लगते फिर कुहरे से उठते से खेत, बाग, गृह, वन।

बालू के साँपों से अंकित गंगा की सतरंगी रेती,
सुन्दर लगती सरपत छायी, तट पर तरबूजों की खेती।
अँगुली की कंघी से बगुले कलँगी सँवारते हैं कोई,
तिरते जल में सुरखाब, पुलिन पर मगरौठी रहती सोयी।

डुबकियाँ लगाते सामुद्रिक, धोतीं पीली चोंचें धोबिन ,
उड़ अबाबील, टिटहरी, बया, चाहा चुगते कर्दम, कृमि, तृन ।
नीले नभ में पीलों के दल आतप में धीरे मँड़राते ,
रह-रह काले, भूरे, सुफ़ेद पंखों के रँग आते जाते ।

लटके तरुओं पर विहग-नीड़ वनचर लड़कों को हुए ज्ञात ,
रेखा-छवि विरल टहनियों की ठूँठे तरुओं के नग्न गात ।
आँगन में दौड़ रहे पत्ते, घूमती भँवर-सी शिशिर-वात ।
बदली छँटने पर लगती प्रिय ऋतुमती धरित्री सद्य-स्नात ।

हँसमुख हरियाली हिम-आतप सुख से अलसाये-से सोये ,
भीगी अँधियाली में निशि की तारक स्वप्नों में - से खोये ,—
मरकत-डिब्बे-सा खुला-ग्राम—जिस पर नीलम-नभ आच्छादन ,—
निरुपम हिमान्त में स्निग्ध-शान्त निज शोभा से हरता जन-मन !

भारत माता

भारत माता ग्रामवासिनी ।
खेतों में फैला है श्यामल
धूल-भरा मैला-सा आँचल ,
गंगा-यमुना में आँसू जल ,
मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी ।

दैन्य-जड़ित अपलक नत-चितवन ,
अधरों में चिर-नीरव रोदन ,
युग-युग के तम से विषण्ण मन ,
वह अपने घर में प्रवासिनी ।

तीस कोटि सन्तान नग्न-तन ,
अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन ,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन ,
नत-मस्तक तरु-तल निवासिनी !

स्वर्ण-शस्य पद-पद-तल-लुंठित ,
धरती-सा सहिष्णु मन कुंठित ,
क्रन्दन-कम्पित अधर मौन-स्मित ,
राहु-ग्रसित शरदेन्दु-हासिनी !

चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमिरांकित ,
नमित-नयन नभ वाष्पाच्छादित ,
आनन-श्री छाया-शशि उपमित ,
ज्ञान-मूढ़ गीता-प्रकाशिनी !

सफल आज उस का तप-संयम ,
पिला अहिंसा-स्तन्य सुधोपम ,
हरती जन-मन-भय, भव-तम-भ्रम ,
जग-जननी जीवन-विकासिनी !

हिमाद्रि

मानदंड भू के अखंड हे, पुण्य धरा के स्वर्गारोहण ,
प्रिय हिमाद्रि, तुम को हिमकण से घेरे मेरे जीवन के क्षण !
मुझ अंचलवासी को तुमने शैशव में आशी दी पावन ,
नभ में नयनों को खो, तब से स्वप्नों का अभिलाषी जीवन !

कब से शब्दों के शिखरों में तुम्हें चाहता करना चित्रित ,
शुभ्र शान्ति में समाधिस्थ हे शाश्वत सुन्दरता के भूभृत् !

बाल्य - चेतना मेरी तुम में जड़ीभूत आनन्द तरंगित,
तुम्हें देख सौन्दर्य - साधना मेरी महाश्चर्य से विस्मित !

जिन शिखरों को स्वर्ण-किरण नित ज्योति-मुकुट से करती मंडित,
जिन पर सहसा स्खलित तड़ित हो उठती निज आलोक से चकित !
जिन शिखरों पर रजत-पूर्णिमा सिन्धु-ज्वार-सी लगती स्तम्भित,
जिन की नीरवता में मेरे गीत-स्वप्न रहते थे झंकृत !

जिन की शीतल ज्वाला में जल बनी चेतना मेरी निर्मल,
प्राण हुए आलोकित जिन के स्वर्गोन्नत सौन्दर्य से सजल !
हृदय चाहता काव्य-कल्पना को किरीट पहनाना उज्ज्वल,
स्मृति में ज्योति-तरंगित स्वर्गिक शृंगों के आलोक का तरल !

वसुधा की महदाकांक्षा से स्वर्ग क्षितिज से भी उठ ऊपर
अन्तर आलोकित से स्थित तुम अमरों का उल्लास पान कर !
उरोभार से तरुण धरणि के सोया स्वर्ग शीष धर जिस पर,
तुम भारत के शाश्वत गौरव प्रहरी से जागरित निरन्तर !

रवि की किरणें जिसे स्पर्श कर हो उठतीं आलोक-निनादित,
जिस पर ऊषा सन्ध्या की छबि आदि-सृष्टि-सी ही स्वर्णांकित।
इन्दु स्फीत तुम स्फटिक धवलिमा के क्षीरोदधि-से हिल्लोलित,
ज्योत्स्ना में थे स्वप्न-मौन अप्सरा-लोक से लगते मोहित !

नवल-प्रवालों की रत्नश्री अहरह रहती जहाँ ममरित,
देवदारु की चारुसूचियों से प्रिय तलहटियाँ रोमांचित !
रंग-रूप से रहित वहाँ तुम चिर-दिगन्त-स्मिति से थे शोभित,
आदि-तत्व से, अपनी ही शोभा विलोक मानो अनिमेषित !

नीली छायाएँ थीं तन पर लगतीं आभा की-सी सिकुड़न,
इन्द्र किरण मंडल से दीपित उड़ते थे शत हँसमुख हिम-कण !

स्वर्दूतों के पंखों से घिर तड़ित-चकित हिम के रोमिल घन
रंगों से वेष्ठित रखते थे तुम को हे आलोक निरंजन !

प्रति वत्सर आती थी मधुऋतु सद्यःस्फुट देही ले कुसुमित
चीर रश्मियों को, फूलों के अंगों में निज कर शत रंजित !
खुलती पंखड़ियों की कंचुक सौरभ-श्वासों से थी स्पन्दित,
मेरे शैशव को नित उसकी गीत कोकिला रखती कूजित !

कलरव, स्वप्नातप, सुरधनु-पट, शशि-मुख, हिम-स्मित, गात्र ले श्वसित,
षड्ऋतु देती थीं परिक्रमा, अप्सरियों-सी सुरपति-प्रेषित !
शरद-चंद्रिका हो जाती थी स्वप्नों के शृंगों पर विजड़ित,
हिम की परियों का अंचल उड़ जग को कर लेता था परिवृत !

रंग-रंग के चित्रित पक्षी उड़ते नभ में गीत-तरंगित,
नील पीत भृंगों का गुंजन मौन क्षणों को करता मुखरित !
ऊष्मा का सूर्यातप तुम में लगता शीतलता-सा मूर्तित,
इन्द्रचाप पुल पर, वर्षा में सुरबालाएँ आ जातीं नित !

जग, प्रच्छाय गुहाओं में, बाष्पों के गज भरते नव-गर्जन,
चंचल विद्युत-लेखाएँ थीं लिपट दृगों से जातीं तत्क्षण !
ताराओं के साथ सहज शैशव-स्वप्नों से भर जाता मन,
उठते थे तुम अन्तर में-सौन्दर्य-स्वप्न-शृंगों पर मोहन !

मेघों की छाया के सँग-सँग हरित घाटियाँ चलतीं प्रतिक्षण,
वन के भीतर चित्र तितलियों का उड़ता फूलों का-सा वन !
रँग-रँग के उपलों पर रणमण उछल उत्स करते कल-गायन,
झरनों के स्वर जम से जाते रजत हिमानी-सूत्रों में घन !

भीम विशाल शिलाओं का वह मान हृदय में अब तक अंकित,
फेनों के जल-स्तम्भों-से वे निर्झर रभस वेग से मुखरित !

चीड़ों के तरु-वन का तम साँसें भरता मन में आन्दोलित ,
दरियों की गहरी छायाएँ ज्योतिरिंगणों से थीं गुम्फित !

गाते उर में क्षिप्र स्रोत, लहराते सर तुषार के निर्मल ,
सौरभ की गुंजित अलकों से छू समीर, उर करता शीतल !
नीली-पीली, हरी-लाल चपलाओं का नभ जगता चंचल ,
रजत कुहासे में, क्षण में माया-प्रान्तर हो जाता ओझल !

सम्भव, पुरा तुम्हारी द्रोणी किन्नर-मिथुनों से हों कूजित ,
छाया-निभृत गुहाएँ उन्मद रति की सौरभ से समुच्छ्वसित !
ओषधियाँ जल-जल दरियों के स्वप्न-कक्ष करती हों दीपित ,
ओसों के वन में मिलते हों स्तन-हारों के मुक्ताफल स्मित !

मदन-दहन की भस्म अनिल में उड़, अब तक तन करती पुलकित ,
सती अपर्णा के तप से वन-श्री अवाक्-सी लगती विस्मित !
अब भी ऊषा वहाँ दीखती वधू उमा के मुख-सी लज्जित ,
बढ़ती चन्द्र-कला भी गिरजा-सी ही गिरि के क्रोड़ में उदित !

अब भी वही वसन्त विचरता पुष्प-शरों से भर दिगन्त स्मित ,
गन्धोद्दाम धरा वह ही, पाषाण-शिलाएँ पुलक-पल्लवित !
अब भी प्रिय गौरा का शैशव वर्णन करते खग-पिक मुखरित ,
देवदारु के पुण्य शिखर वैसे ही शंकर से समाधि-स्थित !

अभी उतरता कूर्म सानु पर वप्र-क्रीड़ा-परिणत गज-घन ,
वातायन से मन्द स्तनित कर देता कवि सन्देश आर्द्र-स्वन !
अब भी अलकें उठा देखतीं ग्राम-वधू उस को सरल-नयन ,
शुभ्र बालकों के दल नभ में कल-ध्वनि भर करते अभिवादन !

* * *

आज जीवनोदधि के तट पर खड़ा अवांछित, क्षुब्ध, उपेक्षित ,
देख रहा मैं क्षुद्र अहं की शिखर लहरियों का रण कुत्सित !

सोच रहा, किस के गौरव से मेरा यह अन्तर-जग निर्मित ,
लगता तब, हे प्रिय हिमाद्रि, तुम मेरे शिक्षक रहे अपरिचित !

और, पूछता मैं मन से, क्या यह धरती रह सकती जीवित
जो तुम स्वर्गिक गरिमा भू पर बरसाते रहते न अपरिमित !
शिखर-शिखर ऊपर उठ तुमने मानव आत्मा कर दी ज्योतित ,
हे असीम आत्मानुभूति में लीन ज्योति-शृंगों के भूभृत् !

घनीभूत अध्यात्म-तत्त्व से, जिस से ज्योति-सरित शत निःसृत ,
प्राणों की हरियाली से स्मित पृथ्वी तुम से महिमा-मंडित !
संग-सौध से चिर-शोभा के नाग-दन्त शृंगों से कल्पित ,
स्वर्ग-खंड तुम इस वसुधा पर, पुण्य-तीर्थ हे देव प्रतिष्ठित !

सावन

झम-झम झम-झम मेघ बरसते हैं सावन के ,
छम-छम-छम गिरतीं बूँदें तरुओं से छन के !
चम-चम बिजली चमक रही रे उर में घन के ,
थम-थम दिन के तम में सपने जगते मन के !

ऐसे पागल बादल बरसे नहीं धरा पर ,
जल फुहार बौछारें धारें गिरतीं झर-झर !
आँधी हर-हर करती, दल मर्मर, तरु चर चर ,
दिन रजनी औ' पाख बिना तारे-शशि-दिनकर !

पंखों से रे, फैले-फले ताड़ों के दल ,
लम्बी लम्बी अंगुलियाँ हैं, चौड़े करतल !
तड़-तड़ पड़ती धार वारि की उन पर चंचल ,
टप-टप झरतीं कर मुख से जल बूँदें झलमल !

नाच रहे पागल हो ताली दे-दे चलदल,
झूम-झूम सिर नीम हिलातीं सुख से विह्वल !
हरसिंगार झरते, बेला-कलि बढ़ती पल-पल,
हँसमुख हरियाली में खग-कुल गाते मंगल !

दादुर टर-टर करते, झिल्ली बजतीं झन-झन,
म्याँउ-म्याँउ रे मोर, पीउ-पिउ चातक के गण !
उड़ते सोन-बलाक आर्द्र सुख से कर क्रन्दन,
घुमड़-घुमड़ घिर मेघ गगन में भरते गर्जन !

वर्षा के प्रिय स्वर उर में बुनते सम्मोहन,
प्रणयातुर शत कीट-विहग करते सुख-गायन !
मेघों का कोमल तम श्यामल अरुओं से छन !
मन में भू की अलस लालसा भरता गोपन !

रिमझिम-रिमझिम क्या कुछ कहते बूँदों के स्वर,
रोम सिहर उठते, छूते वे भीतर अन्तर !
धाराओं पर धाराएँ झरतीं धरती पर,
रज के कण-कण में तृण-तृण की पुलकावलि भर !

पकड़ वारि की धार झूलता है मेरा मन,
आओ रे सब मुझे घेर कर गाओ सावन !
इन्द्र-धनुष के झूले में झूलें मिल सब जन,
फिर-फिर आये जीवन में सावन मन-भावन !

मर्म-कथा

बाँध दिये क्यों प्राण
प्राणों से !
तुमने चिर अनजान
प्राणों से !

गोपन रह न सकेगी
  अब यह मर्म-कथा ,
प्राणों की न रुकेगी
  बढ़ती विरह-व्यथा ,
विवश, फूटते गान ,
        प्राणों से ।
        यह विदेह प्राणों का बन्धन ,
        अन्तर्ज्वाला में तपता तन !
        मुग्ध हृदय, सौन्दर्य ज्योति को
        दग्ध कामना करता अर्पण !
        नहीं चाहता जो कुछ भी आदान
                प्राणों से !
        बाँध दिये क्यों प्राण
                प्राणों से !

मर्म व्यथा

प्राणों में चिर-व्यथा बाँध दी !
क्यों चिर-दग्ध हृदय को तुमने
  वृथा प्रणय की अमर साध दी !

पर्वत को जल, दारु को अनल ,
वारिद को दी विद्युत चंचल ,
फूल को सुरभि, सुरभि को विकल
  उड़ने की इच्छा अबाध दी !
    हृदय दहन रे हृदय दहन ,
    प्राणों की व्याकुल व्यथा गहन !
    यह सुलगेगी, होगी न सहन ,
    चिर-स्मृति की श्वास-समीर साथ दी !

प्राण गलेंगे, देह जलेगी ,
मर्म-व्यथा की कथा ढलेगी ,
सोने-सी तप के, निकलेगी
प्रेयसि प्रतिमा, ममता अगाध दी !
प्राणों में चिर व्यथा बाँध दी !

युग-विषाद

गरज रहा उर व्यथा-भार से
गीत बन रहा रोदन ,
आज तुम्हारी करुणा के हित
कातर धरती का मन !
मौन प्रार्थना करता अन्तर
मर्म कामना भरती मर्मर ,
युग-सन्ध्या : जीवन - विषाद से
आहत विश्व समीरण !
जलता मन मेघों का-सा घर
स्वप्नों की ज्वाला लिपटा कर ,
दूर, क्षितिज के पार दीखती
रेख क्षितिज की नूतन !

बढ़ते अगणित चरण निरन्तर
दुर्दम आकांक्षा के पग धर ,
खुलता बाहर तम-कपाट ,
भीतर प्रकाश का तोरण !
श्रान्त, रक्त से लथपथ जन मन ,
नव-प्रभात का यह स्वर्णिम क्षण ,

युग-युग का खँडहर जग करता
अभिनव शोभा धारण !

गीत विहग

मैं नव-मानवता का सन्देश सुनाता ,
स्वाधीन देश की गौरव-गाथा गाता ;
मैं मनःक्षितिज के पार मौन-शाश्वत की
प्रज्वलित भूमि का ज्योतिवाह बन आता ।
युग के खँडहर पर डाल सुनहली छाया
मैं नव-प्रभात के नभ में उठ, मुसकाता ;
जीवन-पतझर में जन-मन की डालों पर
मैं नव-मधु के ज्वाला-पल्लव सुलगाता !

आदेशों से उद्वेलित जन सागर में
नव स्वप्नों के शिखरों का ज्वार उठाता ;
जब शिशिर-क्रान्त, वन-रोदन करता भू-मन ,
युग-पिक बन प्राणों का पावक बरसाता !
मिट्टी के पैरों से भव-क्लान्त जनों को
स्वप्नों के चरणों पर चलना सिखलाता ;
तापों की छाया से कलुषित अन्तर को
उन्मुक्त-प्रकृति का शोभा-वक्ष दिखाता !
जीवन-मन के भेदों में सोयी मति को
मैं आत्म-एकता में अनिमेष जगाता ;
तम-पंगु बहिर्मुख जग में बिखरे मन को
मैं अन्तर सोपानों पर ऊर्ध्व चढ़ाता !
आदर्शों के मरु-जल से दग्ध मृगों को
मैं स्वर्गंगा-स्मित अन्तर्पथ बतलाता ,

जन-जन को नव-मानवता में जाग्रत कर
मैं मुक्त-कंठ जीवन-रण शंख बजाता !

मैं गीत-विहग, निज मर्त्य-नीड़ से उड़ कर
चेतना-गगन में मन के पर फैलाता ,
मैं अपने अन्तर का प्रकाश बरसा कर
जीवन के तम को स्वर्णिम कर नहलाता !
मैं स्वर्दूतों को बाँध मनोभावों में ,
जन-जीवन का नित उन को अंग बनाता ,
मैं मानव-प्रेमी, नव-भू-स्वर्ग बसा कर
जन-धरणी पर देवों का विभव लुटाता !

मैं जन्म-मरण के द्वारों से बाहर कर
मानव को उस का अमरासन दे जाता ,
मैं दिव्य-चेतना का सन्देश सुनाता ,
स्वाधीन भूमि का नव्य जागरण गाता ।

——

महादेवी वर्मा

विहाग

वनमाला के गीतों-सा
निर्जन में बिखरा है मधुमास ,
इन कुंजों में खोज रहा है
सूना कोना मन्द बतास ;

नीरव नभ के नयनों पर
हिलती हैं रजनी की अलकें ,
जाने किस का पन्थ देखतीं
बिछ कर फूलों की पलकें !

मधुर चाँदनी धो जाती है
खाली कलियों के प्याले ,
बिखरे से हैं तार आज
मेरी वीणा के मतवाले ;

पहली-सी झंकार नहीं है
और नहीं वह मादक राग ,
अतिथि ! किन्तु सुनते जाओ
टूटे तारों का करुण विहाग !

——

संसार

निश्वासों का नीड़, निशा का
बन जाता जब शयनागार ,
लुट जाते अभिराम छिन्न
मुक्तावलियों के बन्दनवार ,
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार ,
आँसू से लिख लिख जाता है 'कितना अस्थिर है संसार ।'

हँस देता जब प्रात सुनहरे
अंचल में बिखरा रोली,
लहरों की बिछलन पर जब
मचली पड़ती किरणें भोली,
तब कलियाँ चुपचाप उठा कर पल्लव के घूँघट सुकुमार,
छलकी पलकों से कहतीं हैं, 'कितना मादक है ससार।'

देकर सौरभ-दान पवन से
कहते जब मुरझाये फूल,
"जिसके पथ में बिछे वही
क्यों भरता इन आँखों में धूल!"
"अब इन में क्या सार!" मधुर जब गाती भौंरों की गुञ्जार,
मर्मर का रोदन कहता है 'कितना निष्ठुर है संसार!'

स्वर्ण-वर्ण से दिन लिख जाता
जब अपने जीवन की हार,
गोधूली नभ के आँगन में
देती अगणित दीपक वार,
हस कर तब उस पार तिमिर का कहता बढ़-बढ़ पारावार,
"बीते युग, पर बना हुआ है अब तक मतवाला संसार।"

स्वप्नलोक के फूलों से कर
अपने जीवन का निर्माण,
"अमर हमारा राज्य" सोचते
हैं जब मेरे पागल प्राण,
आ कर तब अज्ञात देश से जाने किस की मृदु झंकार,
गा जाती है करुण स्वरों में "कितना पागल है संसार।"

———

इस एक बूँद आँसू में

इस एक बूँद आँसू में
चाहे साम्राज्य बहा दो,
वरदानों की वर्षा से
यह सूनापन बिखरा दो;

इच्छाओं की कम्पन से
सोता एकान्त जगा दो,
आशा की मुस्काहट पर
मेरा नैराश्य लुटा दो!

चाहे जर्जर तारों में
अपना मानस उलझा दो,
इन पलकों के प्यालों में
सुख का आसव छलका दो;

मेरे बिखरे प्राणों में
सारी करुणा ढुलका दो,
मेरी छोटी सीमा में
अपना अस्तित्व मिटा दो!

पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा,
तुम को पीड़ा में ढूँढा
तुम में ढूँढूँगी पीड़ा!

——

खोज

जिस दिन नीरव तारों से, बोलीं किरणों की अलकें,
"सो जाओ अलसायी हैं, सुकुमार तुम्हारी पलकें।"

जब इन फूलों पर मधु की पहली बूँदें बिखरी थीं,
आँखें पंकज की देखीं रवि ने मनुहार-भरीं-सीं,

दीपकमय कर डाला जब जल कर पतंग ने जीवन,
सीखा बालक मेघों ने नभ के आँगन में रोदन,

उजियारी अवगुंठन में विधु ने रजनी को देखा,
तब से मैं ढूँढ़ रही हूँ उन के चरणों की रेखा!

मैं फूलों में रोती वे बालारुण में मुस्काते,
मैं पथ में बिछ जाती हूँ वे सौरभ में उड़ जाते!

वे कहते हैं उन को मैं अपनी पुतली में देखूँ,
यह कौन बता जायेगा किस में पुतली को देखूँ?

मेरी पलकों पर रातें बरसा कर मोती सारे,
कहतीं "क्या देख रहे हैं अविराम तुम्हारे तारे?"

तम ने इन पर अंजन से बुन-बुन कर चादर तानी,
इन पर प्रभात ने फेरा आ कर सोने का पानी।

इन पर सौरभ की साँसें लुट-लुट जातीं दीवानी,
यह पानी में बैठी है बन स्वप्न लोक की रानी!

कितनी बीतीं पतझारें कितने मधु के दिन आये,
मेरी मधुमय पीड़ा को कोई पर ढूँढ़ न पाये!

झिप-झिप आँखें कहती हैं "यह कैसी है अनहोनी ?
हम और नहीं खेलेंगी उन से यह आँखमिचौनी !"

अपने जर्जर अंचल में भर कर सपनों की माया,
इन थके हुए प्राणों पर छायी विस्मृति की छाया !

मेरे जीवन की जागृति ! देखो फिर भूल न जाना,
जो वे सपना बन आवें तुम चिरनिद्रा बन जाना !

मेरी भूल

जिन चरणों पर देव लुटाते थे अपने अमरों के लोक,
नखचन्द्रों की कान्ति लजाती थी नक्षत्रों के आलोक ;

रवि-शशि जिन पर चढ़ा रहे थे अपनी आभा अपना राज,
जिन चरणों पर लोट रहे थे सारे सुख-सुषमा के साज ।

जिन की रज धो-धो जाता था मेघों का मोती-सा नीर,
जिन की छवि अंकित कर लेता नभ अपना अन्तस्तल चीर ;

मैं भी भर झीने जीवन में इच्छाओं के रुदन अपार,
जला वेदनाओं के दीपक आयी उस मन्दिर के द्वार !

क्या देता मेरा सूनापन उन के चरणों को उपहार ?
बेसुध-सी मैं धर आयी उन पर अपने जीवन की हार !

मधुमाते हो विहँस रहे थे जो नन्दन-कानन के फूल,
हीरक बन कर चमक गयी उन के अञ्चल में मेरी भूल !

जो तुम आजाते एक बार

जो तुम आ जाते एक बार !
कितनी करुणा कितने सँदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग ,
गाता प्राणों का तार-तार
अनुराग-भरा उन्माद-राग ;
आँसू लेते वे पद पखार !

हँस उठते पल में आर्द्र नयन
धुल जाता ओठों से विषाद ,
छा जाता जीवन में वसन्त
लुट जाता चिर-संचित विराग ;
आँखें देती सर्वस्व वार !

मेरा पता

स्मित तुम्हारे से छलक यह ज्योत्स्ना अम्लान ,
जान कब पायी हुआ उस का कहाँ निर्माण !
अचल पलकों में जड़ी-सी तारकाएँ दीन ,
ढूँढ़तीं अपना पता विस्मित निमेष-विहीन !
गगन जो तेरे विशद अवसाद का आभास ,
पूछता "किसने दिया यह नीलिमा का न्यास !"
निठुर क्यों फैला दिया यह उलझनों का जाल ,
आप अपने को जहाँ सब ढूँढ़ते बेहाल !
काल-सीमा-हीन सूने में रहस्यनिधान !
मूर्तिमत् कर वेदना तुमने गढ़े जो प्राण ,

धूलि के कण में उन्हें बन्दी बना अभिराम,
पूछते हो अब अपरिचित से उन्हीं का नाम!
पूछता क्या दीप है आलोक का आवास?
सिन्धु को कब खोजने लहरें उड़ी आकाश!
धड़कनों से पूछता है क्या हृदय पहचान?
क्या कभी कलिका रही मकरन्द से अनजान?
क्या पता देते घनों को वारि-बिन्दु असार?
क्या नहीं दृग जानते निज आँसुओं का भार?
चाह की मृदु उँगलियों ने छू हृदय के तार,
जो तुम्हीं में छेड़ दी मैं हूँ वही झंकार!
नींद के नभ में तुम्हारे स्वप्न पावस-काल,
आँकता जिस को वही मैं इन्द्रधनु हूँ बाल!
तृप्ति-प्याले में तुम्हीं ने साध का मधु घोल,
है जिसे छलका दिया मैं वही बिन्दु अमोल!
तोड़ कर वह मुकुर जिस में रूप करता लास,
पूछता आधार क्या प्रतिबिम्ब का आवास?
उर्म्मियों में झूलता राकेश का आभास;
दूर हो कर क्या नहीं है इन्दु के ही पास?
इन हमारे आँसुओं में बरसते सविलास—
जानते हो क्या नहीं किसके तरल उच्छ्वास?
इस हमारी खोज में इस वेदना में मौन,
जानते हो खोजता है पूर्ति अपनी कौन?
यह हमारे अन्त उपक्रम यह पराजय जीत,
क्या नहीं रचता तुम्हारी साँस का संगीत?
पूछते फिर किस लिए मेरा पता बेपीर!
हृदय की धड़कन मिली है क्या हृदय को चीर?

———

वह कौन

कुमुद-दल से वेदना के दाग को
पोंछती जब आँसुओं से रश्मियाँ,
चौंक उठतीं अनिल के निश्वास छू
तारिकाएँ चकित-सी अनजान-सी ;
तब बुला जाता मुझे उस पार जो
दूर के संगीत-सा वह कौन है ?

शून्य नभ पर उमड़ जब दुखभार-सी
नैश तम में, सघन छा जाती घटा,
बिखर जाती जुगनुओं की पाँति भी
जब सुनहले आँसुओं के हार-सी,
तब चमक जो लोचनों को मूँदता
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है ?

अवनि-अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता,
तैरते घन मृदुल हिम के पुंज से
ज्योत्स्ना के रजत-पारावार में ;
सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे
नींद के उच्छ्वास-सा, वह कौन है ?

जब कपोल-गुलाब, पर शिशु प्रात के
सूखते नक्षत्र-जल के बिन्दु से,
रश्मियों की कनक-धारा में नहा
मुकुल हँसते मोतियों का अर्घ्य दे,
स्वप्न-शाला में यवनिका डाल जो
तब दृगों को खोलता वह कौन है ?

——

तुम और मैं

तुम हो विधु के बिम्ब और मैं मुग्धा रश्मि अजान ,
जिसे खींच लाते अस्थिर कर कौतूहल के बाण !

कलियों के मृदु प्यालों से जो करती मधुमद-पान ,
झाँक, जला देती नीड़ों में दीपक-सी मुस्कान !

लोल तरंगों के तालों पर करती बेसुध लास ,
फैलाती तम के रहस्य पर आलिंगन का पाश ;

ओस-धुले पथ में छिप तेरा जब आता आह्वान ,
भूल अधूरा खेल तुम्हीं में होती अन्तर्धान !

तुम अनन्त जलराशि ऊर्म्मि मैं चंचल-सी अवदात ,
अनिल-निपीड़ित जा गिरती जो कूलों पर अज्ञात ;

हिम-शीतल अधरों से छू कर तप्त कणों की प्यास ,
बिखराती मंजुल मोती से बुद्बुद् में उल्लास ;

देख तुम्हें निस्तब्ध निशा में करते अनुसन्धान ,
श्रान्त तुम्हीं में सो जाते जा जिस के बालक-प्राण !

तुम परिचित ऋतुराज मूक मैं मधु-श्री कोमल-गात ,
अभिमन्त्रित कर जिसे सुलाती आ तुषार की रात ;

पीत पल्लवों में सुन तेरी पदध्वनि उठती जाग ,
फूट-फूट पड़ता किसलय मिस चिर-संचित अनुराग ;

मुखरित कर देता मानस-पिक तेरा चितवन प्रात ,
छू मादक निश्वास पुलक—उठते रोओं - से पात !

फूलों में मधु से लिखती जो मधु-घड़ियों के नाम ,
भर देती प्रभात का अंचल सौरभ से बिन दाम ;

'मधु जाता अलि' जब कह जाती आ सन्तप्त बयार ,
मिल तुझमें उड़ जाता जिस का जागृति का संसार !

स्वर लहरी में मधुर स्वप्न की तुम निद्रा के तार ,
जिस में होता इस जीवन का उपक्रम उपसंहार ;

पलकों से पलकों पर उड़ कर तितली-सी अम्लान ,
निद्रित जग पर बुन देती जो लय का एक वितान ;

मानस-दोलों में सोती शिशु इच्छाएँ अनजान ,
उन्हें उड़ा देती नभ में दे द्रुत पंखों का दान !

जिस की साँसें छू हो जाता छाया-जग वपुमान ,
शून्य निशा में भटके फिरते सुधि के मधुर विहान ;

इन्द्रधनुष के रँगों से भर धुँधले चित्र अपार ,
देती रहती चिर रहस्यमय भावों को आकार !

जब अपना संगीत सुलाते थक वीणा के तार ,
घुल जाता उस का प्रभात के कुहरे-सा संसार !

तुम असीम विस्तार ज्योति के मैं तारक सुकुमार ,
तेरी रेखा-रूप-हीनता है जिस में साकार !

फूलों पर नीरव रजनी के शून्य पलों के भार ,
पानी करते रहते जिस के मोती के उपहार ;

जब समीर-यानों पर उड़ते मेघों के लघु बाल ,
उन के पथ पर जो बुन देता मृदु आभा के जाल ;

जो रहता तम के मानस में ज्यों पीड़ा का दाग ,
आलोकित करता दीपक-सा अन्तर्हित अनुराग !

जब प्रभात में मिट जाता छाया का कारागार ,
मिल दिन में असीम हो जाता जिस का लघु आकार !

मैं तुम से हूँ एक, एक हैं जैसे रश्मि-प्रकाश ,
मैं तुम से हूँ भिन्न-भिन्न ज्यों घन से तड़ित्-विलास ;

मुझे बाँधने आते हो लघु सीमा में चुपचाप ,
कर पाओगे भिन्न कभी क्या ज्वाला से उत्ताप ?

——

पपीहे से

जिस को अनुराग-सा दान दिया ,
उस से कण माँग लजाता नहीं ;
अपनापन भूल समाधि लगा ,
यह पी का विहाग भुलाता नहीं ;
नभ देख पयोधर श्याम घिरा ,
मिट क्यों उस में मिल जाता नहीं ?
वह कौन-सा पी है पपीहा तेरा ,
जिसे बाँध हृदय में बसाता नहीं ?
उस को अपना करुणा से भरा ,
उर-सागर क्यों दिखलाता नहीं ?
संयोग-वियोग की घाटियों में ,
नव-नेह में बाँध झुलाता नहीं ;
सन्ताप के संचित आँसुओं से ,
नहला के उसे तू धुलाता नहीं ;
अपने तम-श्यामल पाहुन को ,
पुतली की निशा में सुलाता नहीं ।
कभी देख पतंग को जो दुख से
निज, दीपशिखा को रुलाता नहीं ;
मिल ले उस मीन से जो जल की ,
निठुराई विलाप में गाता नहीं ;

कुछ सीख चकोर से जो चुगता
अंगार, किसी को सुनाता नहीं ;
अब सीख ले मौन का मन्त्र नया ,
यह पी-पी घनों को सुहाता नहीं !

वसन्त-रजनी

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त-रजनी !

तारकमय नव-वेणी-बन्धन ,
शीश-फूल कर शशि का नूतन ,
रश्मि-वलय सित घन-अवगुंठन ,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी !
पुलकती आ वसन्त-रजनी !

मर्मर की सुमधुर नूपुर-ध्वनि ,
अलि-गुंजित पद्मों की किंकिणि ,
भर पद-गति में अलस-तरंगिणि ,
तरल रजत की धार बहा दे, मृदु स्मित से सजनी !
विहँसती आ वसन्त-रजनी !

पुलकित स्वप्नों की रोमावलि ,
कर में हो स्मृतियों की अंजलि ,
मलयानिल का चल-दुकूल अलि !
घिर छाया-सी श्याम, विश्व को आ अभिसार बनी !
सकुचती आ वसन्त-रजनी !

सिहर-सिहर उठता सरिता-उर ,
खुल-खुल पड़ते सुमन सुधा-भर ,
मचल-मचल आते पल फिर-फिर ,
सुन प्रिय की पद-चाप हो गयी पुलकित यह अवनी !
सिहरती आ वसन्त-रजनी !

——

जीवन विरह का जलजात

विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात !

वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास ;
अश्रु चुनता दिवस इस का अश्रु गिनती रात !
जीवन विरह का जलजात !

आँसुओं का कोष उर, दृग अश्रु की टकसाल ;
तरल जल-कण से बने घन-सा क्षणिक मृदुगात !
जीवन विरह का जलजात !

अश्रु से मधुकण लुटाता आ यहाँ मधुमास ;
अश्रु ही की हाट बन आती करुण बरसात !
जीवन विरह का जलजात !

काल इस को दे गया पल-आँसुओं का हार ;
पूछता इस की कथा निश्वास ही में वात ।
जीवन विरह का जलजात !
जो तुम्हारा हो सके लीला कमल यह आज ,
खिल उठे निरुपम तुम्हारी देख स्मित का प्रात !
जीवन विरह का जलजात !

——

बीन भी हूँ मैं

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ !

नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण-कण में,
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में;
प्रलय में मेरा पता पदचिह्न जीवन में,
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में;
कूल भी हूँ कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ !

नयन में जिस के जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ;
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ,
एक हो कर दूर तन से छाँह वह चल हूँ;
दूर तुम से हूँ अखंड सुहागिनी भी हूँ !

आग हूँ जिस से ढुलकते बिन्दु हिमजल के,
शून्य हूँ जिस को बिछे हैं पावड़े पल के;
पुलक हूँ वह जो पला है कठिन प्रस्तर में,
हूँ वही प्रतिबिम्ब जो आधार के उर में;
नील-घन भी हूँ सुनहली दामिनी भी हूँ !

नाश भी हूँ मैं अनन्त विकास का क्रम भी,
त्याग का दिन भी चरम आसक्ति का तम भी;
तार भी आघात भी झंकार की गति भी,
पात्र भी मधु भी मधुप भी मधुर विस्मृति भी;
अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ !

रूपसि तेरा घन केश-पाश

रूपसि तेरा घन केश-पाश !
श्यामल श्यामल कोमल-कोमल, लहराता सुरभित केश-पाश !

नभगङ्गा की रजत-धार में
धो आयी क्या इन्हें रात ?
कम्पित हैं तेरे सजल अंग,
सिहरा-सा तन है सद्यस्नात !
भीगी अलकों के छोरों से चूतीं बूँदें कर विविध लास !

सौरभ भीना-झीना गीला
लिपटा मृदु अंजन-सा दुकूल,
चल अंचल से झर-झर झरते
पथ में जुगनू के स्वर्ण-फूल,
दीपक से देता बार-बार तेरा उज्वल चितवन-विलास !

उच्छ्वसित वक्ष पर चंचल है
वक-पातों का अरविन्द-हार,
तेरी निश्वासें छू भू को
बन-बन जातीं मलयज-बयार,
केकी-रव की नूपुर-ध्वनि सुन जगती जगती की मूक प्यास !

इन स्निग्ध लटों से छा दे तन
पुलकित अंकों में भर विशाल,
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से
अङ्कित कर इसका मृदुल भाल,
दुलरा देना बहला देना यह तेरा शिशु जग है उदास !
रूपसि तेरा घन केश-पाश !

परिचय

तुम मुझ में प्रिय ! फिर परिचय क्या !

तारक में छवि प्राणों में स्मृति,
पलकों में नीरव पद की गति,
लघु उर में पुलकों की संसृति,

भर लायी हूँ तेरी चंचल
और करूँ जग में संचय क्या ?

तेरा मुख सहास अरुणोदय,
परछाईं रजनी विषादमय,
यह जागृति वह नींद स्वप्नमय,

खेल-खेल थक-थक सोने दो,
मैं समझूँगी सृष्टि-प्रलय क्या !

तेरा अधर-विचुम्बित प्याला,
तेरी ही स्मित मिश्रित हाला,
तेरा ही मानस मधुशाला,

फिर पूछूँ क्या मेरे साकी !
देते हो मधुमय-विषमय क्या ?

रोम-रोम में नन्दन पुलकित,
साँस-साँस में जीवन शत-शत,
स्वप्न-स्वप्न में विश्व अपरिचित,

मुझ में नित बनते-मिटते प्रिय !
स्वर्ग मुझे क्या निष्क्रिय लय क्या ?

हारूँ तो खोऊँ अपनापन,
पाऊँ प्रियतम में निर्वासन,
जीत बनूँ तेरा ही बन्धन,

भर लाऊँ सीपी में सागर
प्रिय ! मेरी अब हार-विजय क्या ?

चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर-संगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम,

काया-छाया में रहस्यमय !
प्रेयसि-प्रियतम का अभिनय क्या !

पिक, हौले-हौले बोल

मुखर पिक, हौले-हौले बोल !
हठीले हौले-हौले बोल !
जाग लुटा देंगी मधुप कलियाँ मधुप कहेंगे, 'और',
चौंक गिरेंगे पीले पल्लव अम्ब चलेंगे मौर,
समीरण मत्त उठेगा डोल !
हठीले हौले-हौले बोल !

मर्मर की वंशी में गूँजेगा मधु-ऋतु का प्यार ;
झर जावेगा कम्पित तृण से लघु-सपना सुकुमार ;
एक लघु आँसू बन बेमोल !
हठीले हौले-हौले बोल !

"आता कौन" नीड़ तज पूछेगा विहगों का रोर ;
दिग्वधुओं के घन-घूँघट के चंचल होंगे छोर ;
पुलक से होंगे सजल कपोल !
हठीले हौले-हौले बोल !

प्रिय मेरा निशीथ नीरवता में आता चुप-चाप ,
मेरे निमिषों से भी नीरव है उस की पद-चाप ;
सुभग ! यह पल घड़ियाँ अनमोल !
हठीले हौले-हौले बोल !

वह सपना बन-बन आता जागृति में जाता लौट ;
मेरे श्रवण आज बैठे हैं इन पलकों की ओट ;

व्यर्थ मत कानों में मधु घोल !
हठीले हौले-हौले बोल !

भर पावे तो स्वर-लहरी में भर वह करुण हिलोर ;
मेरा उर तज वह छिपने का ठौर न ढूँढ़े भोर ;
उसे बाँधू फिर पलकें खोल !
हठीले हौले-हौले बोल !

ओ विभावरी

ओ विभावरी !
चाँदनी का अङ्गराग ,
माँग में सजा पराग ,
रश्मि-तार बाँध मृदुल चिकुर-भार री !
ओ विभावरी !
अनिल घूम देश-देश ,
लाया प्रिय का सँदेश ,
मोतियों के सुमन-कोष वार-वार री !
ओ विभावरी !
ले कर मृदु ऊर्म्मिबीन ,
कुछ मधुर करुण नवीन ,
प्रिय की पदचाप-मदिर गा मलार री !
ओ विभावरी !
बहने दे तिमिर भार ,
बुझने दे यह अँगार ,
पहिन सुरभि का दुकूल वकुलहार री !
ओ विभावरी !

जिस ने दुख पाला हो

प्रिय ! जिसने दुख पाला हो !
जिन प्राणों से लिपटी हो
पीड़ा सुरभित चन्दन सी,
तूफानों की छाया हो,
जिस को प्रिय-आलिंगन सी,
जिस को जीवन की हारें
हों जय के अभिनन्दन सी,
वर दो यह मेरा आँसू उस के उर की माला हो !
जो उजियाला देता हो
जल-जल अपनी ज्वाला में,
अपना सुख बाँट दिया हो
जिसने इस मधुशाला में,
हँस हालाहल ढाला हो
अपनी मधु की हाला में,
मेरी साधों से निर्मित उन अधरों का प्याला हो !

मैं हूँ एक पहेली भी

प्रिय ! मैं हूँ एक पहेली भी !
जितना मधु, जितना मधुर हास,
जितना मद तेरी चितवन में,
जितना क्रन्दन, जितना विषाद,
जितना विष जग के स्पन्दन में,
पी-पी मैं चिर-दुख-प्यास बनी सुख-सरिता की रँगरेली भी !

मेरे प्रतिरोमों से अविरत
झरते हैं निर्झर और आग,
करतीं विरक्ति-आसक्ति प्यार,
मेरे श्वासों में जाग-जाग;
प्रिय मैं सीमा की गोद पली पर हूँ असीम से खेली भी!

——

नयन बनेंगे आरती

प्रिय मेरे गीले नयन बनेंगे आरती!
श्वासों में सपने कर गुम्फित,
वन्दनवार वेदना-चर्चित,
भर दुख से जीवन का घट नित,
मूक क्षणों में मधुर भरूँगी भारती!
दृग मेरे ये दीपक झिलमिल,
भर आँसू का स्नेह रहा ढुल,
सुधि तेरी अविराम रही जल,
पद-ध्वनि पर आलोक रहूँगी वारती!
यह लो प्रिय! निधियोंमय जीवन,
जग की अक्षय स्मृतियों का धन,
सुख-सोना करुणा हीरक-कण,
तुम से जीता आज तुम्हीं को हारती!

——

शून्य मन्दिर में बनूँगी

शून्य मन्दिर में बनूँगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी!
अर्चना हों शूल भोले,
क्षार दृग-जल अर्घ्य हो ले,
आज करुणा-स्नात उजला दुःख हो मेरा पुजारी!

नूपुरों का मूक छूना ,
सरव कर दे विश्व सूना ,
यह अगम आकाश उतरे कम्पनों का हो भिखारी !
लोल तारक भी अचंचल ,
चल न मेरा एक कुन्तल ,
अचल रोमों में समायी मुग्ध हो गति आज सारी !
राग-मद की दूर लाली ,
साध भी इस में न पाली ,
शून्य चितवन में बसेगी मूक हो गाथा तुम्हारी !

शलभ मैं शापमय वर हूँ

शलभ मैं शापमय वर हूँ !
किसी का दीप निष्ठुर हूँ !
ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ श्रृंगारमाला ;
ज्वाल अक्षय कोष-सी
अङ्गार मेरी रंगशाला ;
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ !
नयन में रह किन्तु जलती
पुतलियाँ आगार होंगी ;
प्राण मैं कैसे बताऊँ
कठिन अग्नि-समाधि होगी ;
फिर कहाँ पालूँ तुझे मैं मृत्यु-मन्दिर हूँ !
हो रहे झर कर दृगों से
अग्नि-कण भी क्षार शीतल ;
पिघलते उर से निकल
निश्वास बनते धूम श्यामल ;

एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ !
कौन आया था न जाना
स्वप्न में मुझ को जगाने ;
याद में उन अँगुलियों के
हैं मुझे पर युग बिताने ;
रात के उर में दिवस की चाह का शर हूँ !
शून्य मेरा जन्म था
अवसान है मुझ को सवेरा ;
प्राण आकुल के लिए
सङ्गी मिला केवल अँधेरा ;
मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ !

ओ अरुण-वसना

ओ अरुण-वसना !
तारकित नभ-सेज से वे
रश्मि-अप्सरियाँ जगातीं ;
अगरु गन्ध बयार ला-ला
विकच अलकों को बसाती !
रात के मोती हुए पानी हँसी तू मुकुल-दशना !
छू मृदुल जावक-रचे पद
हो गये सित मेघ-पाटल ;
विश्व की रोमावली
आलोक अंकुर-सी उठी जल !
बाँधने प्रतिध्वनि बढ़ीं लहरें बजी जब मधुप-रशना !
बन्धनों का रूप तम ने
रात भर रो रो मिटाया ,

देखना तेरा क्षणिक फिर
अमिट सीमा बाँध आया !
दृष्टि का निक्षेप है बस रूप-रंगों का बरसना !
है युगों की साधना से
प्राण का क्रन्दन सुलाया,
आज लघु जीवन किसी
निःसीम प्रियतम में समाया !
राग छलकाती हुई तू आज इस पथ में न हँसना !
ओ अरुण-वसना !

मैं नीर-भरी दुख की बदली

मैं नीर-भरी दुख की बदली !
स्पन्दन में चिर-निस्पन्द बसा,
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली
मेरा पग-पग संगीत-भरा,
श्वासों से स्वप्न-पराग झरा,
नभ के नव रँग बुनते दुकूल,
छाया में मलय-बयार पली !
मैं क्षितिज-भ्रकुटि पर घिर धूमिल,
चिन्ता का भार बनी अविरल,
रज-कण पर जल-कण हो बरसी
नवजीवन-अंकुर बन निकली
पथ को न मलिन करता आना,
पद-चिह्न न दे जाता जाना,
सुधि मेरे आगम की जग में
सुख की सिरहन हो अन्त खिली !

विस्तृत नभ का कोई कोना ,
मेरा न कभी अपना होना ,
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली !

हुए शूल अक्षत

हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चन्दन !
अगरु-धूम-सी साँस सुधि-गन्ध-सुरभित ,
बनी स्नेह-लौ आरती चिर-अकम्पित ,
हुआ नयन का नीर अभिषेक-जल-कण !
सुनहले सजीले रँगीले धबीले ,
हसित कंटकित अश्रु-मकरन्द-गीले ,
बिखरते रहे स्वप्न के फूल अनगिन !
असित-श्वेत गन्धर्व जो सृष्टि-लय के ,
दृगों को पुरातन अपरिचित हृदय के ,
सजग यह पुजारी मिले रात औ' दिन !
परिधिहीन रंगों भरा व्योम-मन्दिर ,
चरण-पीठ भू का व्यथासिक्त मृदु उर ,
ध्वनित सिन्धु में है रजत-शंख का स्वन।
कहो मत प्रलय द्वार पर रोक लेगा ,
वरद मैं मुझे कौन वरदान देगा !
हुआ कब सुरभि के लिए फूल बन्धन !
व्यथा प्राण हूँ नित्य सुख का पता मैं ,
धुला ज्वाल से मोम का देवता मैं ,
सृजनश्वास हो क्यों गिनूँ नाश के क्षण !

जीवन-बाल

तू धूल-भरा ही आया !
ओ चंचल जीवन-बाल ! मृत्यु-जननी ने अङ्क लगाया !

साधों ने पथ के कण मदिरा से सींचे ,
झंझा आँधी ने फिर-फिर आ दृग मींचे ,
आलोक-तिमिर ने क्षण का कुहक बिछाया !

अङ्गार-खिलौनों का था मन अनुरागी ,
पर रोमों में हिम-जड़ित अवशता जागी ,
शत-शत प्यासों की चली लुभाती छाया !

गाढ़े विषाद ने अङ्ग कर दिये पंकिल ,
बिंध गये पगों में शूल व्यथा के दुर्मिल ,
कर क्षार साँस ने उर का स्वर्ण उड़ाया !

पाथेय-हीन जब छोड़ गये सब सपने ,
आख्यान-शेष रह गये अङ्क ही अपने ,
तब उस अञ्चल ने दे संकेत बुलाया !

जिस दिन लौटा तू चकित-थकित-सा उन्मन ,
करुणा से उस के भर-भर आये लोचन ,
चितवन छाया में दृग-जल से नहलाया ।

पलकों पर धर-धर अगणित शीतल चुम्बन ,
अपनी साँसों से पोंछ वेदना के क्षण ,
हिम स्निग्ध करों से बेसुध प्राण सुलाया !

नूतन प्रभात में अक्षय गति का वर दे ,
तन सजल घटा-सा तड़ित् छटा-सा उर दे ,
हँस तुझे खेलने फिर जग में पहुँचाया !

तू धूल-भरा जब आया ,
ओ चंचल जीवन बाल ! मृत्यु जननी ने अङ्क लगाया !

मोम-सा तन घुल चुका

मोम-सा तन घुल चुका अब दीप-सा मन जल चुका है !
विरह के रंगीन क्षण ले, अश्रु के कुछ शेष कण ले,
वरुनियों में उलझ बिखरे स्वप्न में सूखे सुमर्न ले,
खोजने फिर शिथिल-पग निश्वास-दूत निकल चुका है !

चल-पलक हैं निर्निमेषी, कल्प-पल सब तिमिरवेषी,
आज स्पन्दन भी हुई उर के लिए अज्ञातदेशी !
चेतना का स्वर्ण जलती वेदना में गल चुका है !

झर चुके तारक-कुसुम जब, रश्मियों के रजत-पल्लव,
सन्धि में आलोक-तम की क्या नहीं नभ जानता तब,
पार से, अज्ञात वासन्ती दिवस-रथ चल चुका है !

खोल कर जो दीप के दृग कह गया 'तन में बढ़ा पग',
देख श्रम-धूमिल उसे करते निशा की साँस जगमग,
क्या न आ कहता वही 'सो, याम अन्तिम ढल चुका है' !

अन्तहीन विभावरी है, पास अंगारक-तरी है,
तिमिर की तटिनी क्षितिज की कूल-रेख डुबा भरी है !
शिथिल कर से सुभग सुधि पतवार आज बिछल चुका है !

अब कहो सन्देश है क्या ? और ज्वाल विशेष है क्या ?
अग्नि-पथ के पार चन्दन-चाँदनी का देश है क्या ?
एक इंगित के लिए शत वार प्राण मचल चुका है !

अपरिचित पथ

पन्थ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला !
घेर ले छाया अमा बन,
आज कज्जल-अश्रुओं में रिमझिमा ले यह घिरा घन,

और होंगे नयन सूखे,
तिल बुझे औ' पलक रूखे,
आर्द्र-चितवन में यहाँ शत-विद्युतों में दीप खेला!
अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते, दे शूल को संकल्प सारे;
दुखव्रती निर्माण-उन्मद;
यह अमरता नापते पद,
बाँध देंगे अंक-संसृति-से तिमिर में स्वर्ण-वेला!
दूसरी होगी कहानी,
शून्य में जिस के मिटे स्वर, धूलि में खोयी निशानी,
आज जिस पर प्रलय विस्मित,
मैं लगाती चल रही नित,
मोतियों की हाट औ' चिनगारियों का एक मेला!
हास का मधु दूत भेजो,
रोष की भ्रू-भंगिमा पतझार को चाहे सहेजो।
ले मिलेगा उर अचंचल,
वेदना-जल, स्वप्न-शतदल,
जान लो वह मिलन-एकाकी विरह में है दुकेला!

मन्दिर-दीप

यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो!

रजत-शंख-घड़ियाल स्वर्ण-वंशी-वीणा-स्वर,
गये आरती-वेला को शत-शत लय से भर;
जब था कलकंठों का मेला,
विहँसे उपल तिमिर था खेला,
अब मन्दिर में इष्ट अकेला,
इसे अजिर का शून्य गलाने को गलने दो!

चरणों से चिह्नित अलिन्द की भूमि सुनहली ,
प्रणत शिरों के अङ्क लिये चन्दन की दहली ,
झरे सुमन बिखरे अक्षत सित ,
धूप-अर्घ्य-नैवेद्य अपरिमित ,
तम में सब होंगे अन्तर्हित ,
सब की अर्चित कथा इसी लौ में पलने दो !

पल के मनके फेर पुजारी विश्व सो गया ,
प्रतिध्वनि का इतिहास प्रस्तरों बीच खो गया ,
साँसों की समाधि-सा जीवन ,
मसि-सागर-सा पन्थ गया बन ,
रुका मुखर कण-कण कर स्पन्दन ,
इस ज्वाला में प्राण-रूप फिर से ढलने दो !

झंझा है दिग्भ्रान्त रात की मूर्च्छा गहरी ,
आज पुजारी बने, ज्योति का यह लघु प्रहरी ,
जब तक लौटे दिन की हलचल ,
तब तक यह जागेगा प्रतिपल ,
रेखाओं में भर आभा-जल ,
दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो !

रामकुमार वर्मा

किरण-कण

एक दीपक किरण-कण हूँ।

धूम्र जिस के क्रोड़ में है, उस अनल का हाथ हूँ मैं।
नव प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं।
सिद्धि पा कर भी तुम्हारी साधना का ज्वलित क्षण हूँ।
एक दीपक किरण-कण हूँ।

व्योम के उर में अपार भरा हुआ है जो अँधेरा।
और जिसने विश्व को दो बार क्या, सौ बार घेरा।
उस तिमिर का नाश करने के लिए मैं अखिल प्रण हूँ।
एक दीपक किरण-कण हूँ।

शलभ को अमरत्व दे कर प्रेम पर मरना सिखाया।
सूर्य का सन्देश ले कर रात्रि के उर में समाया।
पर तुम्हारा स्नेह खो कर भी तुम्हारी ही शरण हूँ।
एक दीपक किरण-कण हूँ।

यह तुम्हारा हास आया

यह तुम्हारा हास आया।
इन फटे से बादलों में कौन सा मधुमास आया?
यह तुम्हारा हास आया।

आँख से नीरव व्यथा के दो बड़े आँसू बहे हैं,
सिसकियों में वेदना के व्यूह ये कैसे रहे हैं।
एक उज्ज्वल तीर-सा रवि-रश्मि का उल्लास आया।
यह तुम्हारा हास आया।

आह, वह कोकिल न जाने क्यों हृदय को चीर रोयी ?
एक प्रतिध्वनि-सी हृदय में क्षीण हो-हो हाय, सोयी।
किन्तु इस से आज मैं कितने तुम्हारे पास आया !
यह तुम्हारा हास आया।

शुजा*

मौन रात्रि ओ अराकान !
अथ-हीन और इति-हीन मौन,
यह मन है, तन भी यही मौन,
निर्जनता की बहुमुखी धार,
अविदित गति से है वही मौन।
यह मौन ! विश्व का व्यथित पाप,
तुझ में क्यों करता है निवास ?
क्या व्योम देख कर ? अरे व्योम
में तारों का है मुक्त हास।
ये शिला-खंड काले, कठोर
वर्षा के मेघों से कुरूप !
दानव से बैठे, खड़े या कि
अपनी भीषणता में अनूप !
ये शिला-खंड मानो अनेक

* शाहजहाँ बीमार है। उसके चार पुत्र हैं—दारा, शुजा, मुराद और औरंगज़ेब। राज सिंहासन के लिए उस के चारों पुत्रों में लड़ाई हो रही है। औरंगज़ेब ने दारा और मुराद को पराजित कर दिया है। वह शुजा का पीछा बंगाल में कर रहा है। शुजा बनारस, मुंगेर, मुर्शिदाबाद, ढाका से होता हुआ अराकान के राजा की शरण लेता है। वहाँ भी राजा से मनोमालिन्य होने के कारण शुजा अराकान के प्रशान्त वन में सदैव के लिए चला जाता है। कवि अराकान से पूछना चाहता है : 'शुजा कहाँ है ?''

पापों के फैले हैं समूह !
या नीरसता ने चिर-निवास
के लिए रचा है एक व्यूह !

वह सर्प—(मृत्यु-रेखा सजीव)—
खिंचती चलती है दिशा-हीन !
विष मौन कर रहा है प्रवास,
ले एक वक्र वाहन मलीन।
दो भागों में जिह्वा-प्रवाह,
चंचल है सुख-दुख के समान,
तजता समीर फुककार, आह,
यह देख मृत्यु का सगति यान।

ओ अराकान ! यह विषम भूमि,
भय ही जिस का है द्वारपाल,
शिशुपन यौवन से है अजान,
जर्जरपन ही था जन्मकाल।
सुख सदृश न्यून हैं लघु प्रसून,
दुख के समान हैं कुश अपार,
दोनों का अनुचित विवश योग,
है जीवन का अज्ञात हार।

क्या हार ? आह, वह शुजा वीर !
संग्राम-भूमि में गया हार।
यह वही शुजा है जो सदैव
वैभव का था जीवित विहार !
यह वही शुजा है एक बार
जिस से सज्जित थे राज द्वार !
अब हार—(विजय की पतित राशि)
लज्जित करता है बार-बार !

जीवन के दिन क्या हैं अनेक ?
वृद्धा के सिर के श्याम केश !
जर्जरपन ही है मुक्त द्वार,
जिस के सम्मुख है मृत्यु देश !
यह वैभव का उज्ज्वल शरीर,
दो दिन करता है अट्टहास,
फिर देख स्वयं निज विकृत वेश,
लज्जित हो करता है प्रवास !

वह शुजा ! आह, फिर वही नाम
मचले बालक-सा बार-बार,
सोयी स्मृति पर लघु हाथ मार,
क्यों जगा रहा है इस प्रकार ?
वह शाहजहाँ का राज्यकाल !
मानो हिमकर का रजत हास !
लक्ष्मी का था इस्लाम रूप !
स्वर्गों का था भू पर निवास !

वे दिन क्या थे ! यौवन-विलास
सन्ध्या बादल-सा था नवीन !
यह रास-रंग—वह रास-रंग—
यौवन था यौवन में विलीन !
धन भूल गया था व्यक्ति-भेद,
उस की गति का था हुआ नाश,
था स्वर्ण रजत का एक मूल्य,
रत्नों में पीड़ित था प्रकाश !

रमणी के कंठों पर स-रत्न,
सोया करता था बाहुपाश,

उच्छृंखलता भी थी प्रमत्त ,
चिन्ता जीवन से थी हताश ।
'शासित के जी हलके सदैव
थे, शासक पर था राज्य-भार !
उस की जागृति से सभी काल ,
निद्रित रहता था दुराचार ।

उस दिन वह केवल था विनोद ,
जब नीली यमुना के समीप ,
संचित था उत्सुक जन समूह ,
(बुझते जाते थे नभ प्रदीप) ।
काले बादल से दो प्रमत्त ,
हाथी लड़ते थे बार-बार ,
विद्युत-सा उद्धत चपल शब्द ,
सूचित कर देता था प्रहार ।

अपनी आँखों में भरे हर्ष
उत्सुकता की चंचल हिलोर ,
नृप शाहजहाँ रवि-रश्मि-युक्त
हो, देख रहा था उसी ओर ।
सम्मुख थे उस के राजपुत्र ,
चंचल घोड़ों पर थे सवार ,
आश्चर्य उमंगों का सदैव
दृग में बढ़ता था तीव्र ज्वार ।

औरंगज़ेब की ओर एक
गज दौड़ा बन साकार क्रोध ,
पर थी उस की तलवार तीव्र ,
करने वाली चंचल विरोध ।
जीवन का अब अस्थिर प्रवाह ,
दो क्षण तक ही था रहा शेष ,

पर वाह, शुजा रे शुजा वीर !
तेरी चंचलता थी विशेष !

तूने विद्युत बन कर सवेग ,
विद्युत-तर कर भाला विशाल ,
उस मृत्यु-रूप गज के स-रौद्र
मस्तक पर छोड़ा था कराल ।
गज घूमा, तू औरंगज़ेब
को बचा, हो गया अमर वीर !
मैं तुझे खोजता हूँ अलक्ष्य ,
अब अराकान में हो अधीर !

था शाहजहाँ बीमार, और
दारा बैठा था नमित माथ ,
जिन पर आश्रित था राज्य-भार ,
वे काँप रहे थे आज हाथ ।
दरबार हो गया नियम-हीन ,
प्रातः दर्शन भी था न आह ,
रवि शाहजहाँ से हुआ शून्य ,
प्रति दिन प्राची-सा ख़्वाबगाह ।

गत तीस वर्ष का राज्यकाल ,
विस्तृत था स्वप्नों के समान ,
जिन में निद्रित था बन प्रशान्त ,
इस जीवन का अस्तित्व शान ।
'शाही बुलन्द इक़बाल'-युक्त ,
दारा का शासन था स-हास ,
पर शाहजहाँ का मृत्यु-कष्ट ,
करता मुख से मुख पर प्रवास ।

चिन्ता-निर्मित नत व्यथित शीश ,
झुकते थे दिन में अयुत बार ,
मृदु वायु सह रही थी अनन्त ,
आशीषों का अविराम भार ।
जिस तन पर मणियों का प्रकाश ,
अपना जीवन करता व्यतीत ,
अब वह तन है कितना मलीन !
कितना निष्ठुर है यह अतीत !

जब शाहजहाँ ने एक बार ,
सोचा जीवन का निकट अन्त ,
दृग से दो आँसू गिरे, और—
उन में आकांक्षा थी अनन्त !
ये जीवन के दो दिवस शेष ,
जिन में होंगी स्मृतियाँ अतीत ,
प्रिय ताजमहल के पास क्यों न
हों प्रेयसि-चिन्तन में व्यतीत !

कुछ दूर आगरे में अनूप ,
संचित है स्मृति का अश्रु-बिन्दु ,
वह ताज—(वेदना की विभूति)—
अंकित है भू पर पूर्ण इन्दु ।
यह शाहजहाँ है एक व्यक्ति ,
जिसने इतना तो किया काम ,
दे दिया विरह को एक रूप ,
है 'ताज' उसी का व्यथित नाम ।

पर—है प्रेयसि की स्मृति पवित्र ,
कितनी कोमल ! कितनी अनूप !
फिर शाहजहाँ ने बन कठोर ,

क्यों दिया उसे पाषाण-रूप ?
यदि फूलों से निर्मित अम्लान
यह ताजमहल होता सहास ,
तब होता स्मृति का उचित चिह्न ,
मैं क्यों रहता इतना उदास ?

तारों की चितवन के समान ,
था शाहजहाँ अपलक अधीर ,
यमुना की लहरों से स-मोद ,
क्रीड़ा करता था मृदु समीर ।
कितने भावों को कर विलीन ,
छोटे से दृग के बीच आज ,
दिल्ली का स्वामी बन मलीन ,
था देख रहा निःस्तब्ध ताज ।
वह ताज ! देख कर उसे हाय ,
उठता था दृग में विकल नीर ,
मुमताज़ ! कहाँ पाषाण-भार ,
है कहाँ तुम्हारा मृदु शरीर !

है कहाँ तुम्हारी मदिर दृष्टि ,
जिस में निमग्न था अधर-पान ?
अधरों में संचित था अनूप ,
इक्षुज-सा कोमल मधुर गान !

था मधुर गान ! ... अः, वह मुराद ,
औरंगज़ेब के सहित आज ,
'है शुजा—शुजा भी है स-ओज ,
सजने को भीषण युद्ध-साज ।
दिल्ली का सिंहासन विशाल ,

है आज युद्ध का पुरस्कार,
जीवन होगा जय का स्वरूप,
क्या मृत्यु रूप होगी न हार!

नृप शाहजहाँ की हीन शक्ति,
बन गयी सुतों का बल अपार,
दारा, मुराद, औरंगज़ेब,
थे मानों जीवित अहंकार,
सतलज की लहरें हुई क्षुब्ध,
जब उठा भयंकर युद्ध-नाद,
प्रतिबिम्बित था जल में अनन्त
सेना-समूह भीषण विषाद।

दारा का वैभव-पूर्ण युद्ध,
वृद्धा-जीवन-सा था अशक्त,
(धन का सेवक था युद्ध-वाद्य,
बह गया स्वर्ण के साथ रक्त!)
वह दिल्ली से लाहौर, और
मुलतान-सिन्ध से गया कच्छ,
कलुषित-सा होने लगा नित्य,
उस की जय का आकार स्वच्छ!

दादर में दारा की विभूति
का द्रुत आँसू में था प्रवाह,
नादिरा हृदयसंगिनी आज,
थी मृत्युसंगिनी आह! आह!
दारा के उर पर अश्रु और
मोती बिखरे थे बन अधीर,
सिसकियों-भरे चुम्बन समेत,
था मृतक नादिरा का शरीर!!

बन्दी था अब वह राजपुत्र ,
भिक्षुक-स्वरूप हो गया ईश !
क्षण एक हुआ चीत्कार रुद्ध ,
फिर गिरा रक्त से सना शीश !
वह शीश देख औरंगज़ेब
हँस कर रोया था बहुत देर ,
मानों निर्दयता ने स-भूल ,
थोड़ी-सी करुणा दी बिखेर ।

भोला मुराद मदिरा-प्रवीण
सोया था हो कर शस्त्र हीन ,
चरणों को अलसायी अनूप ,
थी दबा रही बाँदी नवीन ,
उस समय दुष्ट औरंगज़ेब
ने भेजा था क्यों शेख़ मीर ?
जिस से सहायता-हीन, सुप्त
भाई का बन्दी हो शरीर ।

अः शुजा ! और तुम कहो वीर !
बंगाल तुम्हारा था प्रवास ,
सुख का दिन, सुख की रात शान्त ,
यह सत्रह वर्षों का निवास !
उस राजमहल की शान्त वायु
पा शाहजहाँ का समाचार ,
निर्बल रोगी-सी हुई क्षुब्ध ,
आकांक्षा का हिल उठा तार ।

तू बढ़ा हाथ में ले सगर्व ,
शासन का गौरव-पूर्ण भार ,

तेरा गौरव था एक चित्र
तेरा साहस था चित्रकार !
थी शत्रु-वाहिनी अति प्रमत्त ,
तू विमुख हुआ था बार-बार ,
मानों दृढ़ तट पर शक्तिहीन
लहरों का था असफल प्रहार ।

औरंगज़ेब से हुआ युद्ध ,
जिस में थी गज सेना अपार ,
विजयी बन कर भी कई बार ,
तुझ को क्यों स्वीकृत हुई हार ?
ढाका से भागा अराकान ,
खो कर अपना विजयी स्वभाव
कितनी नदियाँ कीं शीघ्र पार ,
आशाओं ही की बना नाव ।

गौरव रक्षण के हेतु वीर !
तू ने अपनाया वन-प्रदेश !
रक्षित है क्या अब भी महान्
तेरा वह विक्रम वीर वेश ?
तेरे वैभव का मृदु विलास ,
इस अराकान से था अपार ,
उस के पर्वत से भी महान् ,
तेरे सुख का था मधुर भार ।

इस में विभीषिका भी सदैव ,
रहती है हो-हो कर सभीत ,
तेरे समीप मुस्कान, मंजु ,
अधरों में होती थी व्यतीत ।

तरु तोड़-तोड़ कर यहाँ नित्य ,
झाँका करता है अट्टहास !
तेरे शरीर में नव सुगन्धि ,
लिपटी-सी करती थी निवास ।

ले अपने वैभव का शरीर ,
आया है तू इस भाँति श्रान्त ,
एकान्त भूमि में इस प्रकार ,
तू ही है उजड़ा एक प्रान्त !
ओ अराकान के शून्य प्रान्त !
तेरे विशाल तन में प्रशान्त ,
वह बुझा हृदय की भाँति आज ,
क्या धड़क रहा है बन अशान्त ?

——

प्रार्थना

फूलों की अधखुली आँख !
मार्ग देख मेरे प्रियतम का ,
देख-देख नीला आकाश ।
जब तक वे न यहाँ आवें ,
खुलने का मत कर व्यर्थ प्रयास ॥

सागर की गतिवती तरंग !
ले उसाँस मत, तट पर जाकर ,
चुप हो जा ओ चंचल बाल !
मेरे प्रियतम के आने की ,
ध्वनि से देना अपनी ताल ।

ओसों के बिखरे वैभव !
फैले हो अवनी पर, शासन
करने का यह अनुपम ढंग।
तुम से भी तो कोमल है,
मेरे प्रियतम का उज्ज्वल अंग।
मत उड़ना ए, अश्रु-बिन्दु बन
करना उन फूलों में वास।
मेरा अनुपम धन आवे
जब तक इस निर्धन मन के पास।

तरुवर के ओ पीले पात !
मत गिरना, मेरे प्रियतम को
तो आ जाने दो इस बार।
आने पर उन के चरणों पर,
गिर कर हो जाना बलिहार॥

ओ समीर के मन्दोच्छ्वास !
फूलों की प्याली में तब तक,
मत भरना छवि-सुधा अपार।
जब तक प्रियतम की पद-ध्वनियाँ,
पहुँच न जावें मेरे द्वार॥

जल-कुबेर ए काले मेघ !
प्रिय की विरह-ज्वाल दिखला कर,
क्यों बरसाते हो जल-धार।
वसुधा के वैभव ही में तो,
करते हो अपना विस्तार।
तब तक मौन रहो जब तक,
मेरे आँसू का पारावार,
मिल जावे तुम से करने को,
प्रियतम के पद का श्रृंगार॥

ओ मेरी तन्त्री के नाद !
मत गूँजो, मेरी उँगली से
मत बोलो ओ प्राणाधार !
मेरे मन में बस जाने दो ,
पहले मेरा प्रिय स्वरकार ॥

—

जीवन-स्रोत

ओ प्रवाहिनी रुक जा, ओ जीवन-प्रवाहिनी रुक जा ।
शान्त, क्या न है श्रान्त, प्रान्त एकान्त भयानक निर्जन
सुन पड़ता चीत्कार और क्रन्दन का कलुषित कम्पन ।
प्रतिध्वनि को ले वायु, झूमता ही रहता है वन-वन
एक भयानक शब्द उसी का प्रतिध्वनि से परिवर्तन ।
यह विषाद का सिन्धु नहीं है तेरा उज्ज्वल जीवन—
ओ सुहासिनी रुक जा, ओ जीवन-प्रवाहिनी रुक जा ।

नीरव चादर में कर्कश स्वर खिंचा छिद्र बन जर्जर ,
तरु का पीला पात, चिर वियोगी, उफ़ ! कातर—
गिरा, आह तेरे प्रवाह के चंचल परिवर्तन पर ;
मन्द स्वरों में हँसे हरे पल्लव पल-पल मर-मर कर ।
अरी झुला तो ले उस शव को लहर-लहर पर पल भर—
ओ अभागिनी रुक जा, ओ जीवन-प्रवाहिनी रुक जा ।
उस उदास सन्ध्या का मेरे मन से पुनः निकलना ,
तेरी लहरों का वृक्षों की छवि मरोड़ कर चलना ,
तेरे दर्पण में मेरी पश्चिम-आशा का जलना ,
तेरे अंचल में तारक शिशुओं का स-गति मचलना ;
यह सब देखा, एक बार अब तो ओ प्रिये सम्हल जा—
ओ विहारिणी रुक जा, ओ जीवन-प्रवाहिनी रुक जा ।

जो तुझ में है स्वर्ण-रेखा, वह बादल की है माया,
तेरा यह वसन्त है केवल एक शिशिर की छाया।
री एक लहर में यद्यपि अविदित नृत्य समाया,
पर क्या वह स्थिर है, तूने क्या तत्त्व कभी यह पाया?
सुन ले, तेरी लहरों ने संगीत यही तो गाया—
ओ विनोदिनी रुक जा, ओ जीवन प्रवाहिनी रुक जा!

मेरी कविता की धारा तो मुझ से भी है चंचल,
मेरी इच्छा तेरी लहरों से भी होगी उज्ज्वल।
अपने इस अगाध जल में जो रटता रहता कल-कल
ज़रा मिला ले प्रेम भरे, मेरे आँसू का कुछ जल।
यह अनन्त का प्रेम सदा ही सरिते! होगा निर्मल
ओ तरंगिनी रुक जा, ओ जीवन प्रवाहिनी रुक जा।

अश्रुमय कूल

कहा, 'सजनी क्यों प्रातःकाल
कुसुम का तुम करती हो चयन?'
प्रात-सी बनी सौम्य सुकुमार,
कुसुम से सजे सजीले नयन—
लजीले नयन, कुसुम से नयन!

कहा, 'क्यों सारी सूनी रात
गिना करती हो तारक-इन्दु?'
बनी रजनी-सी निद्रित श्याम
सजे मुख पर प्रस्वेद से बिन्दु—
स्वेद के बिन्दु, सुतारक बिन्दु!

कहा, 'यह मुख का विकसित मौन
कभी क्या बन सकता है गान ?'
उठी थी चिन्तित चितवन एक,
उसी में थे कुछ स्वर अनजान
मौन था गान, दिव्य था गान !

कहा, 'यह चंचल यौवन-नाव
लगेगी क्या सरिता के कूल ?'
अश्रु-सरि की सूखी-सी धार
बह गयी जहाँ पड़ी थी धूल—
यही है कूल, अश्रुमय कूल !

अन्तिम संसार

तरुवर के ओ पीले पात,
किस आशा के तन्तु सम्हाले रहते हैं दिन रात ?
रात हो या कि प्रभात
पतले एक हाथ से पकड़े हो तरुवर का गात ।

अन्य तुम्हारे स्वजन हरे रंगों का ले परिधान ।
हँसते हैं पीलेपन पर क्या मर-मर-मर कर गान ?
सुनते हो चुपचाप अन्य पत्तों का यह अभिशाप;
उन का है आनन्द तुम्हारा यह विषमय सन्ताप ।

गिर जाना भू पर समीर में हिल-डुल कर इस बार ।
दिखला देना पत्तों को उन का अन्तिम संसार ।

साधना-संगीत

आज मेरी गति तुम्हारी आरती बन जाय ।

आरती घूमे कि खिंचता जाय रंजित क्षितिज घेरा,
धूम-सा जल कर भटकता उड़ चले सारा अँधेरा ।
हो शिखा स्थिर, प्राण के प्रण की अचल निष्कम्प रेखा,
हृदय में ज्वाला, हँसी में दीप्ति की हो चित्र लेखा ।
श्वास ही मेरी विनय की भारती बन जाय !
आज मेरी गति तुम्हारी आरती बन जाय !

यह हँसी मन्दिर बने मुस्कान क्षण हों द्वार मेरे,
तुम मिलो या मैं मिलूँ ये मिलन पूजा-हार मेरे ।
आज बन्धन ही बनेंगे मुक्ति के अधिकार मेरे,
क्यों न मुझ में अवतरित हो कर रहो स्वरकार मेरे ।
प्राण-वंशी प्रेम की ही चिर-व्रती बन जाय !
आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय !

स्वर-साधन

प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूँ मैं ।
दो उरों के मिलन में मिट जाय वह अन्तर बनूँ मैं ।
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूँ मैं ।

करुण जीवन जब कि हिम की विकल घुलती धार-सा हो,
या कि सिसकी से उठे दो आँसुओं के भार-सा हो,
सिक्त उस से हो उठे उस धूल का कण-भर बनूँ मैं,
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूँ मैं ।

प्रेम की इस अग्नि से क्यों धूम-सी उठती निराशा ?
क्यों हृदय की भावना को मिल सकी अब तक न भाषा ?
हों तुम्हारे ये लजीले प्रश्न तो उत्तर बनूँ मैं,
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूँ मैं ।

तारिका है या किसी की काँपती है तरल सिसकी,
क्षीण शशि में नत हुई-सी दीखती है पलक किस की ?
जो इन्हें उर में सजा ले वह सदय अम्बर बनूँ मैं,
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूँ मैं।

अग्रसर होना निरन्तर ही बना अस्तित्व जिस का,
कठिनतर अवरोध से ही बन सका व्यक्तित्व जिस का,
प्राप्त कर पद-ध्वनि तुम्हारी गीतिमय निर्झर बनूँ मैं,
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूँ मैं।

रक्त-डूबा क्रौंच भू पर अरुण बादल-सा विनत हो,
क्रौंचि के चीत्कार से वन-प्रान्त जैसे कान्ति-हत हो,
तब करुण-उर आदि-कवि के काव्य का अवसर बनूँ मैं,
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूँ मैं।

प्रश्न

जो प्रतीक्षा में पली वह बात क्या तुम जानते हो ?
आँख की पुतली बनी वह रात क्या तुम जानते हो ?
किस कठिनता से क्षणों की
धार पर मैं चल सका हूँ।
जब कि ज्वाला में जला तब,
आँसुओं में ढल सका हूँ।
दो किनारों से उठी बरसात क्या तुम जानते हो ?
जो प्रतीक्षा में पली वह बात क्या तुम जानते हो ?

जिन पदों की रेख मैंने
भाग्य रेखा ही बनायी।
जिन पदों के ध्वनि हृदय में,
रागिनी बन कर समायी।

उन पदों की अरुणिमा का प्रात, क्या तुम जानते हो !
जो प्रतीक्षा में पली वह बात क्या तुम जानते हो !

आँसुओं में देखता हूँ,
मैं उन्हें कुछ मुस्कुराते।
या कि स्वप्नों में कि जब वे
पास आ कर भी न आते।
वह मिलन जो विरह से है स्नात, क्या तुम जानते हो !
जो प्रतीक्षा में पली वह बात क्या तुम जानते हो !

एक तारे की तरह विह्वल,
उन्हीं की राह देखूँ।
प्राण में या पुष्प में—किस में
खिला उत्साह देखूँ !
हृदय है या है कि यह जलजात, क्या तुम जानते हो !
जो प्रतीक्षा में पली वह बात क्या तुम जानते हो !

प्रेम की यह साधना,
कितने युगों से एक-सी है !
आँसुओं की बूँद ही,
प्रिय-मिलन के अभिषेक-सी है।
क्यों विरह वरदान था अज्ञात, क्या तुम जानते हो !
जो प्रतीक्षा में पली वह बात क्या तुम जानते हो !

मौन करुणा

मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।

जानता हूँ, इस जगत में फूल की है आयु कितनी,
और यौवन की उभरती साँस में है वायु कितनी।

इसलिए आकाश का विस्तार सारा चाहता हूँ।
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।

प्रश्न चिह्नों में उठी हैं भाग्य-सागर की हिलोरें।
आँसुओं से रहित होंगी क्या नयन की नमित कोरें?
जो तुम्हें कर दे द्रवित वह अश्रु-धारा चाहता हूँ।
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।

जोड़ कर कण-कण कृपण आकाश ने तारे सजाये।
जो कि उज्ज्वल हैं सही, पर क्या किसी के काम आये?
प्राण! मैं तो मार्ग-दर्शक एक तारा चाहता हूँ।
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।

यह उठा कैसा प्रभंजन! जुड़ गयीं जैसे दिशाएँ।
एक तरुणी, एक नाविक और कितनी आपदाएँ!
क्या कहूँ, मँझधार में ही मैं किनारा चाहता हूँ।
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।

संकेत

आज मेरी प्रार्थना रिमझिम बनी बरसात की।
प्रिय-मिलन के अधखुले स्वर,
बूँद बन कर झर रहे हैं,
जल-भरे इन बादलों को
देख दृग क्यों भर रहे हैं?
सिसकती-सी भावनाओं में बसी है चातकी।
आज मेरी प्रार्थना रिमझिम बनी बरसात की।

बादलों की श्याम रेखा
भाग्य-रेखा बन न जाये,

फूल तक इन कटकों में
आ गये, पर तुम न आये ;
जो प्रतीक्षा प्रात की थी बन गयी वह रात की।
आज मेरी प्रार्थना रिमझिम बनी बरसात की।

इस दिशा से उस दिशा तक
इन्द्रधनुषी प्रिय सँदेसे ,
वायु लहरों बीच मैंने
कुछ कहे या कुछ कहे से ,
साँस से ही जान लेना जो कि मैं ने बात की।
आज मेरी प्रार्थना रिमझिम बनी बरसात की।

चचाई का प्रपात *

पश्चिम नभ में डूबता सूर्य ,
"बीहर" का अविरत तरुण तूर्य
गुंजित है, प्रणत शिलाओं के समतल पर
जल फैला है ज्यों शिशु के तन पर
होता है शैशव का प्रसार।
लघु-लघु विवरों से चपल धार
है बिखर रही पा मुक्त द्वार ,
जैसे कोई मुख फेर, हँसी की
ध्वनि में कह दे शब्द चार।

वह समतल जैसी शिला भूमि
कुछ तनी हुई है आस-पास ,
जैसे उर को फैला देती है ,
गहरी रोकी हुई साँस ,

* विन्ध्य प्रदेश की बीहर नदी का एक सुप्रसिद्ध जल-प्रपात ।

कुछ उभरे थल जल-रहित
शेष निर्मल जल में सम्पूर्ण लीन ,
जैसे अँगड़ाई लेती-सी कोई
सित-वसना रति-प्रवीण ।

यह "बीहर" लिपट-लिपट पाषाणों से
कहती है अश्रु-कथा ,
'मैं पतनोन्मुख हो रही
चल रही मेरी गति के साथ व्यथा' ,
वह बढ़ी—निराश्रित गिरी—
ओह ! यह मृत्यु-कूप की गहराई !
जैसे पर्वत के विकट वदन ने
ली हो गहरी जमुहाई ।

यह नीचापन—क्या हिम-शृंगों ने
उलट अतल को नाप लिया !
यह है दरिद्र का भाग्य ! किसी ने
खींच विहागालाप लिया !
यह जल-प्रपात ! ऊपर से नीचे तक
जल की विचलित धारा ,
यह महाशब्द जैसे कि भाग्य ने
भू से नभ तक हुंकारा !

भय से जल जैसे श्वेत हुआ
धारों-धारों में बिखर चला ,
जैसे पृथ्वी का कलुष पतन की
गति में सहसा निखर चला ।

यह पतन भाग्य का सत्य ,
भयानकता में सुषमा उठी जाग ,

यह लम्बी शुभ्र धार जल की
जैसे कि राग में हो विराग
या अन्तरिक्ष से भू तक कोई
सुर-बाला हो भावातुर,
है नाच रही सुमधुर,
सु-मधुर, सु-मधुर, सु-मधुर, सु-मधुर।

ये जल के कण उज्ज्वल बन कर
ले पवन-यान नीचे आते,
जैसे शोभा के धूमकेतु
ले ज्योति-रेख चक्कर खाते,
या नभ-गंगा नभ में न समा
पृथ्वी पर गिरने आयी है,
या दुर्दिन के काले गह्वर में
आशा-किरण समायी है।

यह जल प्रपात! क्या जग में है
सौन्दर्य पतन का सूत्रधार?
यह कितना गौरवपूर्ण पतन!
जिस में न हार रह गयी हार,
मेरा उत्थान न कण-भर भी,
पा सका पतन का यह प्रताप,
चेतन पर जड़ की विजय
आज मैं देख रहा हूँ मौन आप।

मैं इस प्रपात का जल-कण बन
उज्ज्वलता का परिधान पहिन
बहता जाऊँ—बहता जाऊँ—
कितने ही दिन कितने ही दिन,

पाने असीम जल का संगम
ओ मानव तू सुख-दिन गिन-गिन,
पत्थर की जड़ता में सिमटा
तू भूल गया है सब, लेकिन !

जा देख ! खोल दृग यह प्रपात,
यह पतन सृष्टि का दिव्य हास !
जड़ बरसों तक सिखलायेगा
तुझको चेतन का रम्य रास,
तू पतन बना दे छबिशाली,
तू निखर कलुष से वीतराग,
बन लहर, उठा दे तू विप्लव
भैरव हो तेरा एक राग।

तू बन प्रपात का तीव्र वेग
तू बन प्रपात का मध्य भाग,
तू गिरि गह्वर को तोड़ फोड़
सागर तक ले जा तरल आग,
फिर तेरा पतन बनेगा कितने
उत्थानों का निर्माता,
यह कवि तेरे गुण गायेगा
इस ओर कभी आता जाता।

यह छाया क्यों बढ़ चली ?
अरे, पश्चिम में डूबा अरुण सूर्य।
"बीहर" का अविरत तरुण तूर्य
गुंजित है शून्य दिशाओं से
आती है अब प्रतिध्वनि केवल।
छिप गया चचाई का प्रपात,
पा कर सन्ध्या का पट श्यामल।

सुभद्राकुमारी चौहान

ठुकरा दो या प्यार करो

देव ! तुम्हारे कई उपासक कई ढंग से आते हैं ।
सेवा में बहुमूल्य भेंट वे कई रंग की लाते हैं ।

धूम-धाम से साज-बाज से वे मन्दिर में आते हैं ,
मुक्तामणि बहुमूल्य वस्तुएँ ला कर तुम्हें चढ़ाते हैं ।

मैं ही हूँ गरीबिनी ऐसी जो कुछ साथ नहीं लायी ,
फिर भी साहस कर मन्दिर में पूजा करने को आयी ।

धूप-दीप नैवेद्य नहीं है झाँकी का शृंगार नहीं ,
हाय ! गले में पहनाने को फूलों का भी हार नहीं ।

कैसे करूँ कीर्तन, मेरे स्वर में है माधुर्य नहीं ।
मन का भाव प्रकट करने को वाणी में चातुर्य नहीं ।

नहीं दान है, नहीं दक्षिणा खाली हाथ चली आयी ।
पूजा की विधि नहीं जानती फिर भी नाथ ! चली आयी ।

पूजा और पुजापा प्रभुवर ! इसी पुजारिन को समझो ,
दान-दक्षिणा और निछावर इसी भिखारिन को समझो ।

मैं उन्मत्त प्रेम का प्यासा हृदय दिखाने आयी हूँ ;
जो कुछ है, वह यही पास है, इसे चढ़ाने आयी हूँ ।

चरणों पर अर्पित है, इस को चाहो तो स्वीकार करो ।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है ठुकरा दो या प्यार करो ।

समर्पण

सूखी-सी अधखिली कली है
परिमल नहीं, पराग नहीं ,
किन्तु कुटिल भौंरों के चुम्बन
का है इन पर दाग नहीं ।

तेरी अतुल कृपा का बदला
नहीं चुकाने आयी हूँ ।
केवल पूजा में ये कलियाँ
भक्ति-भाव से लायी हूँ ।

प्रणय-जल्पना चिन्त्य-कल्पना
मधुर वासनाएँ प्यारी ,
मृदु अभिलाषा, विजयी आशा
सजा रही थीं फुलवारी ;

किन्तु गर्व का झोंका आया—
यदपि गर्व वह था तेरा—
उजड़ गयी फुलवारी सारी
बिगड़ गया सब कुछ मेरा ।

बची हुई स्मृति की ये कलियाँ
मैं समेट कर लायी हूँ ।
तुझे सुझाने, तुझे रिझाने
तुझे मनाने आयी हूँ ।

प्रेम-भाव से हो अथवा हो
दया-भाव से ही स्वीकार ,
ठुकराना मत, इसे जान कर
मेरा छोटा-सा उपहार ।

——

चलते समय

तुम मुझे पूछते हो, 'जाऊँ ?'
मैं क्या जवाब दूँ तुम्हीं कहो।
'ना—' कहते रुकती है जबान
किस मुहँ से तुम से कहूँ रहो ;

सेवा करना था जहाँ मुझे
कुछ भक्ति-भाव दरसाना था,
उन कृपा-कटाक्षों का बदला
बलि हो कर जहाँ चुकाना था,

मैं सदा रूठती ही आयी,
प्रिय ! तुम्हें न मैंने पहचाना।
वह मान बाण-सा चुभता है,
अब देख तुम्हारा यह जाना।

—

स्मृतियाँ

क्या कहते हो ! किसी तरह भी
भूलूँ और भुलाने दूँ ?
गत जीवन को तरल मेघ-सा,
स्मृति-नभ में मिट जाने दूँ ?

शान्ति और सुख से ये
जीवन के दिन शेष बिताने दूँ ?
कोई निश्चित मार्ग बनाकर
चलूँ, तुम्हें भी जाने दूँ ?

कैसा निश्चित मार्ग ? हृदय-धन !
समझ नहीं पाती हूँ मैं ।
वही समझने एक बार फिर ,
क्षमा करो, आती हूँ मैं ।

जहाँ तुम्हारे चरण, वहीं पर
पद-रज बनी पड़ी हूँ मैं ।
मेरा निश्चित मार्ग यही है ,
ध्रुव-सी अटल अड़ी हूँ मैं ।

भूलो तो सर्वस्व ! भला वे
दर्शन की प्यासी घड़ियाँ ।
भूलो मधुर मिलन को, भूलो
बातों की उलझी लड़ियाँ ।

भूलो प्रीति-प्रतिज्ञाओं को ,
आशाओं, विश्वासों को ,
भूलो अगर भूल सकते हो ,
आँसू और उसाँसों को ।

मुझे छोड़ कर तुम्हें प्राणधन ,
सुख या शान्ति नहीं होगी ।
यही बात तुम भी कहते थे
सोचो, भ्रान्ति नहीं होगी ।

सुख को मधुर बनाने वाले ,
दुख को भूल नहीं सकते ।
सुख में कसक उठूँगी मैं प्रिय !
मुझ को भूल नहीं सकते ।

मुझ को कैसे भूल सकोगे ,
जीवन-पथ-दर्शक मैं थी ।
प्राणों की थी प्राण, हृदय की ,
सोचो तो, हर्षक मैं थी ।

मैं थी उज्ज्वल स्फूर्ति, पूर्ति
थी प्यारी अभिलाषाओं की ;
मैं ही तो थी मूर्त्ति तुम्हारी
बड़ी-बड़ी आशाओं की ।

आओ, चलो, कहाँ जाओगे ,
मुझे अकेली छोड़ सखे !
बँधे हुए हो हृदय-पाश में ,
नहीं सकोगे तोड़ सखे !

प्रियतम से

बहुत दिनों तक हुई परीक्षा
अब रूखा व्यवहार न हो ।
अजी, बोल तो लिया करो तुम
चाहे मुझ पर प्यार न हो ।

ज़रा-ज़रा-सी बातों पर
मत रूठो मेरे अभिमानी ।
लो प्रसन्न हो जाओ
गलती मैंने अपनी ही मानी ।

मैं भूलों की भरी पिटारी
और दया के तुम आगार।
सदा दिखायी दो तुम हँसते
चाहे मुझ से करो न प्यार।

बालिका का परिचय

यह मेरी गोदी की शोभा
सुख-सुहाग की है लाली।
शाही शान भिखारिन की है
मनोकामना मतवाली।

दीप-शिखा है अन्धकार की
बनी घटा की उजियाली।
ऊषा है यह कमल-भृंग की,
है पतझड़ की हरियाली।

सुधा-धार यह नीरस दिल की
मस्ती मगन तपस्वी की;
जीवन-ज्योति नष्ट नयनों की
सच्ची लगन मनस्वी की।

बीते हुए बालपन की यह
क्रीड़ापूर्ण वाटिका है,
वही मचलना, वही किलकना—
हँसती हुई नाटिका है।

मेरा मन्दिर, मेरी मसजिद
काबा-काशी यह मेरी।

पूजा-पाठ, ध्यान जप-तप है ,
घट-घट-वासी यह मेरी ।

कृष्णचन्द्र की क्रीड़ाओं को
अपने आँगन में देखो—
कौशल्या के मातृमोद को
अपने ही मन में लेखो ।

प्रभु ईसा की क्षमाशीलता
नबी मुहम्मद का विश्वास ,
जीव-दया जिनवर गौतम की
आओ देखो इस के पास ।

परिचय पूछ रहे हो मुझ से ,
कैसे परिचय दूँ इस का !
वही जान सकता है इस को ,
माता का दिल है जिस का !

कदम्ब का पेड़

यह कदम्ब का पेड़ अगर माँ, होता यमुना-तीरे ,
मैं भी उस पर बैठ कन्हैया बनता धीरे-धीरे ।
ले देतीं यदि मुझे बाँसुरी तुम दो पैसे वाली ,
किसी तरह नीचे हो जाती यह कदम्ब की डाली ।

तुम्हें नहीं कुछ कहता, पर मैं चुपके-चुपके आता ,
उस नीची डाली से अम्मा, ऊँचे पर चढ़ जाता ।

वहीं बैठ फिर बड़े मज़े से मैं बाँसुरी बजाता ।
'अम्मा-अम्मा' कह वंशी के स्वर में तुम्हें बुलाता ।

सुन मेरी वंशी को माँ, तुम इतनी खुश हो जातीं,
मुझे देखने काम छोड़ कर तुम बाहर तक आतीं ।
तुम को आता देख बाँसुरी रख मैं चुप हो जाता,
पत्तों में छिप कर मैं धीरे से फिर बाँसुरी बजाता ।

तुम हो चकित देखतीं चारों ओर, न मुझ को पातीं,
तब व्याकुल-सी हो कदम्ब के नीचे तक आ जातीं ।
पत्तों का मर्मर-स्वर सुन जब ऊपर आँख उठातीं,
मुझ को ऊपर चढ़ा देख कर कितनी घबरा जातीं !

गुस्सा हो कर मुझे डाँटतीं, कहती नीचे आ जा,
पर जब मैं न उतरता, हँस कर कहतीं—"मुन्ना राजा,
नीचे उतरो मेरे भैया ! तुम्हें मिठाई दूँगी,
नये खिलौने, माखन-मिश्री, दूध-मलाई दूँगी ।"

मैं हँस कर सब से ऊपर की टहनी पर चढ़ जाता,
एक बार 'मा' कह पत्तों में वहीं कहीं छिप जाता ।
बहुत बुलाने पर भी माँ, जब मैं न उतर कर आता,
तब माँ, माँ का हृदय तुम्हारा बहुत विकल हो जाता ।

तुम अंचल पसार कर अम्माँ, वहीं पेड़ के नीचे,
ईश्वर से कुछ विनती करतीं बैठी आँखे मीचे ।
तुम्हें ध्यान में लगी देख मैं धीरे-धीरे आता,
और तुम्हारे फैले अंचल के नीचे छिप जाता ।

तुम घबरा कर आँख खोलतीं फिर भी खुश हो जातीं ।
जब अपने मुन्ने राजा को गोदी ही में पातीं ।

इसी तरह कुछ खेला करते हम-तुम धीरे-धीरे,
माँ, कदम्ब का पेड़ अगर यह होता यमुना-तीरे।

वीरों का कैसा हो वसन्त ?

वीरों का कैसा हो वसन्त ?
आ रही हिमाचल से पुकार,
है उदधि गरजता बार-बार,
प्राची, पश्चिम, भू, नभ अपार,
सब पूछ रहे हैं दिग्-दिगन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

फूली सरसों ने दिया रंग,
मधु ले कर आ पहुँचा अनंग,
वधु वसुधा पुलकित अंग-अंग,
हैं वीर-वेश में किन्तु कन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

भर रही कोकिला इधर तान,
मारू बाजे पर उधर गान,
है रंग और रण का विधान,
मिलने आये हैं आदि अन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

गलबाँहें हों, या हो कृपाण,
चल चितवन हो, या धनुष-बाण,
हो रस-विलास या दलित-त्राण,

अब यही समस्या है दुरन्त ,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

कह दे अतीत अब मौन त्याग ,
लंके, तुझ में क्यों लगी आग ?
ऐ कुरुक्षेत्र ! अब जाग, जाग ,
बतला अपने अनुभव अनन्त ,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

हल्दीघाटी के शिला-खंड ,
ऐ दुर्ग ! सिंहगढ़ के प्रचंड ,
राणा नाना का कर घमंड ,
दो जगा आज स्मृतियाँ ज्वलन्त ,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

भूषण अथवा कवि चन्द नहीं ,
बिजली भर दे वह छन्द नहीं ,
है कलम बँधी स्वच्छन्द नहीं ,
फिर हमें बतावे कौन ? हन्त !
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

———

जलियाँवाला बाग में बसन्त

यहाँ कोकिला नहीं, काक हैं शोर मचाते ,
काले-काले कीट, भ्रमर का भ्रम उपजाते ।
कलियाँ भी अधखिली, मिली हैं कंटक-कुल से ,
वे पौधे, वे पुष्प शुष्क हैं अथवा झुलसे ।

परिमल-हीन पराग दाग-सा बना पड़ा है,
हा! यह प्यारा बाग खून से सना पड़ा है।
आओ, प्रिय ऋतुराज! किन्तु धीरे से आना,
यह है शोक-स्थान यहाँ मत शोर मचाना।

वायु चले, पर मन्द चाल से उसे चलाना,
दुख की आहें संग उड़ा कर मत ले जाना।
कोकिल गावे, किन्तु राग रोने का गावे,
भ्रमर करे गुंजार, कष्ट की कथा सुनावे।

लाना सँग में पुष्प, न हों वे अधिक सजीले,
तो सुगन्ध भी मन्द, ओस से कुछ-कुछ गीले।
किन्तु न तुम उपहार-भाव आ कर दरसाना,
स्मृति में पूजा हेतु यहाँ थोड़े बिखराना।

कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा-खा कर,
कलियाँ उन के लिए गिराना थोड़ी ला कर।
आशाओं से भरे हृदय भी छिन्न हुए हैं।
अपने प्रिय परिवार देश से भिन्न हुए हैं।

कुछ कलियाँ अधखिली यहाँ इस लिए चढ़ाना,
कर के उन की याद अश्रु के ओस बहाना।
तड़प-तड़प कर वृद्ध मरे हैं गोली खा कर,
शुष्क पुष्प कुछ वहाँ गिरा देना तुम जा कर।

यह सब करना, किन्तु यहाँ मत शोर मचाना,
यह है शोक-स्थान, बहुत धीरे से आना।

———

झाँसी की रानी

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आयी फिर से नयी जवानी थी।
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी,
चमक उठी सन सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

कानपूर के नाना की मुँहबोली बहन 'छबीली' थी,
लक्ष्मीबाई नाम, पिता की वह सन्तान अकेली थी,
नाना के संग पढ़ती थी वह, नाना के संग खेली थी,
बरछी-ढाल, कृपाण-कटारी, उस की यही सहेली थी;
वीर शिवाजी की गाथायें, उस को याद जबानी थीं।
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

लक्ष्मी थी या दुर्गा थीं वह स्वयं वीरता की अवतार,
देख मराठे पुलकित होते उस की तलवारों के वार,
नकली युद्ध व्यूह की रचना और खेलना खूब शिकार,
सैन्य घेरना, दुर्ग तोड़ना, ये थे उस के प्रिय खिलवार;
महाराष्ट्र-कुल-देवी उस की भी आराध्य भवानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

हुई वीरता की वैभव के साथ सगाई झाँसी में,
ब्याह हुआ रानी बन आयी लक्ष्मीबाई झाँसी में,
राजमहल में बजी बधाई खुशियाँ छायीं झाँसी में,
सुभट बुन्देलों की विरुदावलि-सी वह आयी झाँसी में।

चित्रा ने अर्जुन को पाया, शिव से मिली भवानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

उदित हुआ सौभाग्य, मुदित महलों में उजियाली छायी,
किन्तु काल-गति चुपके-चुपके काली घटा घेर लायी,
तीर चलाने वाले कर में उसे चूड़ियाँ कब भायीं!
रानी विधवा हुई, हाय! विधि को भी नहीं दया आयी।
निःसन्तान मरे राजा जी रानी शोक समानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुहँ हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

बुझा दीप झाँसी का तब डलहौजी मन में हरषाया,
राज्य हड़प करने का उसने यह अच्छा अवसर पाया,
फौरन फौजें भेज दुर्ग पर अपना झंडा फहराया,
लावारिस का वारिस बन कर ब्रिटिश राज्य झाँसी आया।
अश्रुपूर्ण रानी ने देखा झाँसी हुई बिरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

अनुनय-विनय नहीं सुनती है, विकट शासकों की माया,
व्यापारी बन दया चाहता था जब यह भारत आया,
डलहौज़ी ने पैर पसारे अब तो पलट गयी काया,
राजाओं-नव्वाबों को भी उसने पैरों ठुकराया।
रानी दासी बनी, बनी यह दासी अब महारानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

छिनी राजधानी देहली की, लिया लखनऊ बातों-बात,
कैद पेशवा था बिठूर में, हुआ नागपुर का भी घात,

उदैपूर, तंजोर, सतारा, कर्नाटक की कौन बिसात,
जब कि सिन्ध, पंजाब, ब्रह्म पर अभी हुआ था वज्र-निपात?
बंगाले, मद्रास आदि की भी तो वही कहानी थी।
बुन्देलों हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

रानी रोयीं रनिवासों में, बेगम गम से थीं बेज़ार,
उन के गहने-कपड़े बिकते थे कलकत्ते के बज़ार,
सरे-आम नीलाम छापते थे अँग्रेज़ों के अखबार,
'नागपूर के जेवर ले लो' 'लखनऊ के लो नौलख हार'।
यों परदे की इज्जत परदेशी के हाथ बिकानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

कुटियों में थी विषम वेदना, महलों में आहत अपमान,
वीर सैनिकों के मन में था अपने पुरखों का अभिमान,
नाना धुन्धू पन्त पेशवा जुटा रहा था सब सामान,
बहन छबीली ने रण-चंडी का कर दिया प्रकट आह्वान!
हुआ यज्ञ प्रारम्भ उन्हें तो सोयी ज्योति जगानी थी।
बुन्देलों हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

महलों ने दी आग, झोंपड़ी ने ज्वाला सुलगायी थी,
यह स्वतन्त्रता की चिनगारी अन्तरतम से आयी थी,
झाँसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छायी थीं,
मेरठ, कानपूर, पटना ने भारी धूम मचायी थी।
जबलपूर कोल्हापुर में भी कुछ हलचल उकसानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

इस स्वतन्त्रता-महायज्ञ में कई वीरवर आये काम ,
नाना धुन्धू पन्त, ताँतिया, चतुर अज़ीमुल्ला सरनाम ,
अहमदशाह मौलवी, ठाकुर कुँवरसिंह सैनिक अभिराम ,
भारत के इतिहास-गगन में अमर रहेंगे जिन के नाम ।
लेकिन आज जुर्म कहलाती उन की जो कुर्बानी थी !
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी ।

इन की गाथा छोड़, चलें हम झाँसी के मैदानों में ,
जहाँ खड़ी है लक्ष्मीबाई मर्द बनी मर्दानों में ,
लेफ्टिनेंट वोकर आ पहुँचा, आगे बढ़ा जवानों में ,
रानी ने तलवार खींच ली, हुआ द्वन्द्व असमानों में ,
जख्मी हो कर वॉकर भागा, उसे अजब हैरानी थी ।
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी ।

रानी बढ़ी कालपी आयी कर सौ मील निरन्तर पार ,
घोड़ा थक कर गिरा भूमि पर, गया स्वर्ग तत्काल सिधार ,
यमुना तट पर अँग्रेजों ने फिर खायी रानी से हार ,
विजयी रानी आगे चल दी, किया गवालियर पर अधिकार ।
अँग्रेजों के मित्र सिन्धिया ने छोड़ी रजधानी थी ।
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी ।

विजय मिली, पर अंग्रेज़ों की फिर सेना घिर आयी थी ,
अब के जनरल स्मिथ सम्मुख था, उसने मुँह की खायी थी ,
काना और मुन्दरा सखियाँ रानी के संग आयी थीं ,
युद्ध-क्षेत्र में उन दोनों ने भारी मार मचायी थी ।
पर पीछे ह्यूरोज़ आ गया, हाय ! घिरी अब रानी थी ।
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी ।

तो भी रानी मार-काट कर चलती बनी सैन्य के पार,
किन्तु सामने नाला आया, था यह संकट विषम अपार।
घोड़ा अड़ा, नया घोड़ा था, इतने में आ गये सवार,
रानी एक शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार पर वार;
घायल होकर गिरी सिंहनी उसे वीरगति पानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

रानी गयी सिधार, चिता अब उस की दिव्य सवारी थी,
मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी,
अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी,
हमको जीवित करने आयी बन स्वतन्त्रता नारी थी।
दिखा गई पथ, सिखा गयी हम को जो सीख सिखानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

जाओ रानी! याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी,
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी,
होवे चुप इतिहास, लगे सच्चाई को चाहे फाँसी,
हो मदमाती विजय, मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी;
तेरा स्मारक तू ही होगी, तू खुद अमिट निशानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

मेरी टेक

निर्धन हों धनवान, परिश्रम उन का धन हो।
निर्बल हों बलवान, सत्यमय उन का मन हो।

हों स्वाधीन गुलाम, हृदय में अपनापन हो।
इसी आन पर, कर्मवीर तेरा जीवन हो।

तो, स्वागत सौ बार
करूँ आदर से तेरा।
आ, कर दे उद्धार,
मिटे अन्धेर अँधेरा।

रामधारीसिंह 'दिनकर'

हिमालय के प्रति

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
साकार, दिव्य, गौरव विराट !
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त ,
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान
निस्सीम व्योम में तान रहे ,
युग से किस महिमा का वितान ।
कैसी अखंड यह चिर-समाधि ?
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान
तू महाशून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान ?
उलझन का कैसा विषम जाल ,
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
ओ, मौन तपस्या-लीन यती !
पल-भर को तो कर दृगोन्मेष !
रे ज्वालाओं से दग्ध, विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश !
सुखसिन्ध, पंचनद, ब्रह्मपुत्र
गंगा यमुना की अमिय-धार
जिस पुण्यभूमि की ओर बही
तेरी विगलित करुणा उदार ।
जिसके द्वारों पर खड़े क्रान्त
सीमापति ! तूने की पुकार ।
"पद-दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार ।"

उस पुण्यभूमि पर आज तपी
रे ! आन पड़ा संकट कराल ,
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे ,
डँस रहे चतुर्दिक विविध व्याल ।
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

कितनी मणियाँ लुट गयीं ? मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष !
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश ।
कितनी द्रुपदों के बाल खुले ,
कितनी कलियों का अन्त हुआ ;
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ !

पूछे, सिकता-कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
वन-वन स्वतन्त्रता-दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहाँ ?
तू पूछ अवध से, राम कहाँ ?
वृन्दा ! बोलो, घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक ?
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?

पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी ,
तू पूछ कहाँ इसने खोयीं
अपनी अनन्त-निधियाँ सारी ?
री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मंगल-उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, ईरान, जापान, चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ ?

वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता
विद्यापति-कवि के गान कहाँ ?
तू मौन त्याग कर पूछ आज ,
बंगाल, नवाबी ताज कहाँ ?
भारत का अन्तिम ज्योति-नयन
मेरा प्यारा 'सीराज' कहाँ ?
तू तरुण देश से पूछ अरे !
गूँजा कैसा यह ध्वंस-राग ?
अम्बुधि-अन्तस्तल-बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग ?
प्राची के प्रांगण-बीच देख
जल रहा स्वर्ण-युग-अग्निज्वाल ,
तू सिंहनाद कर जाग यती !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
रे ! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर !
पर फिरा हमें गांडीव, गदा ,
लौटा दे अर्जुन, भीम वीर।
कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार ;
सारे भारत में गूँज उठे
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार !
ले अँगड़ायी उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद ,
तू शैलराट् ! हुंकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद।
तू मौन त्याग, कर सिंहनाद
तू तपी ! आज तप का न काल ;

नवयुग-शंखध्वनि जगा रही
तू जाग, जाग, मेरे विशाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
नवयुग-शंखध्वनि जगा रही
जागो नगपति ! जागो विशाल !

मिथिला

मैं पतझड़ की कोयल उदास
बिखरे वैभव की रानी हूँ,
मैं हरी भरी हिम शल तटी
की विस्मृत स्वप्न कहनी हूँ।

अपनी माँ की मैं वाम भृकुटि
गरिमा की हूँ धूमिल छाया,
मैं विकल सान्ध्य रागिनी करुण
मैं मुरझी सुषमा की माया।

मैं क्षीण प्रभा, मैं हत आभा
सम्प्रति भिखारिणी मतवाली,
खँडहर में खोज रही अपने
उजड़े सुहाग की हूँ लाली।

मैं जनक कपिल की पुण्य जननि
मेरे पुत्रों का महा-ज्ञान,
मेरी सीता ने दिया विश्व
की रमणी को आदर्श दान।

मैं वैशाली के आस पास
बैठी नित खँडहर में अजान,
सुनती हूँ साश्रु नयन अपने
लिच्छवि-वीरों के कीर्ति-गान।

नीरव निशि में गंडकी विमल
कर देती मेरे विकल प्राण,
मैं खड़ी तीर पर सुनती हूँ
विद्यापति कवि के मधुर गान।

नीलम घन गरज गरज बरसें
रिमझिम रिमझिम रिमझिम अथोर,
लहरें गाती हैं मधुविहाग
'हे हे सखि! हमर दुख क न ओर।'

चाँदनी-बीच धन खेतों में
हरियाली बन लहराती हूँ,
आती कुछ सुधि, पगली दौड़ी
मैं कपिलवस्तु को जाती हूँ।

बिखरे लट आँसू छलक रहे
मैं फिरती हूँ मारी मारी,
कण कण में खोज रही अपनी
खोई अनन्त निधियाँ सारी।

मैं उजड़े उपवन की मालिन
उठती मेरे हिय विषम हूक,
कोकिला नहीं, इस कुंज बीच
रह रह अतीत सुध रही कूक।

मैं पतझड़ की कोयल उदास
बिखरे वैभव की रानी हूँ ,
मैं हरी भरी हिमशैल तटी
की विस्मृत स्वप्न कहानी हूँ ।

निर्झरिणी

मधु-यामिनी अंचल-ओट में सोयी थी
बालिका-जूही उमंग-भरी ,
विधु-रंजित ओस-कणों से भरी
थी बिछी वन-स्वप्न-सी दूब हरी ।
मृदु चाँदनी-बीच थी खेल रही
वन-फूलों के शून्य में इन्द्र-परी ,
कविता बन शैल-महाकवि के
उर से मैं तभी अनजान झरी ।

हरिणी-शिशु ने निज लास दिया
मधु राका ने रूप दिया अपना ,
कुमुदी ने हँसी, परियों ने उमंग
चकोरी ने प्रेम में यों तपना ।
नभ नील ने जन्म-घड़ी ही में नील
समुद्र का भव्य दिया सपना ,
"पी कहाँ" कह प्रेमी पपीहरे ने
सिखलाया मुझे "पी कहाँ" जपना।

गति-रोध किया गिरि ने, पर मैं
द्रुत भाग चली घहराती हुई ,
सरकी उपलों में भुजंगिनी-सी
मैं शिला से कहीं टकराती हुई ।

जननी-गृह छोड़ चली, मुड़ देखा
कभी न उसे ललचाती हुई,
गिरि-शृंग से कूद पड़ी मैं अभय
"पी कहाँ ? पी कहाँ ?" धुन गाती हुई।

वनभूमि ने दूब के अंचल में
गिरि से गिरते मुझे छान लिया,
गिरि-मल्लिका कुन्तल-बीच पिरो
मुझको निज बालिका मान लिया।
कलियों ने सुहाग के मोती दिये
नव ऊषा ने सिन्दूर-दान दिया,
जगती को हरी लख मैंने हरी-हरी
दूबों का ही परिधान लिया।

तट की हिम-राशि की आरसी में
अपनी छवि देख दिवानी हुई,
प्रिय-दर्शन-आकुल-लालसा में
पिघली, पल में घुल पानी हुई।
टकराने चली मैं असीम के वृक्ष से
रूप के ज्वार की रानी हुई,
उन्माद की रागिनी, बेकली की
अपनी ही मैं आप कहानी हुई।

जननी-धरणी मुझे गोद लिये
थी सचेत कि मैं भग जाऊँ नहीं,
वन-जन्तुओं के शिशु आन जुटे
कि सखा बिन मैं दुख पाऊँ नहीं।
थी डरी मैं, पड़ी ममता में कहीं
इस देश में ही रह जाऊँ नहीं,
प्रिय देखे बिना झर जाऊँ न व्यर्थ
कहीं छवि यों ही गँवाऊँ नहीं।

एक रोज़ उनींदी हुई जो धरा
द्रुत भागी मैं आँख बचाती हुई ,
वन-वल्लरी-अंचल-बीच कहीं
तृण पुंज में वेश छिपाती हुई ।
निकली द्रुम-कुंज की छाँह से तो
मैं चली फिर से घहराती हुई ,
सिकता-से पिपासित विश्व के कंठ में
स्वर्ग-सुधा सरसाती हुई ।

\+ + +

वनदेवि ! द्रुमांचल श्याम हिला
फिरने का करो न इशारा मुझे ,
उपलो ! पद यों न गहो, भुज खोल
न बाँध तू हाय ! किनारा ! मुझे !
किस की ध्वनि दूर से आयी ? पुकार
रहा सुन, अम्बुधि प्यारा मुझे ,
जननी-धरणी ! तिरछी हो जरा
अरी वेग से खींच तू धारा ! मुझे ।

अभिसारिका मैं मिलने हूँ चली ,
प्रिय-पंथ रे कोई बताना जरा ,
किस शूली पै "मीरा" पिया की है सेज
इशारों से कोई दिखाना जरा ।
पथ-भूली-सी कुंज में राधिका के
हिय श्याम ! तू वेणु बजाना जरा ।
तुझ में प्रिय ! खोने को तो आ रही
पर तू भी गले से लगाना जरा !

——

गीत-अगीत

गीत, अगीत कौन सुन्दर है ?

(१)

गाकर गीत विरह के तटिनी
वेगवती बहती जाती है,
दिल हलका कर लेने को
उपलों से कुछ कहती जाती है।
तट पर एक गुलाब सोचता—
"देते स्वर यदि मुझे विधाता,
अपने पतझड़ के सपनों का
मैं भी जग को गीत सुनाता।"
गा-गा कर बह रही निर्झरी,
पाटल मूक खड़ा तट पर है।
गीत, अगीत कौन सुन्दर है ?

(२)

बैठा शुक उस घनी डाल पर
जो खोंते पर छाया देती,
पंख फुला नीचे खोंते में
शुकी बैठ अण्डे है सेती।
गाता शुक जब किरण बसन्ती
छूती अंग पर्ण से छनकर,
किन्तु, शुकी के गीत उमड़कर
रह जाते सनेह में सनकर।
गूँज रहा शुक का स्वर वन में,
फूला मग्न शुकी का पर है।
गीत, अगीत, कौन सुन्दर है ?

(३)

दो प्रेमी हैं यहाँ, एक जब
बड़े साँझ आल्हा गाता है,

पहला स्वर उसकी राधा को
घर से यहाँ खींच लाता है।
चोरी-चोरी खड़ी नीम की
छाया में छिप कर सुनती है,
'हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की
विधना, यों मन में गुनती है।
वह गाता, पर किसी वेग से
फूल रहा इसका अन्तर है।
गीत, अगीत कौन सुन्दर है?

अगुरु-धूम

कल मुझे पूजकर चढ़ा गया
अलि, कौन अपरिचित हृदय-हार?
मैं समझ न पायी गूढ़ भेद,
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(१)

श्रुति को इतना भर याद, भिक्षु
गुनगुना रहा था मर्म्मगान—
"आ रहा दूर से मैं निराश
तुम दे पाओगी तृप्ति-दान?
यह प्रेम-बुद्ध के लिए भीख
चाहिए नहीं धन, रूप, देह,
मैं याच रहा बलिदान पूर्ण,
है यहाँ किसी में सत्य-स्नेह?
पुरनारि! तुम्हारे ग्राम-बीच
भगवान पड़े हैं निराहार।"

मैं समझ न पाई गूढ़ भेद ;
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(२)

सिहरा जाने क्यों, मुझे देख
बोला—"पूरेगी आज आस
पहचान गया मैं सिद्धि देवि !
हो तुम्हीं यज्ञ का शुचि हुताश।
मैं अमित युगों से हेर रहा ,
देखी न कभी यह विमल कान्ति ,
ऐसी स्व-पूर्ण भ्रू-बँधी तरी ,
ऐसी अमेय, निर्मोघ शान्ति।
नभ-सदृश चतुर्दिक तुम्हें घेर
छा रहे प्रेम-प्रभु निराकार।"
मैं समझ न पायी गूढ़ भेद ,
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(३)

अपनी छवि में मैं आप लीन
रह गयी विमुख, करते विचार—
'वाणी प्रशस्ति की नई सीख
आया फिर कोई चाटुकार।'
पर वीतराग-नभ चला भिक्षु ,
रचकर मेरा अर्चन-विधान ;
कह, "चढ़ा चुका मैं पुष्प, अधिक
अब और सिद्धि क्या मूल्यवान ?
फिर कभी खोजने आऊँगा, पद
पर जो रख जा रहा प्यार।"
मैं समझ न पायी गूढ़ भेद ,
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(४)

"अब और सिद्धि क्या मूल्यवान ?"
मैं चौंक उठी सहसा अधीर ;
फट गया गहन मन का प्रमाद ,
आ लगा वह्नि का प्रखर तीर ।
उठ विकल धूम के बीच दौड़
बोलूँ जब तक "ठहरो किशोर ।"
तब तक स्व-सिद्धि को शिला जान
था चला गया साधक कठोर ।
मैंने देखा वह धूम्र-जाल ,
मैंने पाया वह सुमन-हार ;
पर, देख न पायी उन्हें सजनि !
भर गया अगुरु का अन्धकार ।

(५)

तुम तो पथ के चिर-पथिक भिक्षु !
कब ले सकते किस घर विराम ?
मैं ही न हाय, पहचान सकी
करगत जीवन का स्वर्ण याम ।
है तृषित कौन ? है जलन कहाँ ?
मेघों को इसका नहीं ध्यान ;
यह तो मिट्टी का भाग्य, कभी
मिल जाता उसको अमृत-दान ।
फिरता न कभी मधुमास वही
शत हृदय खिलाकर एक बार ;
मैं समझ न पायी गूढ़ भेद ,
भर गया अगुरु का अन्धकार ।

(६)

चरणों पर कल जो चढ़ा गये
तुम देव ! हृदय का मधुर प्यार ,

मन में, पुतली में उसे सजा
मैं आज रही धो वार-वार ;
जो तुम्हें एक दिन देख नहीं
पायी अपने भ्रम में विभोर ,
आकर सुन लो टुक आज उसी
पाषाणी का क्रन्दन किशोर !
छिपकर तुम पूज गये उस दिन ,
छिपकर उस दिन मैं गयी हार ;
पर छिपा सकेगा अश्रु-ज्योति
क्या आज अगुरु का अन्धकार !

(७)

कल छोड़ गये जो दीप द्वार पर ,
उर पर वह आसीन आज ;
साधना-चरण की रेणु हेतु
है विकल सिद्धि अति दीन आज ;
मन की देवी को फूल चढ़ा ;
चाहिए तुम्हें कुछ नहीं और ;
पर, विजित सिद्धि के लिए कहाँ
साधक-चरणों के सिवा ठौर !
मैं भेद न सकती तिमिर-पुंज ,
तुम सुन सकते न करुण पुकार ;
साधना-सिद्धि के बीच हाय ,
छा रहा अगुरु का अन्धकार ।

(८)

मैं रह न गयी मानवी आज ,
देवी कह तुमने की न भूल ;
अन्तर का कंचन चमक उठा ,
जल गया मैल, झर गयी धूल ;

नव दीप्ति लिये नारीत्व जगा
यह पहन तुम्हारी विजय-माल ;
कुछ नई विभा ले उठी फूल
जीवन-विटपी की डाल-डाल।
देखे जग मुझमें आज स्त्रीत्व
का महामहिम पूर्णावतार ;
मैं खड़ी, चतुर्दिक मुझे घेर
छा रहा अगुरु का अन्धकार।

(९)

कल सौंप गये जो मुझे प्रेम ,
देखो उसका श्रृङ्गार आज ;
मैं कनक-थाल भर खड़ी, बुद्ध
हित ले जाओ उपहार आज ;
सब भूल गयी, कुछ याद नहीं
तरुणी के मद की बात आज ;
आओ, पग छू हो जाऊँगी
रमणी मैं रातों-रात आज।
माँ की ममता, तरुणी का व्रत ,
भगिनी का लेकर मधुर प्यार ,
आरती त्रिवर्तिक सजा, करूँगी
भिन्न अगुरु का अन्धकार।
बह रही हृदय-यमुना अधीर
भर, उमड़ लबालब कोर-कोर ,
आओ, कर लो नौका-विहार ,
लौटो भिक्षुक, लौटो किशोर !

कत्तिन का गीत

कात रही, सोने का गुन चाँदनी रूप-रस-बोरी ;
कात रही रुपहरे धाग दिनमणि की किरण किशोरी।

घन का चरखा चला इन्द्र करते नव जीवन-दान ;
तार-तार पर मैं काता करती इज्जत-सम्मान।
हरी डार पर श्वेत फूल; यह तूल-वृक्ष मन-भाया ;
श्याम हिन्द हिम-मुकुट-विमंडित खेतों में मुसकाया।
श्वेत कमल-सी रूई मेरी; मैं कमला महरानी ;
कात रही किस्मत स्वदेश की क्षीरोदधि की रानी।
यह घर्घर का नाद, कि चरखे की बुलबुल की लय है ?
यह रूई का तार, कि फूटा जग-जननी का पय है ?
धाग-धाग में निहित निःस्व, रिक्तों का धन-संचय है ;
तार-तार पर चढ़ कर चलती कोटि-कोटि की जय है।
बोल काठ की बुलबुल, मुहँ का कौर न रहे अलोना ;
सैटिन पर बह जाय नहीं पानी-सा चाँदी-सोना।
एक तार भी कात सुहागिन, यह भी नहीं अकाज ;
स्यात्, छिपा दे यही नग्न के किसी रोम की लाज।
मधुर चरखे का घर्घर गान ;
देश का धाग-धाग कल्याण।

क्यों लिखते हो ?

तुम क्यों लिखते हो ? क्या अपने अन्तरतम को
औरों के अन्तरतम के साथ मिलाने को ?
अथवा शब्दों की तह पर तह पोशाक पहन
जग की आँखों से अपना रूप छिपाने को ?
यदि छिपा चाहते हो दुनिया की आँखों से
तब तो मेरे भाई ! तुमने यह बुरा किया।
है किसे फिक्र ही यहाँ कौन क्या लाया है ?
तुमने ही क्यों अपने को अद्भुत मान लिया ?

कहने वाले जानें क्या-क्या कहते आये ,
सुननेवालों ने मगर कहो क्या पाया है ?
मथ रही मनुज को जो अनन्त जिज्ञासाएँ ,
उत्तर क्या उन का कभी जगत में आया है ?
अच्छा बोलो, आदमी एक मैं भी ठहरा ,
अम्बर से मेरे लिए चीज क्या लाये हो ?
मिट्टी पर हूँ मैं खड़ा जरा नीचे देखो ,
ऊपर क्या है जिस पर टकटकी लगाये हो ?
तारों में है संकेत ? चाँदनी में छाया ?
बस यही बात हो गयी सदा दुहराने की ?
सनसनी, फेन, बुद्‌बुद्, सब कुछ सोपान बना ,
अच्छी निकली यह राह सत्य तक जाने की।
दावा करते हैं शब्द जिसे छू लेने का ,
क्या कभी उसे तुमने देखा या जाना है ?
तुतले कम्पन उठते हैं जिस गहराई से ,
अपने भीतर क्या कभी उसे पहचाना है ?
जो कुछ खुलता सामने, समस्या है केवल ,
असली निदान पर जड़े वज्र के ताले हैं ,
उत्तर शायद हो छिपा मूकता के भीतर
हम तो प्रश्नों का रूप सजाने वाले हैं।
तब क्यों रचते हो वृथा स्वांग मानो सारा ,
आकाश और पाताल तुम्हारे कर में हो ?
मानो मनुष्य नीचे हो तुम से बहुत दूर ,
मानो कोई देवता तुम्हारे स्वर में हो।
मिहिका रचते हो ? रचो; किन्तु क्या फल इसका ?
खुलने की जोखिम से वह तुम्हें बचाती है ?
लेकिन मनुष्य की आभा और सघन होती ,
धरती की किस्मत और भरमती जाती है।
धो डालो फूलों का पराग गालों पर से ,

आनन पर से यह आनन अपर हटाओ तो
कितने पानी में हो ? इस को जग भी देखे,
तुम पल भर को केवल मनुष्य बन जाओ तो।
सच्चाई की पहचान कि पानी साफ रहे
जो भी चाहे, ले परख जलाशय के तल को।
गहराई का वे भेद छिपाते हैं केवल
जो जान बूझ गँदला करते अपने जल को।

——

बलि की खेती

ओ अनिल-स्कन्ध पर चढ़े हुए प्रच्छन्न अनल !
हुतप्राण वीर की ओ ज्वलन्त इच्छा अशेष !
यह नहीं तुम्हारी अभिलाषाओं की मंजिल,
यह नहीं तुम्हारे सपनों से उत्पन्न देश।
काया-प्रकल्प के बीज मृत्ति में रहे ऊँघ,
हैं ऊँघ रहे आदर्श तुम्हारे महाप्राण।
बलिसिक्त भूमि में जिन्हें गिराया था मैं ने,
जाने मेरे भी ऊँघ रहे वे कहाँ गान ?
यह सुरभि नहीं, मधु स्वप्न तुम्हारे जलते हैं,
यह चमक ? तुम्हारे अरमानों में लगी आग।
श्री नहीं छद्मिनी कोई वेश बदल आयी,
मल खूब तुम्हारी इच्छा का मुहँ पर पराग।
जादू की यह चाँदनी, धूप की चमक-दमक,
ये फूल और ये दीप, सभी छिप जायेंगे ;
बलि की खेती पर पड़ी पपड़ियों को उछाल,
अपने जब सूरज और चाँद उग आयेंगे।
अंजलि भर जल से भी उगते दूर्वा के दल,
वसुधा न मूल्य के बिना कभी कुछ लेती है।

औ' शोणित से सींचते अंग हम जब उस का ,
बदले में सूरज-चाँद हमें वह देती है।

भाइयो और बहनो !

लो शोणित, कुछ नहीं अगर
यह आँसू और पसीना !
सपने ही जब धधक उठें
तब धरती पर क्या जीना ?
सुखी रहो, दे सका नहीं मैं
जो कुछ रो-समझा कर ,
मिले कभी वह तुम्हें भाइयो
बहनो ! मुझे गँवा कर !

व्याल-विजय

झूमे जहर चरण के नीचे मैं उमंग में गाऊँ।
तान, तान, फण व्याल ! कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।
यह बाँसुरी बजी माया के मुकुलित आकुंचन में ,
यह बाँसुरी बजी अविनाशी के संवेश गहन में।
सत्त्वों के अनस्तित्व में, महाशान्ति के तल में ,
यह बाँसुरी बजी शून्यासन की समाधि निश्चल में।
कम्पहीन तेरे समुद्र में जीवन-लहर उठाऊँ !
तान, तान, फण व्याल ! कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।
अक्षयवट पर बजी बाँसुरी, गगन मगन लहराया ,
दल पर विधि को लिये जलधि में नाभि-कमल उग आया।

जन्मी नव चेतना, सिहरने लगे तत्त्व चल-दल से ,
स्वर का ले अवलम्ब भूमि निकली प्लावन के जल से ।
अपने आर्द्र वसन की वसुधा को फिर याद दिलाऊँ ।
तान, तान, फण व्याल ! कि तुझपर मैं बाँसुरी बजाऊँ ।
फूली सृष्टि नाद-बन्धन पर, अब तक फूल रही है ,
वंशी के स्वर के धागे में धरती झूल रही है ।
आदि-छोर पर जो स्वर फूँका, दौड़ा अन्त तलक है ,
तार-तार में गूँज गीत की, कण-कण-बीच झलक है ।
आलापों पर उठा जगत को भर-भर पेंग झुलाऊँ ।
तान, तान, फण व्याल ! कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ ।
जगमग ओस-विन्दु गुँथ जाते साँसों के तारों में ,
गीत बदल जाते अनजाने मोती के हारों में ।
जब-जब उठता नाद, मेघ मंडलाकार घिरते हैं ,
आस-पास वंशी के गीले इन्द्रधनुष तिरते हैं ।
बाँधूँ मेघ कहाँ सुरधनु पर ? सुरधनु कहाँ सजाऊँ ?
तान, तान, फण व्याल ! कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ ।
उड़े नाद के जो कण ऊपर वे बन गये सितारे ,
नीचे जो रह गये, कहीं हैं फूल, कहीं अंगारे ।
भीगे अधर कभी वंशी के शीतल गंगा जल से ,
कभी प्राण तक झुलस उठे हैं इस के हालाहल से ।
शीतलता पी कर प्रदाह से कैसे हृदय चुराऊँ ?
तान, तान, फण व्याल ! कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ ।
इस वंशी के मधुर नाद पर माया डोल चुकी है ,
पटावरण कर दूर भेद अन्तर का खोल चुकी है ।
झूम चुकी है प्रकृति चाँदनी में मादक गानों पर ,
नचा चुका है महानर्तकी को इस की तानों पर ।
विषवर्षी पर अमृतवर्षिणी का जादू अजमाऊँ ।
तान, तान, फण व्याल ! कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ ।
यह बाँसुरी बजी, मधु के सोते फूटे मधुवन में ,
यह बाँसुरी बजी, हरियाली दौड़ गयी कानन में ।

यह बाँसुरी बजी, प्रत्यागत हुए विहंग गगन से,
यह बाँसुरी बजी, सरका विधु चलने लगा गगन से।
अमृत सरोवर में धो-धो तेरा भी जहर बहाऊँ।
तान, तान, फण व्याल! कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।
यह बाँसुरी बजी पनघट पर कालिन्दी के तट में,
यह बाँसुरी बजी मुरदों के आसन पर मरघट में।
बजी निशा के बीच आलुलायित केशों के तम में,
बजी सूर्य के साथ यही बाँसुरी रक्त-कर्दम में।
कालिय-दह में मिले हुए विष को पीयूष बनाऊँ।
तान, तान, फण व्याल! कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।
फूँक-फूँक विष लपट, उगल जितना हो जहर हृदय में,
वंशी यह निर्गरल बजेगी सदा शान्ति की लय में।
पहचाने किस तरह भला तू निज विष का मतवाला!
मैं हूँ साँपों की पीठों पर कुसुम लादने वाला।
विषदह से चल निकल फूल से तेरा अङ्ग सजाऊँ।
तान, तान, फण व्याल! कि तुझपर मैं बाँसुरी बजाऊँ।
ओ शंका के व्याल! देख मत मेरे श्याम बदन को,
चक्षुःश्रवा! श्रवण कर वंशी के भीतर के स्वन को।
जिसने दिया तुझे विष उसने मुझ को गान दिया है,
ईर्ष्या तुझे, उसी ने मुझ को भी अभिमान दिया है।
इस आशिष के लिए भाग्य पर क्यों न अधिक इतराऊँ?
तान, तान, फण व्याल! कि मुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।
विषधारी! मत डोल, कि मेरा आसन बहुत कड़ा है,
कृष्ण आज लघुता में भी साँपों से बहुत बड़ा है।
आया हूँ बाँसुरी-बीच उद्धार लिये जन-गण का,
फण पर तेरे खड़ा हुआ हूँ भार लिये त्रिभुवन का।
बढ़ा, बढ़ा नासिका, रंध्र में मुक्ति-सूत्र पहनाऊँ।
तान, तान, फण व्याल! कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

——

युधिष्ठिर की ग्लानि

शृंग चढ़ जीवन के आर-पार हेरते-से
योग-लीन लेटे थे पितामह गभीर-से,
देख धर्मराज ने विभा प्रसन्न फैल रही
श्वेत शिरोरुह शर-ग्रथित शरीर से।
करते प्रणाम, छूते सिर से पवित्र पद
उँगली को धोते हुए लोचनों के नीर से
'हाय पितामह, महाभारत विफल हुआ'
चीख उठे धर्मराज व्याकुल अधीर-से।
"वीर गति पा कर सुयोधन चला है गया
छोड़ मेरे सामने अशेष ध्वंस का प्रसार;
छोड़ मेरे हाथ में शरीर निज प्राणहीन
व्योम में बजाता जय-दुन्दुभि-सा बार-बार;
और यह मृतक शरीर जो बचा है शेष,
चुप-चाप मानो पूछता है मुझ से पुकार—
'विजय का एक उपहार मैं बचा हूँ, बोलो,
जीत किस की है और किस की हुई है हार?'
"हाय पितामह, हार किसकी हुई है यह?
ध्वंस अवशेष पर सिर धुनता है कौन?
कौन भस्मराशि में विफल सुख ढूँढ़ता है?
लपटों से मुकुट का पट बुनता है कौन?
और बैठ मानव की रक्त सरिता के तीर
नियति के व्यंग्य-भरे अर्थ सुनता है कौन?
कौन देखता है शवदाह बन्धु-बान्धवों का?
उत्तरा का करुण विलाप सुनता है कौन?
"जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का,
तन-बल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता;
तप से, सहिष्णुता से, त्याग से सुयोधन को
जीत, नयी नींव इतिहास की मैं धरता;

और कहीं वज्र गलता न मेरी आह से जो ,
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता ;
तो भी हाय, यह रक्तपात नहीं करता मैं ,
भाइयों के संग कहीं भीख माँग मरता ।
"किन्तु, हाय, जिस दिन बोया गया युद्ध-बीज
साथ दिया मेरा नहीं मेरे दिव्य ज्ञान ने ;
उलट दी मति मेरी भीम की गदा ने औ
पार्थ के शरासन ने, अपनी कृपाण ने ;
और जब अर्जुन को मोह हुआ रण-बीच ,
बुझती शिखा में दिया घृत भगवान ने ;
सब की सुबुद्धि पितामह हाय, मारी गयी ,
सब को विनष्ट किया एक अभिमान ने ।
"कृष्ण कहते हैं, युद्ध अनघ है, किन्तु, मेरे
प्राण जलते हैं पल-पल परिताप से ,
लगता मुझे है क्यों मनुष्य बच पाता नहीं
दह्यमान इस पुराचीन अभिशाप से !
और महाभारत की बात क्या ? गिराये गये
जहाँ छल-छद्म से वरेण्य वीर आप-से ,
अभिमन्यु वध औ' सुयोधन का वध हाय ,
हममें बचा है यहाँ कौन, किस पाप से ?
"एक ओर सत्यमयी गीता भगवान की है ,
एक ओर जीवन की विरति प्रबुद्ध है ;
जानता हूँ, लड़ना पड़ा था हो विवश, किन्तु ,
लोहू-सनी जीत मुझे दीखती अशुद्ध है ;
ध्वंसजन्य सुख ? या कि साश्रु दुख शान्तिजन्य
ज्ञान नहीं कौन बात नीति के विरुद्ध है ;
जानता नहीं मैं कुरुक्षेत्र में खिला है पुण्य
या महान् पाप यहाँ फूटा बन युद्ध है ?
"सुलभ हुआ है जो किरीट कुरुवंशियों का
उसमें प्रचंड कोई दाहक अनल है ;

अभिषेक से क्या पाप मन का धुलेगा कभी !
पापियों के हित तीर्थ-वारि हलाहल है ;
विजय कराल नागिनी-सी डँसती है मुझे ,
इससे न जूझने को मेरे पास बल है ;
ग्रहण करूँ मैं कैसे ! बार-बार सोचता हूँ
राजसुख लोहू-भरी कीच का कमल है ।
"बालहीना माता की पुकार कभी आती और
आता कभी आर्तनाद पितृहीन बाल का ;
आँख पड़ती है जहाँ, हाय, वहीं देखता हूँ
सेंदुर पुछा हुआ सुहागिनी के भाल का ;
बाहर से भाग कक्ष में जो छिपता हूँ कभी
तो भी सुनता हूँ अट्टहास क्रूर काल का ;
और सोते-जागते में चौंक उठता हूँ, मानो
शोणित पुकारता हो अर्जुन के लाल का ।
"जिस दिन समर की अग्नि बुझ शान्त हुई
एक आग तब से ही जलती है मन में ;
हाय, पितामह, किसी भाँति नहीं देखता हूँ
मुँह दिखलाने योग्य निज को भुवन में ;
ऐसा लगता है, लोग देखते घृणा से मुझे ,
धिक् सुनता हूँ अपने पै कण-कण में ,
मानव को देख आँखें आप झुक जातीं, मन—
चाहता अकेला कहीं भाग जाऊँ वन में ।
"करूँ आत्मघात तो कलंक और घोर होगा ,
नगर को छोड़ अतएव वन जाऊँगा ;
पशु-खग भी न देख पायें जहाँ, छिप किसी
कन्दरा में बैठ अश्रु खुल के बहाऊँगा ;
जानता हूँ, पाप न धुलेगा वनवास से भी ,
छिपा तो रहूँगा, दुःख कुछ तो भुलाऊँगा ;
व्यंग्य से बिंधेगा वहाँ जर्जर हृदय तो नहीं ,
वन में कहीं तो धर्मराज न कहाऊँगा ।"

और कहीं वज्र गलता न मेरी आह से जो ,
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता ;
तो भी हाय, यह रक्तपात नहीं करता मैं ,
भाइयों के संग कहीं भीख माँग मरता ।
"किन्तु, हाय, जिस दिन बोया गया युद्ध-बीज
साथ दिया मेरा नहीं मेरे दिव्य ज्ञान ने ;
उलट दी मति मेरी भीम की गदा ने औ
पार्थ के शरासन ने, अपनी कृपाण ने ;
और जब अर्जुन को मोह हुआ रण-बीच ,
बुझती शिखा में दिया घृत भगवान ने ;
सब की सुबुद्धि पितामह हाय, मारी गयी ,
सब को विनष्ट किया एक अभिमान ने ।
"कृष्ण कहते हैं, युद्ध अनघ है, किन्तु, मेरे
प्राण जलते हैं पल-पल परिताप से ,
लगता मुझे है क्यों मनुष्य बच पाता नहीं
दह्यमान इस पुराचीन अभिशाप से !
और महाभारत की बात क्या ? गिराये गये
जहाँ छल-छद्म से वरेण्य वीर आप-से ,
अभिमन्यु वध औ' सुयोधन का वध हाय ,
हममें बचा है यहाँ कौन, किस पाप से ?
"एक ओर सत्यमयी गीता भगवान की है ,
एक ओर जीवन की विरति प्रबुद्ध है ;
जानता हूँ, लड़ना पड़ा था हो विवश, किन्तु ,
लोहू-सनी जीत मुझे दीखती अशुद्ध है ;
ध्वंसजन्य सुख ? या कि साश्रु दुख शान्तिजन्य
ज्ञान नहीं कौन बात नीति के विरुद्ध है ;
जानता नहीं मैं कुरुक्षेत्र में खिला है पुण्य
या महान् पाप यहाँ फूटा बन युद्ध है ?
"सुलभ हुआ है जो किरीट कुरुवंशियों का
उसमें प्रचंड कोई दाहक अनल है ;

अभिषेक से क्या पाप मन का धुलेगा कभी !
पापियों के हित तीर्थ-वारि हलाहल है ;
विजय कराल नागिनी-सी डँसती है मुझे ,
इससे न जूझने को मेरे पास बल है ;
ग्रहण करूँ मैं कैसे ? बार-बार सोचता हूँ
राजसुख लोहू-भरी कीच का कमल है ।
"बालहीना माता की पुकार कभी आती और
आता कभी आर्तनाद पितृहीन बाल का ;
आँख पड़ती है जहाँ, हाय, वहीं देखता हूँ
सेंदुर पुछा हुआ सुहागिनी के भाल का ;
बाहर से भाग कक्ष में जो छिपता हूँ कभी
तो भी सुनता हूँ अट्टहास क्रूर काल का ;
और सोते-जागते में चौंक उठता हूँ, मानो
शोणित पुकारता हो अर्जुन के लाल का ।
"जिस दिन समर की अग्नि बुझ शान्त हुई
एक आग तब से ही जलती है मन में ;
हाय, पितामह, किसी भाँति नहीं देखता हूँ
मुहँ दिखलाने योग्य निज को भुवन में ;
ऐसा लगता है, लोग देखते घृणा से मुझे ,
धिक् सुनता हूँ अपने पै कण-कण में ,
मानव को देख आँखें आप झुक जातीं, मन—
चाहता अकेला कहीं भाग जाऊँ वन में ।
"करूँ आत्मघात तो कलंक और घोर होगा ,
नगर को छोड़ अतएव वन जाऊँगा ;
पशु-खग भी न देख पायें जहाँ, छिप किसी
कन्दरा में बैठ अश्रु खुल के बहाऊँगा ;
जानता हूँ, पाप न धुलेगा वनवास से भी ,
छिपा तो रहूँगा, दुःख कुछ तो भुलाऊँगा ;
व्यंग्य से बिंधेगा वहाँ जर्जर हृदय तो नहीं ,
वन में कहीं तो धर्मराज न कहाऊँगा ।"

और तब चुप हो रहे कौन्तेय,
संयमित करके किसी विधि शोक दुष्परिमेय ;
उस जलद-सा, एक पारावार
हो भरा जिसमें लबालब, किन्तु, जो लाचार—
बरस तो सकता नहीं, रहता मगर बेचैन है।

भीष्म ने देखा गगन की ओर ;
मापते मानो युधिष्ठिर के हृदय का छोर ;
और बोले—'हाय नर के भाग !
क्या कभी तू भी तिमिर के पार
उस महत् आदर्श के जग में सकेगा जाग,
एक नर के प्राण में जो हो उठा साकार है
आज दुख से, खेद से, निर्वेद के आघात से ?'

'पौरुष की जागृति कहाती धर्म युद्ध है।'

जिन की भुजाओं की शिराएँ फड़की ही नहीं
जिन के लहू में नहीं वेग है अनल का ;
शिव का पदोदक ही पेय जिनका है रहा,
चक्खा ही जिन्होंने नहीं स्वाद हलाहल का ;
जिन के हृदय में कभी आग सुलगी ही नहीं,
ठेस लगते ही अहंकार नहीं छलका ;
जिन को सहारा नहीं भुज के प्रताप का है,
बैठते भरोसा किये वे ही आत्मबल का।
उस की सहिष्णुता, क्षमा का है महत्व ही क्या
करना ही आता नहीं जिस को प्रहार है ?
करुणा, क्षमा को छोड़ और क्या उपाय उसे
ले न सकता जो वैरियों से प्रतिकार है ?

सहता प्रहार कोई विवश, कदर्य जीव
जिस की नसों में नहीं पौरुष की धार है ;
करुणा, क्षमा क्लीव जाति के कलंक घोर
क्षमता क्षमा की शूरवीरों का सिंगार है।
प्रतिशोध से हैं होती शौर्य की शिखाएँ दीप्त,
प्रतिशोध-हीनता नरों में महापाप है,
छोड़ प्रतिवैर पीते मूक अपमान वे ही
जिनमें न शेष शूरता का वह्नि-ताप है ;
चोट खा सहिष्णु व' रहेगा किस भाँति तीर
जिस के निषंग में, करों में दृढ़ चाप है ;
जेता के विभूषण सहिष्णुता-क्षमा हैं, किन्तु
हारी हुई जाति की सहिष्णुताऽभिशाप है।
सटता कहीं भी एक तृण जो शरीर से तो,
उठता कराल हो फणीश फुफकार है ;
सुनता गजेन्द्र की चिंघार जो वनों में कहीं
भरता गुहा में ही मृगेन्द्र हुहुंकार है ;
शूल चुभते हैं, छूते आग है जलाती; भू को—
लीलने को देखो गर्जमान पारावार है ;
जग प्रदीप्त है इसी का तेज, प्रतिशोध—
जड़-चेतनों का जन्मसिद्धि अधिकार है।
सेना साज हीन है परस्व हरने की वृत्ति,
लोभ की लड़ाई क्षात्रधर्म के विरुद्ध है ;
वासना-विषय से नहीं पुण्य उद्भूत होता,
वाणिज के हाथ की कृपाण ही अशुद्ध है ;
चोट खा परन्तु जब सिंह उठता है जाग,
उठता कराल प्रतिशोध हो प्रबुद्ध है ;
पुण्य खिलता है चन्द्रहास की विभा में तब,
पौरुष की जागृति कहाती धर्मयुद्ध है।
धर्म है हुताशन का धधक उठे तुरन्त,
कोई क्यों प्रचंड-वेग वायु को बुलाता है ?

फूटेगा कराल कंठ ज्वालामुखियों का ध्रुव ,
आनन पर बैठ विश्व धूम क्यों मचाता है ?
फूँक से जलायेगा अवश्य जगती को व्याल ,
कोई क्यों खरोंच मार उसको जगाता है ?
विद्युत् खगोल से अवश्य ही गिरेगी, कोई
दीप्त अभिमान को क्यों ठोकर लगाता है ?
युद्ध जो बुलाता है अनीति-ध्वजधारी या कि
वह जो अनिति-भाल पै दे पाँव चलता ?
वह जो दबा है शोषणों के भीम शैल से या
वह जो खड़ा है मग्न हँसता-मचलता ?
वह जो बना के शान्ति-व्यूह सुख लूटता या
वह जो अशान्त हो क्षुधानल से जलता ?
कौन है बुलाता युद्ध ? जाल जो बनाता ? या जो
जाल तोड़ने को क्रुद्ध काल-सा निकलता ?
पातकी न होता है प्रबुद्ध दलितों का खड्ग
पातकी बताना उसे दर्शन की भ्रान्ति है ;
शोषण की श्रृंखला के हेतु बनती जो शान्ति ,
युद्ध है यथार्थ में व' भीषण अशान्ति है ;
सहना उसे हो मौन हार मनुजत्व की है ,
ईश की अवज्ञा घोर, पौरुष की श्रान्ति है ;
पातक मनुष्य का है, मरण मनुष्यता का ,
ऐसी श्रृंखला में धर्म विप्लव है, क्रान्ति है ।

कर्म भूमि है निखिल महीतल

मिली युधिष्ठिर को यह आज्ञा आखिर रोते-रोते ,
आँसू के जल में अधीर अन्तर को धोते-धोते ।

कर्मभूमि के निकट विरागी को प्रत्यागत पा कर,
बोले भीष्म युधिष्ठिर का ही मनोभाव दुहरा कर।
"अन्त नहीं नर पन्थ का कुरुक्षेत्र की धूल,
आँसू बरसे तो यहीं, खिले शान्ति का फूल।

"द्वापर समाप्त हो रहा है धर्मराज, देखो,
लहर समेटने लगा है एक पारावार;
जग से बिदा हो जा रहा है काल खंड एक
साथ लिये अपनी समृद्धि की चिता का क्षार;
संयुग की धूलि में समाधि युग की ही बनी,
बह रही जीवन की आज भी अजस्रधार;
गत ही अचेत हो गिरा है मृत्यु-गोद-बीच,
निकट मनुष्य के अनागत रहा पुकार।

"मृत्ति के अधूरे, स्थूल भाग ही मिटे हैं यहाँ,
नर का जला है नहीं भाग्य इस रण में;
शोणित में डूबा है मनुष्य, मनुजत्व नहीं,
छिपता फिरा है देह छोड़ वह मन में;
आशा है मनुष्य की मनुष्य में, न ढूँढ़ो इसे,
धर्मराज, मानव का लोक छोड़ वन में;
आशा मनुजत्व की विजेता के विलाप में है,
आशा है मनुष्य की तुम्हारे अश्रु कण में।

"रण में प्रवृत्त रागप्रेरित मनुष्य होता,
रहती विरक्त किन्तु, मानव की मति है;
मन से कराहता मनुष्य, पर, ध्वंस-बीच
तन से नियुक्त उसे करती नियति है,
प्रतिशोध से हो दृप्त वासना हँसाती उसे,
मन को कुरेदती मनुष्यता की क्षति है;
वासना-विराग, दो कगारों में पछाड़ खाती,
जा रही मनुष्यता बनाती हुई गति है।

"ऊँचा उठ देखो तो किरीट, राज, धन, तप,
जप, याग, योग से मनुष्यता महान है;

धर्मसिद्ध रूप नहीं भेद-भिन्नता का यहाँ ,
कोई भी मनुष्य किसी अन्य के समान है ;
वह भी मनुष्य, है न धन और बल जिसे ,
मानव ही वह जो धनी या बलवान है ;
मिला जो निसर्ग-सिद्ध जीवन मनुष्य को है ,
उस में न दीखता कहीं भी व्यवधान है ।
"अब तक किन्तु, नहीं मानव है देख सका
श्रृंग चढ़ जीवन की समता-अमरता ;
प्रत्यय मनुष्य का मनुष्य में न दृढ़ अभी ,
एक दूसरे से अभी मानव है डरता ;
और है रहा सदैव शंकित मनुष्य यह
एक दूसरे में द्रोह-द्वेष-विष भरता ;
किन्तु, अब तक है मनुष्य बढ़ता ही गया
एक दूसरे से सदा लड़ता-झगड़ता ।
"कोटि नर वीर, मुनि मानव के जीवन का
रहे खोजते ही शिवरूप आयु-भर हैं ;
खोजते इसे ही सिन्धु मथित हुआ है और
छोड़े गये व्योम में अनेक ज्ञान-शर हैं ;
खोजते इसे ही पाप-पंक में मनुष्य गिरे ,
खोजते इसे ही बलिदान हुए नर हैं ;
खोजते इसे ही मानवों ने है विराग लिया ,
खोजते इसे ही किये ध्वंसक समर हैं ।
"खोजना इसे हो तो जलाओ शुभ्र ज्ञान-दीप ,
आगे बढ़ो वीर, कुरुक्षेत्र के श्मशान से ;
राग में विरागी, राजदंडधर योगी बनो ,
नर को दिखाओ पन्थ त्याग-बलिदान से ;
दलित मनुष्य में मनुष्यता के भाव भरो ,
दर्द की दुरग्नि करो दूर बलवान से ;
हिम-शीत भावना में आग अनुभूति की दो ,
छीन लो हलाहल उदग्र अभिमान से ।

* * *

"धर्मराज संन्यास खोजना
कायरता है मन की,
है सच्चा मनुजत्व ग्रन्थियाँ
सुलझाना जीवन की।

"दुर्लभ नहीं मनुज के हित
निज वैयक्तिक सुख पाना,
किन्तु कठिन है कोटि-कोटि
मनुजों को सुखी बनाना।

"एक पन्थ है, छोड़ जगत को
अपने में रम जाओ,
खोजो अपनी मुक्ति और
निज को ही सुखी बनाओ।

"अपर पन्थ है, औरों को भी
निज विवेक-बल दे कर,
पहुँचो स्वर्ग-लोक में जग से
साथ बहुत को ले कर।

*   *   *

"कर्मभूमि है निखिल महीतल,
जब तक नर की काया,
तब तक है जीवन के अणु-अणु
में कर्तव्य समाया।

"क्रिया-धर्म को छोड़ मनुज
कैसे निज सुख पायेगा?
कर्म रहेगा साथ, भाग वह
जहाँ कहीं जायेगा।

"धर्मराज, कर्मठ मनुष्य का
पथ संन्यास नहीं है,
नर जिस पर चलता वह
मिट्टी है, अकाश नहीं है।

*   *   *

"दीपक का निर्वाण बड़ा कुछ
श्रेय नहीं जीवन का,
है सद्धर्म्म दीप्त रख उस को
हरना तिमिर भुवन का।

*   *   *

"इस विविक्त, आहत वसुधा को
अमृत पिलाना होगा,
अमित लता-गुल्मों में फिर से
सुमन खिलाना होगा।

"हरना होगा अश्रु-ताप
हृत-बन्धु अनेक नरों का,
लौटाना होगा सुहास
अगणित विषण्ण अधरों का।

*   *   *

"मिट्टी का यह भार सम्हालो,
बन कर्मठ संन्यासी,
पा सकता कुछ नहीं मनुज
बन केवल व्योम-प्रवासी।

"ऊपर सब कुछ शून्य-शून्य है,
कुछ भी नहीं गगन में,
धर्मराज! जो कुछ है, वह है,
मिट्टी में, जीवन में।

"सम्यक-विधि से इसे प्राप्त कर
नर सब कुछ पाता है,
मृत्ति-जयी के पास स्वयं ही
अम्बर भी आता है।

"भोगो तुम इस भाँति मृत्ति को
दाग नहीं लग पाये।
मिट्टी में तुम नहीं, वही
तुम में विलीन हो जाये।"

———

भगवतीचरण वर्मा

कवि

कौन तुम अग्नि-शिखा की ज्वाल !
तुम्हारा सुधा-पूर्ण गायन
मधुर कोमल शिशु का-सा हास ,
कल्पना के सुख का सागर ,
तुम्हारा है अनुपम उल्लास !
तुम्हारे निर्मल भाव
और प्रमुदित तरंग की ताल !
शान्ति के मंडल में है व्याप्त
तुम्हारा यह अशान्त संसार ,
और अनिमेष दृगों की ज्योति
क्षितिज को कर जाती है पार !
तुम्हारी क्रीड़ा के हैं क्षेत्र
सात आकाश, सात पाताल !
तुम्हीं हो जीवन के प्रतिबिम्ब ,
अमरता के पावन उपहार ,
तुम्हीं में है सत, चित, आनन्द ,
तुम्हीं हो जग के बेसुध प्यार ।
विश्व का व्यापक कल्प
तुम्हारा कल्प शून्य की चाल !

अरे तुम अग्नि-शिखा की ज्वाल !
जगत के तुम मतवालेपन ,
वासनाओं के मुक्त प्रवाह ,
कसक के उर के ऐ कम्पन !
तुम्हारा है विद्रोह अथाह !
तुम्हारे ये उद्गार
क्रान्ति का यह कर्कश भूचाल !
एक अज्ञात विकल हलचल
विकृत सौरभमय है जीवन ,
और उन्माद-भरा परिमल
तुम्हारा अनुपम अपनापन !

भ्रान्ति के कुछ थोड़े-से दिवस
और दीवानेपन का काल।
उठे हो गये पलक में लोप
बुलबुले ये जल के दो चार,
चमकते ही राका का अंक
निगल ले जिस को वह उपहार
विश्व का व्यापक स्वप्न—
तुम्हारा स्वप्न-भ्रान्ति का काल।

कौन तुम अग्नि-शिखा की ज्वाल?
कल्पना के मंडल के शून्य
उमंगों के कम्पित संगीत,
तुम्हारा युग 'आदर्श भविष्य'
'आज' है बीता हुआ अतीत!
तुम्हारा शुभ सन्देश!
तुम्हारा निर्मल हृदय विशाल!
विश्व को देकर जीवन-दान
कर रहा आशा का संचार,
और उस विस्मृति का साम्राज्य
तुम्हारा है जग का उपहार!
जिसे हम सब कहते हैं भ्रान्ति
और आशा का सुन्दर जाल!
कि जिस में पापों के अम्बर,
अपरिमित कलुषित भ्रष्टाचार,
स्वप्न से हो जाते हैं क्षणिक,
वास्तविक है सुख का संसार!
एक दैवी आलोक
अरे तुम अग्नि-शिखा की ज्वाल!

उपहार

कलरव-सी उस उपवन में संगीत सुनाती आयीं,
मधु की पागल प्याली-सी उन्माद लुटाती आयीं,
लतिका-सी तरुवर-पति पर तुम प्यार चढ़ाती आयीं,
कुसुमावलि-सी ऋतुपति पर सौरभ बरसाती आयीं,
मानस की लहरों में तुम रस-धार बहाती आयीं,
रीझी-सी और चकित-सी तुम किसे रिझाती आयीं?

नूरजहाँ की क़ब्र पर

तुम रज-कण के ढेर, उलूकों के तुम भग्न निहार!
किस आशा से देख रहे हो उस नभ पर प्रतिवार
कि जिस से टकराता था कभी
तुम्हारा उन्नत भाल?
सुनते हैं, तुमने भी देखा था वैभव का काल
धूल में मिले हुए कंकाल!
तुम्हारे संकेतों के साथ
नाचता था साम्राज्य विशाल,
तुम्हारा क्रोध और उल्लास
बिगड़ते बनते थे भूपाल;
किन्तु है आज कहानी शेष
प्रबल है प्रबल काल की चाल!

एक समय पर्वत-मालाओं की प्रतिध्वनि के साथ
तुम रोयी थीं, प्रथम नमा कर उस भू पर निज माथ
कि जिस पर था सगर्व आरूढ़

जीवन के पहिले ही क्षण में वह जीवन की हार !
पतन ही है जीवन का सार !
तुम्हारा प्यारा शैशव-काल
स्वर्ग की सुषमा का आगार
ज्ञान के धुँधलेपन से शून्य
किलकने हँसने के दिन चार ,
भाग्य की देवि ! भाग्य का तुम्हें
वही तो था सारा उपहार !

देखे थे सुखमयी कल्पना के शत-शत प्रासाद ,
पुलकित नयनों से देखा था तुमने वह आह्लाद
कि जिस को फिर पाने के लिए
रहीं रोती दिन-रात !
क्षणिक प्रभा थी, था भविष्य का अन्धकार अज्ञात ,
आह बचपन के सुखद प्रभात !
दूसरों के हँसने के साथ
पुलक उठता था सारा गात ,
छलकता था नयनों में नीर
किसी पर यदि होता आघात ;
वासना, तृष्णा, ईर्ष्या, डाह—
कहो क्या थे पहिले भी ज्ञात ?

लाड़ प्यार में तुम बढ़ती थीं—कहाँ ? किधर ? किस ओर ?
अरे विश्व के उस वैभव का मिलता ओर न छोर
कि जिस के एक अंश तक की
न ले पायीं तुम थाह !
बहता है संसार, वासना का है तीव्र प्रवाह ,
देवि यह जीवन ही है चाह !
तुम्हारे आशा के सुख-स्वप्न ,
तुम्हारे वे उमंग उत्साह ,

तुम्हारी मधुर मन्द मुसकान ,
तुम्हारे भोले भाव अथाह ,
हो गये क्षण भर में ही लोप ,
हँसी बन गयी पलक में आह !

उस दिन पीले हुए तुम्हारे जब हल्दी से हाथ ,
बँधी प्रणय के उस बन्धन में जब तुम पति के साथ
कि जिस में बँधता है संसार
किस प्रतीक्षा के साथ !
भय, संकोच, प्रेम, लज्जा थे, हँसते थे रतिनाथ ,
दृष्टि नीची थी, ऊँचा माथ !
प्रेम का प्रथम प्रणय-चुम्बन
पाश डाले थे कोमल हाथ ,
और वह आलिंगन, कम्पन ,
कोकिला थी ऋतुपति के साथ
मन्द्र स्वर में स्वर्ग सोल्लास
कहा था तुमने जीवन-नाथ !

प्रेम किया था उस चातक-सा, बुझी न जिस की प्यास ,
अरे सुधा के उन प्यालों का है विचित्र इतिहास
कि जो होठों से लगते ही
छलक जाते हैं हाय !
इच्छाएँ हैं प्रबल, किन्तु हैं असफल सकल उपाय ,
भटकते हैं हम सब असहाय !
परिस्थितियों की विस्तृत परिधि ,
प्रेरणाओं का है समुदाय ,
गिरे नीचे-नीचे दिन रात ,
क्षणिक हैं सारे क्षीण उपाय ,
सुधा के हैं थोड़े से बूँद ,
हाथ हैं अस्थिर चंचल, हाय !

अरुण कपोलों में रस था, अधरों में अमृत-बोल !
तुम्हें ज्ञात भी था उन आँखों की मदिरा का मोल—
कि जिन की कुछ रेखाएँ लाल ?
हृदय उठता है काँप !
बना भृकुटियों का बाँकापन यौवन का अभिशाप ,
शेष है अब तक वही प्रलाप !

किन्तु वह सौरभ और पराग ,
प्रेम का गर्व, प्रेम का ताप
और निश्छल निर्मल अनुराग !
किया था तुमने कैसा पाप ?
कि वह सारा पावन वैभव
उड़ गया नभ पर बन कर भाप !

आह ! भाग्य से हुईं तुम्हारी उस दिन आँखें चार ,
जिस दिन देखा था सलीम ने वह अपना संसार ,
कि जिस अज्ञात खंड में उसे
शान्ति थी अथवा भ्रान्ति ?
अनायास तुम काँप उठी थीं, थी वह प्रथम अशान्ति ,
देवि यह जीवन ही है क्रान्ति !

दास हो अथवा हो सम्राट
विश्व-भर की स्वामिनि है भ्रान्ति ,
परिस्थितियों का है यह चक्र
जिसे हम सब कहते हैं क्रान्ति !
भाग्य की देवि ! भाग्य की भेंट
सदा से हैं जीवन की शान्ति !

तृष्णा ! तृष्णा ! आह रक्त से रंजित तेरे हाथ !
विश्व खेलता है पागल-सा उन पापों के साथ
कि जिन के पीछे ही है लगा
विषम रौरव का जाल ।

मिटा भाग्य-सिन्दूर तुम्हारा, रिक्त हो गया भाल ,
प्रेम ही बना प्रेम का काल !
आह अनजान शेर अफ़ग़ान !
तुम्हारा सुख-साम्राज्य विशाल
कौन-सा था वह गुरु अपराध ?
नष्ट हो समा गया पाताल !
प्रेम का था कैसा उपहार ?
मृत्यु बन गयी गले की माल !

तुम रोयी थीं, भाग्य हँसा था, था अद्भुत व्यवहार !
आह शेर अफ़ग़न ! गूँजी थी वह सकरुण चीत्कार
कि जिस से हृदय रक्त मिल कर
बना नयनों का नीर।
तुम समझी थीं रुक न सकेगी यह सरिता गम्भीर
किन्तु है निर्बल हृदय अधीर !
आह कर पतिघातक का प्यार !
वासना का उन्माद गँभीर !
कसक का भी होता है अन्त ,
क्षणिक है सदा वेदना पीर ,
कठिन है कठिन आत्म-बलिदान ,
कठिन हैं ये मनसिज के तीर !

एक परिधि है उद्गारों की, परिमित है परिताप !
मिट जाती है हृदय पटल से वह स्मृति-छाया आप
कि जिस का पाँच वर्ष तक, देवि ,
किया तुमने सम्मान !
उस अशान्ति की हलचल को करने को अन्तर्धान
किया आकांक्षा का आह्वान !
बनी उस दिन साम्राज्ञी और
हुआ तुम को तृष्णा का ज्ञान ,

आह ! वह आत्म-समर्पण, हार !
उसी दिन लोप हो गया मान !
उसी दिन तुमने पल में किया
पतन-रूपी मदिरा का पान !

'और ! और !' की ध्वनि प्रतिध्वनि है 'और ! और ! कुछ और !'
तृप्ति असम्भव है, चलने दो उन प्यालों के दौर
कि जिन के पीने ही के साथ
धधक उठती है प्यास !
झुक-झुक पड़ते हैं पागल से, आह क्षणिक उल्लास
आत्म-विस्मृति का यह उपहास !
महत्वाकांक्षा ! उफ् उन्माद !
हुआ जिस को तेरा आभास ,
उठा ऊँचे बन कर उत्साह ,
गिरा नीचे बन कर निःश्वास !
पराजय की सीढ़ी है विजय !
अरे भ्रम है भ्रम है विश्वास ।

धरा धसकती थी, असह्य था देवि तुम्हारा भार ;
उन कोमल चरणों के नीचे था समस्त संसार
कि जिन में चुभते थे तत्काल
फूल भी बन कर शूल !
सम्राज्ञी थीं, किन्तु दैव था क्या तुम पर अनुकूल !
यहीं तो थी जीवन की भूल !
शक्ति की स्वामिनि ! भोग-विलास
सदा है सुख-वैभव का मूल ,
किन्तु खुल गयी अचानक आँख
प्रकृति ही है इस के प्रतिकूल ,
आज, कल—आह क्षणिक ऐश्वर्य !
हुए सुख-स्वप्न सभी निर्मूल !

उच्च शिखर था आकांक्षा का, नीचे था अज्ञात !
खेल रहा था वहाँ परिस्थिति का वह झंझावात
कि जिस के चक्कर में पड़ कर
विजय बन जाती व्यंग्य ।
तुम्हें गर्व था उस यौवन पर, था अनुकूल अनंग
आह दीपक पर मुग्ध पतंग !

अचानक पल भर में ही, देवि ,
लोप हो गया सकल रस-रंग
झुक गया माथ, गिर पड़ा मुकुट
व्यर्थ हो गया भृकुटि-सारंग ,
गिराया जहाँगीर को किन्तु
गिरीं तुम भी तो उस के संग !

गिर सकती हो, क्या इस का भी था तुमको अनुमान !
एक कल्पना की छाया है यह सारा अभिमान
कि जिस से प्रेरित हो कर, देवि ,
बनीं तुम निपट निशंक।
उठते-गिरते ही रहते हैं, राजा हों या रंक !
अमिट हैं ये विधना के अंक !

अरे दो ही हिचकी की बात
हृदय में समा गया आतंक ,
रुक गयी जहाँगीर की श्वास ,
झुक गयी मद की चितवन वंक ,
बना जीवन जीवन का भार ,
और जीवन ही बना कलंक !

जो कि सिहर उठते थे भय से देख चढ़े भ्रू चाप ,
उन की ही आँखों में देखा तुमने वह अभिशाप
कि जिस के व्यंग्य हृदय में हाय
चुभ गये बन कर तीर !

बदला ही तो था, बदला है देवि सदा बेपीर !
आग में कब होता है नीर ?
अरी सम्राज्ञी ! वह साम्राज्य
मिट गया बन कर उष्ण समीर,
और उच्छृंखल ऊँचा भाल
झुका नीचे बन कर गम्भीर;
नाश की स्वामिनि ! तुम बन गयीं
नाश के लिये नितान्त अधीर !

ऐ रजकण के ढेर, तुम्हारा है विचित्र इतिहास !
तुम मनुष्य की उन अभिलाषाओं के हो उपहास
कि जिन का असफलता है अन्त
और आशा जीवन !
बना अजान खंड ही यह लो आज तुम्हारा सदन
कभी उत्थान, कभी है पतन ।
वासनाओं का यह संसार
भयानक भ्रम का है बन्धन,
और इच्छाओं का मंडल
आदि से अन्त रुदन है रुदन,
एक अनियन्त्रित हाहाकार—
इसी को कहते हैं जीवन !

मेरे जीवन में आओ

मेरे जीवन की रानी !
मेरे जीवन में आओ !
मधु ऋतु की पागल कोकिल !
मधु में पंचम भर जाओ !

ऐ उर के मीठे सपने !
विस्मृति के फूल लुटाओ !
उन्माद-भरी तन्मयता !
अपना आसव भर लाओ !
मैं बनूँ प्रेम का कम्पन ,
तुम उस की मधुर कहानी ,
मेरे जीवन में आओ ,
मेरे जीवन की रानी !

कल्पना किया करती है
मेरे मानस में क्रीड़ा ,
खेला करती है निशि-दिन
प्राणों में मीठी पीड़ा ।
है सिसक रही युग-युग की
प्यासी-सी यह अभिलाषा ,
हँसती रहती है उर में
मेरी चिर-संचित आशा ।
मैं स्वयं डुबा लूँ जिस में ,
तुम वह प्रवाह बन जाओ !
मेरे सपने की प्रतिमा !
सपना-सी बन कर आओ ।

मैं सागर का गर्जन हूँ ,
तुम सरिता की रँगरेली ,
मैं जीवन का विप्लव हूँ ,
तुम उस की मौन पहेली ।
मैं ताप बनूँ पावक का ,
तुम हो प्रकाश की माला ,
उन्माद बनूँ मैं मधु का ,
तुम हो सुरभित मधुशाला ।

मैं बनूँ क्रान्ति की हलचल ,
तुम करुणा दीवानी-सी ,
मैं तड़प उठूँ आँधी-सी ,
तुम बरस पड़ो पानी-सी !
मेरी आहों के शोलों
का ज्वालामुखी प्रबल हो ,
उच्छ्वास तुम्हारा धूमिल
नभमंडल की हलचल हो ,
मैं बनूँ नाश विच्छृंखल ,
तुम महाप्रलय अविकल हो ,
मैं बनूँ नृत्य तांडव का
तुम उस की गति चंचल हो ।
विद्रोह-भरे जीवन में
तुम महाशक्ति बन जाओ !
मेरे पतझड़ की झंझा ,
मेरे पतझड़ में आओ !

मेरे सोये-से उर में
तुम जागृति की कम्पन-सी ,
अलसायी-सी आँखों में
मदिरा के पागलपन-सी ,
मेरे सूने-से जग में
तुम वैभव के स्पन्दन-सी ,
आओ जीवन-निधि ! आओ ,
जीवन में तुम जीवन-सी ,
जीवन जलनिधि में मेरी
तृष्णा अतृप्त बन जाओ !
मैं भूल गया हूँ निज को ,
निज बन कर मुझ में आओ !

———

माधव-प्रात

आज माधव का सुनहला प्रात है,
आज विस्मृत का मृदुल आघात है,
आज अलसित और मादकता-भरे
सुखद सपनों से शिथिल यह गात है,
मानिनी हँस कर हृदय को खोल दो !
आज तो तुम प्यार से कुछ बोल दो !
आज सौरभ में भरा उच्छ्वास है,
आज कम्पित भ्रमित-सा बातास है,
आज शतदल पर मुद्रित-सा झूलता
कर रहा अठखेलियाँ हिमहास है,
लाज की सीमा प्रिये, तुम तोड़ दो !
आज मिल लो, मान करना छोड़ दो !
आज मधुकर कर रहा मधुपान है,
आज कलिका दे रही रसदान है,
आज बौरों पर विकल बौरी हुई
कोकिला करती प्रणय का गान है,
यह हृदय की भेंट है स्वीकार हो !
आज यौवन का सुमुखि, अभिसार हो !
आज नयनों में भरा उत्साह है,
आज उर में एक पुलकित चाह है,
आज श्वासों में उमड़ कर बह रहा
प्रेम का स्वच्छन्द मुक्त प्रवाह है,
डूब जायें देवि, हम-तुम एक हो !
आज मनसिज का प्रथम अभिषेक हो !

हम दीवानों की क्या हस्ती

हम दीवानों की क्या हस्ती, हैं आज यहाँ, कल वहाँ चले ,
मस्ती का आलम साथ चला, हम धूल उड़ाते जहाँ चले ,
आये बन कर उल्लास अभी आँसू बन कर बह चले अभी ,
सब कहते ही रह गये, अरे तुम कैसे आये, कहाँ चले ?

किस ओर चले ? यह मत पूछो, चलना है, बस इसलिए चले ,
जग से उस का कुछ लिये चले, जग को अपना कुछ दिये चले ,
दो बात कहीं, दो बात सुनीं ! कुछ हँसे और फिर कुछ रोये ।
छक कर सुख-दुख घूँटों को हम एक भाव से पिये चले ।

हम भिखमंगों की दुनिया में स्वच्छन्द लुटा कर प्यार चले ,
हम एक निशानी-सी उर पर ले असफलता का भार चले ,
हम मान-रहित, अपमान-रहित जी भर कर खुल कर खेल चुके ,
हम हँसते हँसते आज यहाँ प्राणों की बाजी हार चले !

हम भला-बुरा सब भूल चुके, नत मस्तक हो खुम मोड़ चले ,
अभिशाप उठा कर होठों पर वरदान दृगों से छोड़ चले ,
अब अपना और पराया क्या ? आबाद रहें रुकने वाले !
हम स्वयं बँधे थे, और स्वयं हम अपने बन्धन तोड़ चले !

प्रिय, तुमने ही तो गाये थे

प्रिय तुमने ही तो गाये थे मैंने ये जितने गीत लिखे !

अम्बर की लाली को उस दिन तुमने ही था अनुराग दिया ,
तुमने ऊषा को अपनी छवि, कलरव को अपना राग दिया ,
अपना प्रकाश रवि किरणों को, अपना सौरभ मलयानिल को ,
पुलकित शतदल को तुमने ही प्रिय, अपना मधुर पराग दिया ।

मेरे प्राणों में तुम हँस दीं, मेरे स्वर में तुम कूक उठीं,
पागल मैं कहता हूँ, 'अपने' तुमने ये जितने गीत लिखे !

उस दिन जब काली रजनी में ज्योत्सना का सकरुण पीलापन
मिटते तारों को गिन-गिन कर कर देता था धुँधले लोचन,
तुम समझीं थीं तुम दूर बहुत; तुम तो थीं जल-थल-अम्बर में,
प्रतिकण में तुम, प्रति क्षण में तुम, तुम थीं स्पन्दन, तुम थीं जीवन,
मेरे प्राणों में तुम रो दीं, मेरे स्वर में तुम हूक उठीं,
मूरख जग कहता है मेरे तुमने ये जितने गीत लिखे !

एक रात

यह चहल-पहल से भरा नगर, यह राग-रंग से भरी रात !
इस नृत्य-भवन के कोने में बीती स्मृतियों के बन्द पृष्ठ
मैं उलट रहा हूँ थकित-चकित मैं एकाकी, मैं शाप-भ्रष्ट !
अब अन्तर में आह्लाद नहीं अब अन्तर में अवसाद नहीं !
अब अन्तर में उन्माद नहीं, मैं अन्तर को कर चुका नष्ट !

वह क्या ? पंचम में पिक बोली या पिक-कंठी ने ली अलाप ?
प्रतिपल बढ़ता ही जाता है बेसुध मादकता का प्रलाप !
वह नृत्य मदिर, संगीत मधुर, वे पग डगमग, वे शिथिल गात,
मुझसे हँस कर कह रहे 'सुनो अपने अतीत की एक बात !'
पर व्यर्थ। अरे युग बीत गये, युग यहाँ बन चुके स्वप्न सात्
कितनी-चंचल, कितनी अस्थिर, यह राग रंग से भरी रात !

मेरे अतीत का एक पृष्ठ—
उस दिन जब मेरी दुनिया में तुम घिर आयी थीं प्रथम बार,
नयनों में जीवन ज्योति लिये, अधरों पर स्मित का नव सिंगार,

अलसित स्पन्दन में भरा पुलक, श्वासों में मादक सुरभि-भार !
उस दिन जब ज्योत्सना हँस दी थी, जब प्राणों में था जगा प्यार !
उस दिन उस मधु की बेला में प्रिय तुम को पा कर अनायास ,
मैं भूल गया अस्तित्व-ज्ञान, मैं भूल गया था रुदन-हास ,
तुम सम्मोहिनि थीं सपने में, तुम ज्वाला थीं उस तपने में ,
तुम स्थिरता थीं, तुम ही गति थीं, जग तुम में था, तुम अपने में !
मैं भूल गया था अन्त वहीं है जहाँ आदि का है विकास !
यह आदि-अन्त, यह जन्म-मरण, यह बनने का, मिटने का क्रम ,
मैं पूछा रहा क्या यही ज्ञान ? क्या यही सत्य व्यापक महान ?
क्या यही नित्य है और यहाँ पर जो कुछ है वह सब विभ्रम ?

ठहरो तुम ऐ हँसने वाले ! ठहरो तुम ऐ गाने वालो !
इस राग-रंग के विभ्रम में तुम जीवन को पाने वालो !
है मैंने भी जीवन देखा, मैं वही पढ़ रहा हूँ लेखा ,
है कितना गहरा और स्पष्ट था मैंने ही तो इसे लिखा
निज उष्ण रक्त की बूँदों से अपने अतीत का एक पृष्ठ !

मेरे अतीत का वही पृष्ठ !
फिर हम-तुम दोनों अलग हुए ले कर अपना मिथ्याभिमान ,
मस्तक पर मौन विवशता की, कटुता का लिये कठिन विधान ,
हम यहाँ दूसरे का ही क्या अज्ञान लिये हैं अपना ही ।
हँस कर आगे बढ़ गये अरे, बस हम इतना-सा लिये ज्ञान !
पर उस हँसने में निहित व्यंग्य, वह असफलता की पूर्ण विजय ,
वह क्षुब्ध ज्ञान के गहन गर्त्त में विश्वासों का विवश निलय ,
अस्थिर है गति, अस्थिर स्पन्दन, अस्थिरता ही अविचल अक्षय !
अस्थिर है यह मिलने का क्षण, अस्थिर तनमयता, प्रेम, वरण ,
अस्थिरता की ही गति में तो टकरा कर हट जाते कण-कण !
अस्थिरता ही के रूप अरे हम जिन को कहते सृष्टि प्रलय !
अस्थिरता की ही मदिरा में है झूम रहा यह नृत्य-भवन ,

स्वर काँप रहे हैं मस्ती में, उन्माद-भरी गति में नर्त्तन ,
मादक सौरभ से भरा हुआ है डोल रहा उत्तप्त पवन ,
पर प्रिय ! मैं कितना खोया-सा कितना अशान्त, कितना उन्मन !
मैं सोच रहा हूँ अस्थिरता का भी क्या होता कहीं अन्त ?
वह क्या—सहसा संगीत रुका ! यह क्या सहसा उन्माद झुका ?
ये शिथिल अंग, झपती आँखें ! जाने वालों के पद स्वर ,
कह रहे एक स्वर में मिल कर—'है नहीं यहाँ कुछ भी अनन्त ।'
यह अन्त ! यही अस्थिरता का पग एक और दूसरा आदि ,
बस अस्थिरता ही है अनन्त, बस अस्थिरता ही है अनादि !
मेरे जीवन के कितने ही पन्ने तो हैं हो चुके नष्ट !
होना इस का भी अन्त अरे मेरे अतीत का एक पृष्ठ !

मदिरा के अन्तिम दौर यहाँ चल रहे, रिक्त है नृत्य भवन !
बुझते प्रकाश के साथ बढ़ रहा है मानस का धुँधुलापन ,
कुछ आज सुबह से ही मुझ में हो रहा अजब-सा परिवर्तन ।
जब कहा किसी ने था मुझ से निज शुष्क हास्य में लिये रुदन
'दर्पण में तुमने देखा है, हो गये तुम्हारे श्वेत केश !'
उस मान-भरे निज यौवन के कुछ लिये हुए भग्नावशेष ,
कुछ ठंढे से उच्छ्वास लिये, कुछ खिन्नमना, कुछ मलिन वेष !

तुम सोच रही होगी क्या-क्या ? ले यौवन की ढलती सन्ध्या !
इस महायज्ञ में डाल चुकी हो तुम अपनी अन्तिम स्वाहा !
माना कि शान्ति की सुन्दरता है लिये हुए यह श्वेत जरा ,
माना कि ज्ञानमय चिन्तन में है मतवाला ऐश्वर्य भरा ,
मैंने सब माना, पर इतना तुम भी मनोगी, निश्चय है
है उस का जीवन भार, नहीं है जिस के जीवन में ममता !
तुम जिस को ममता समझे थीं वह तो थी केवल एक चमक ,
जब देवि ! तुम्हारे दरवाजे वे भोले, वे सुकुमार युवक ,
पी कर मादक कल्पनासुरा थे विसुध चूमते चपल चरण !

तब गर्वोन्नत हँस पड़ती थीं तुम दास समझ उन को अपना ,
तुम चिर-यौवन का, चिर-विलास का देख रही थीं सुख-सपना !
पर वह सपना, यह श्वेत जरा ! दोनों में कितना व्यंग्य भरा !
क्या कहा, 'मुक्ति की दीवानी' तुम 'वीतराग की शान्त अमा' ,
पर बहुत कठिन है, बहुत कठिन यह अपने को धोखा देना !
यह मुक्ति-मुक्ति ही रटा करें पर यहाँ इष्ट हम को बन्धन !

काली रजनी, सूनी सड़कें, सोया-सा मौन विशाल नगर !
उत्तरी वायु के झोंके में है भरी हुई हलकी सिहरन ,
मेरे उर में भी भरी हुई है कुछ अनजानी-सी कसकन !
वह राग-रंग, यह शून्य मौन, क्यों व्यथा सिक्त मेरी उसाँस ?
क्यों चौंक उठा मैं अनायास ? क्यों चौंक उठा यह तिमिर गहन ?
मैं पूछ रहा हूँ यह सब क्या ? कल कहाँ और मैं आज कहाँ ?
जो सकी मुझे तुम से न छिपा कितनी छोटी यह वसुन्धरा !
मैं तो चलता ही जाता हूँ, मेरे चलने का नहीं अन्त !
यह क्या, पूरब में क्या देखा ? हलकी-सी लाली की रेखा ,
लो बीत चुकी है रात और दिन का पहला आभास मिला !
दिन रात कह रहे हैं मिल कर जीवन गति है, गति है, अनन्त !

——

जीवन दर्शन

मानापमान हो इष्ट तुम्हें मैं तो जीवन को देख रहा !

मैं देख रहा दानवता के दुःसाहस के विकराल कृत्य ,
मैं देख रहा बर्बरता का भू की छाती पर नग्न नृत्य ।
मैं देख रहा उठने वाली अम्बर पर संस्कृति की उसाँस ,
मैं देख रहा यह मानवता कितनी निर्बल, कितनी अनित्य !

जमघट है रोने वालों का, जमघट है गाने वालों का,
सब देने को लाये थे पर जमघट है पाने वालों का,
कुछ बने लुटेरे लूट रहे, कुछ बने भिखारी माँग रहे,
है जमा मिटाने को ही यह जमघट मिट जाने वालों का!
मैं जग को सुख देने वाले जग के क्रन्दन को देख रहा!
मानापमान हो इष्ट तुम्हें मैं तो जीवन को देख रहा!

मैं अभी देख कर आया हूँ गर्वोन्नत हँसता एक महल,
जिस में श्रीमानों का जमाव, अपनी गुरुता में उच्छृंखल,
वैभव का अथक प्रलाप लिये, उत्पीड़न का संन्ताप लिये,
था झूम रहा उन्माद ग्रस्त निज पशुता का अभिशाप लिये!
उन के पैरों पर सिसक रहा था आँसू से भीगा भूतल!
मैं सोच रहा था मौन वहाँ मैं देख रहा था कौन कहाँ!
वे भूपति थे, अति ज्ञानी थे, वे पूँजीपति थे, दानी थे,
वे यश, श्रद्धा के पात्र, अरे वे थे समर्थ, अभिमानी थे!

उन के मस्तक पर खेल रहा था अहम्मन्यता का पिशाच,
उन के प्यालों के साथ-साथ थीं जग की आहें रही नाच!
कह उठा एक 'हम जो कह दें वह न्याय, वही है बुरा भला!'
दूसरा कह उटा, 'हम से ही जीवित है सब साहित्य, कला!'
पर उस कमरे की दीवारें, भर-भर कर विष की फुफकारें,
कह उठीं, 'अरे तुम हत्यारे, तुम सदा घोंटते रहे गला!
हम खड़ी हुई उन नीवों पर जो चुनी गयीं कंकालों से!
इतिहास हमारा तुम पूछो उन भूखों मरने वालों से!'

भीतर उठता था राग-रंग, बाहर था 'जय-जय' का निनाद,
जूठे टुकड़े पा कर भूखे थे बाँट रहे आशीर्वाद,
'भगवान तुम्हारा भला करे—कुल बढ़े और सम्मान बढ़े!'
वे साँसहीन वे रक्तहीन, वे अन्नहीन, वे वस्त्रहीन,
वे सड़कों पर सोनेवाले, वे धूलि-धूसरित अति मलीन,

चिथड़ों में ले दुर्गन्ध बड़ी, रोगों से उनकी देह सड़ी,
उन के मुख से थी छूट रही कलुषित वचनों की एक झड़ी,
वे घोर नरक में पड़े हुए, वे जग-जीवन से उदासीन !

'वे किन की जय-जय करते हैं ? किन को देते आशीर्वाद ?'
मैं पूछ रहा था, अन्तर में ले कर मानवता का विषाद !
कैसा विषाद ? क्या मानवता ? मेरे सम्मुख तो है पशुता !
ये भक्ष्य और वे भक्षक हैं, इन में लघुता, उन में गुरुता,
इन की तड़पन, उन का विलास, मैं देख रहा निर्माण-हास !
ये तो मिटने को जीवित हैं, हैं उन्हें रक्त की प्रबल प्यास !
क्या कभी उन्होंने सोचा है, है मिली इन्हें भी मानवता ?
यदि सोच-समझ सकते केवल ये मिटनेवाले भिखमंगे,
तो क्यों ये यों तिल-तिल मिटते रह कर भूखे, रह कर नंगे ?
जो हैं इन के ही काल अरे क्या ये उन की जय-जय करते ?
जीवन का निज अधिकार गँवा क्यों जूठे टुकड़ों पर मरते ?

वह राग-रंग ! वह त्राहि-त्राहि ! जग की चीत्कारों का जमघट !
यह क्या सम्मुख ही नाच उठा किन हाहाकारों का मरघट !
मैं देख रहा भू पर रक्खे धनिकों के, कंगालों के शव !
उन सर्व-भक्षिणी लपटों का मैं सुनता हूँ अति कर्कश रव !
जग के शापों से लदा हुआ दो दिन का यह उन्माद विभव,
थी दो दिन की पशुता का जीवन हो रहा चिता में यहाँ प्रकट !

केवल मुट्ठी भर अन्न, इसी पर केन्द्रित मानव का जीवन,
दो-चार हाथ कपड़ों से ही ढँक जाता है मानव का तन,
छ हाथ भूमि पर बना हुआ है मानव का ऐश्वर्य सदन,
फिर क्यों इतना मानापमान, इतनी तृष्णा, इतना क्रन्दन ?
मैं हँस कर पागलपन को रो कर उत्पीड़न को देख रहा !
मानापमान ही इष्ट तुम्हें मैं तो जीवन को देख रहा !

भैंसा गाड़ी

चरमर-चरमर चूँ-चरर-मरर जा रही चली भैंसागाड़ी !
गति के पागलपन से प्रेरित चलती रहती संसृति महान ,
सागर पर चलते हैं जहाज़, अम्बर पर चलते वायुयान ,
भूतल के कोने कोने में रेलों-ट्रामों का जाल बिछा ,
है दौड़ रहीं मोटरें-बसें ले कर मानव का बृहत् ज्ञान ।

पर इस प्रदेश में जहाँ नहीं उच्छ्वास, भावनाएँ, चाहें ,
वे भूखे, अधखाये किसान भर रहे जहाँ सूनी आहें ,
नंगे बच्चे, चिथड़े पहने माताएँ जर्जर डोल रहीं ,
है जहाँ विवशता नृत्य कर रही धूल उड़ाती है राहें ।

बीते युग की परछाहीं-सी, बीते युग का इतिहास लिये ,
'कल' के उन तन्द्रिल सपनों में 'अब' का निर्दय उपहास लिये ,
गति में किन सदियों की जड़ता ! मन में किस स्थिरता की ममता ?
अपनी जर्जर-सी छाती में अपना जर्जर विश्वास लिये ।

मर-मर कर फिर मिटने का स्वर, कँप-कँप उठते जिस के स्तर-स्तर ,
हिलती-डुलती, हँपती-कँपती, कुछ रुक-रुक कर, कुछ सिहर-सिहर ,
चरमर-चरमर चूँ-चरर-मरर जा रही चली भैंसागाड़ी !

२

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों से हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर !
मैं कहता हूँ खँडहर उस को, पर वे कहते हैं उसे ग्राम ,
जिस में भर देती निज धुँधलापन असफलता की सुबह-शाम ,
पशु बन कर नर पिस रहे जहाँ नारियाँ जन रही हैं गुलाम ,
पैदा होना, फिर मर जाना, बस यह लोगों का एक काम ।

था वहीं कटा दो दिन पहले गेहूँ का छोटा एक खेत !
तुम सुख-सुषमा के लाल तुम्हारा है विशाल वैभव विवेक ,
तुमने देखी हैं मान-भरी उच्छृंखल सुन्दरियाँ अनेक ,
तुम भरे-पुरे, तुम हृष्ट-पुष्ट ऐ तुम समर्थ कर्ता-हर्ता ,
तुमने देखा है क्या बोलो, हिलता-डुलता कंकाल एक ?

वह था उस का ही खेत, जिसे उसने उन पिछले चार माह ,
अपने शोणित को सुखा-सुखा, भर-भर कर अपनी विवश आह ,
तैयार किया था, औ' घर में थी रही रुग्ण पत्नी कराह !
उस के वे बच्चे तीन, जिन्हें माँ-बाप का मिला प्यार न था ,
जो थे जीवन के व्यंग्य किन्तु मरने का भी अधिकार न था ,
थे क्षुधा-ग्रस्त, बिलबिला रहे मानो वे मोरी के कीड़े ,
वे निपट घिनौने, महा पतित बौने कुरूप टेढ़े-मेढ़े !

उस का कुटुम्ब था भरा-पुरा, आहों से, हाहाकारों से !
फाकों से लड़-लड़ कर प्रतिदिन, घुट-घुट कर अत्याचारों से ,
तैयार किया था उसने ही अपना छोटा-सा एक खेत !

बीबी बच्चों से छीन, बीन दाना-दाना अपने में भर ,
भूखे तड़पें या मरें, भरों का तो भरना है उस को घर !
धन की दानवता से पीड़ित कुछ फटा हुआ, कुछ कर्कश स्वर ,
चरमर-चरमर चूँ-चरर-मरर जा रही चली भैंसा गाड़ी !

३

है बीस कोस पर एक नगर, उस एक नगर में एक हाट ,
जिस में मानव की दानवता फैलाये हैं निज राज-पाट ,
साहूकारों का भेस धरे हैं जहाँ चोर औ' गिरहकाट ,
है अभिशापों से घिरा जहाँ पशुता का कलुषित ठाट बाट !
उस में चाँदी के टुकड़ों के बदले में लुटता है अनाज ,
उन चाँदी के ही टुकड़ों से तो चलता है सब राज-काज !
वह राज-काज, जो सधा हुआ है उन भूखे कंकालों पर ,
इन साम्राज्यों की नींव पड़ी है तिल-तिल मिटनेवालों पर !

वे व्यापारी, वे ज़मींदार, वे हैं लक्ष्मी के परम भक्त ,
वे निपट निरामिष सूदखोर, पीते मनुष्य का उष्ण रक्त !
इस राज-काज के वही स्तम्भ, उन की पृथ्वी, उन का ही धन ,
ये ऐश्व और आराम उन्हीं के, और उन्हीं के स्वर्ग-सदन !
उस बड़े नगर का राग-रंग हँस रहा निरन्तर पागल-सा ,
उस पागलपन से ही पीड़ित, कर रहे ग्राम अविकल क्रन्दन !

चाँदी के टुकड़ों में विलास, चाँदी के टुकड़ों में है बल ,
इन चाँदी के ही टुकड़ों में सब धर्म-कर्म, सब चहल-पहल !
इन चाँदी के ही टुकड़ों में है मानवता का अस्तित्व विफल !

चाँदी के टुकड़ों को लेने प्रतिदिन पिस कर, भूखों मर कर ,
भैंसागाड़ी पर लदा हुआ जा रहा चला मानव जर्जर ,
है उसे चुकाना सूद क़र्ज़, है उसे चुकाना अपना कर ,
जितना खाली है उस का घर उतना खाली उस का अन्तर !
नीचे जलने वाली पृथ्वी ऊपर जलने वाला अम्बर ,
औ' कठिन भूख की जलन लिये नर बैठा है बन कर पत्थर !
पीछे है पशुता का खँडहर, दानवता का सामने नगर ,
मानव का कृष कंकाल लिये
चरमर-चरमर चूँ-चरर-मरर जा रही चली भैंसागाड़ी !

———

मानव

जब कलिका को मादकता में हँस देने का वरदान मिला ,
जब सरिता की उन बेसुध-सी लहरों को कल-कल गान मिला ,
जब भूले-से, भरमाये-से भ्रमरों को रस का पान मिला ,
तब हम मस्तों को हृदय मिला मर मिटने का अरमान मिला !

पत्थर सी इन दो आँखों को जलधारा का उपहार मिला ,
सूनी-सी ठंडी साँसों को फिर उच्छ्वासों का भार मिला ,
युग-युग की उस तन्मयता को कल्पना मिली, संचार मिला ,
तब हम पागल-से झूम उठे जब रोम-रोम को प्यार मिला !

भू-खंड मापने वाले इन पैरों को गति का मान मिला ,
ले लेने वाले हाथों को साहस बल का सम्मान मिला ,
नभ छूने वाले मस्तक को निज गुरुता का अभिमान मिला ,
तब एक शाप-सा हाय हमें सहसा सुख-दुख का ज्ञान मिला !

मरु को युग-युग की प्यास मिली पर उस को मिला अभाव कहाँ ?
पिक को पंचम की हूक मिली पर उस को मिला दुराव कहाँ ?
दीपक को जलना यहाँ मिला पर उस को मिला लगाव कहाँ ?
निर्झर को पीड़ा कहाँ मिली ? पत्थर के उर में घाव कहाँ ?

वारिद-माला से ढकने पर रवि ने समझा अपमान कहाँ ?
नगपति के मस्तक पर चढ़ कर हिम ने पाया सम्मान कहाँ ?
मधु ऋतु ने अपने रंगों पर करना सीखा अभिमान कहाँ ?
कह सकता है कोई किस से कब किस का है अज्ञान कहाँ ?

बेड़ों को कर के गर्क किया लहरों ने पश्चाताप कहाँ ?
वृक्षों ने हो कर नष्ट दिया तूफानों को अभिशाप कहाँ ?
पानी ने कब उल्लास किया लहरों ने किया विलाप कहाँ ?
बादल ने देखा पुण्य कहाँ ? दावा ने देखा पाप कहाँ ?

पर हम मिट्टी के पुतलों को जब स्पन्दन का अधिकार मिला ,
मस्तक पर गगन असीम मिला, फिर तलवों पर संसार मिला !
उन तत्वों के सम्राट बने जिन का हम को आधार मिला ,
फिर हाय असह-सा वहीं हमें यह मानवता का भार मिला !

जल उठी अहम की ज्वाल वही जब कौतूहल-सा प्राण मिला ,
हम महानाश लेते आये जब हाथों को निर्माण मिला ,

बल के उन्मत्त पिशाचों को सुख-वैभव का कल्याण मिला ,
निर्बलता के कंकालों की छाती पर फिर पाषाण मिला ।

हम लेने को देवत्व बढ़े, पशुता का हमें प्रसाद मिला ,
पर की तड़पन में, आँसू में हम को अपना आह्लाद मिला ,
निज गुरुता का उन्माद मिला, निज लघुता का अवसाद मिला ,
बस यहाँ मिटाने को हम को मिटने का आशीर्वाद मिला ।

जब हमने खोली आँख वहीं उठने की एक पुकार हुई ,
रवि-शशि, उडु भय से सिहर उठे, जब जीवन की हुंकार हुई ,
'तुम हो समर्थ, तुम स्वामी हो ।' जब तत्त्वों की मनुहार हुई ,
तब क्षिति की धुँधली रेखा में खिंच कर सीमा साकार हुई ।

जब एक निमिष में युग युग की व्यापकता व्याप्त विलीन हुई ,
जब एक दृष्टि में दश दिशि के बन्धन से छवि स्वाधीन हुई ,
जब एक श्वास में भावी की स्वप्निल छाया प्राचीन हुई ,
तब एक आह में मानव की गुरुता खिंच कर श्रीहीन हुई ।

जब हम सबलों की शक्ति प्रबल निर्बल संसृति पर भार हुई ,
जब विजित पद-दलित अणु-अणु से मानव की जय जयकार हुई ,
जब जल में, थल में, अम्बर में अपनी सत्ता स्वीकार हुई ,
तब हाय अभागे हम लोगों की अपने ही से हार हुई ।

नारी के छविमय अंगों की छवि में मिल छविमय होने को
पृथ्वी की छाती फाड़ लिया हम ने चाँदी को, सोने को ।
हम ने उन को सम्मान दिया पल भर निज गुरुता खोने को ,
पर हम निज बल भी दे बैठे अपनी लघुता पर रोने को ।

असि निर्मित की थी लोहे से अपने अभाव के भरने को ,
हिंसक पशुओं के तीव्र नखों से अपनी रक्षा करने को ,

हमने कृषि काटी थी उस दिन निज तीव्र क्षुधा के हरने को ,
पर हाय हमारी भूख कि हम असि लाये खुद कट मरने को ।

मथ डाले हैं सागर, अम्बर हमने प्रसार दिखलाने को ,
हमने विद्युत को निगल लिया मानव की गति बन जाने को ,
हम ने तेलों को दाह दिया निशि में प्रकाश बरसाने को ,
पर आज हमारे खाद्य घिरे हैं हम को ही खा जाने को ।

देखो वैभव से लदी हुई विस्तृत विशाल बाजार यहाँ ,
देखो मरघट पर पड़े हुए भिखमंगों के अम्बार यहाँ ।
देखो मन्दिर के दौरों में नव यौवन का संचार यहाँ ,
देखो तृष्णा की ज्वाला में जीवन को होते क्षार यहाँ !

केवल मुट्ठी भर अन्न—कहाँ है नारी में सम्मान यहाँ ?
केवल मुट्ठी भर अन्न—कहाँ है पुरुषों में अभिमान यहाँ ?
केवल मुट्ठी भर अन्न—कहाँ है भले-बुरे का ज्ञान यहाँ ?
केवल मुट्ठी भर अन्न—यही है बस अपना ईमान यहाँ ।

अपने बोझे से दबे हुए मानव को कहाँ विराम यहाँ ?
सुख-दुख की सँकरी सीमा में अस्तित्व बना नाकाम यहाँ !
बनने की इच्छा का हमने देखा मिटना परिणाम यहाँ
'अभिलाषाओं की सुबह यहाँ, असफलताओं की शाम यहाँ !'

अपनी निर्मित सीमाओं में हम को कितना विश्वास अरे !
यह किस अशान्ति का रुदन यहाँ ? किस पागलपन का हास अरे ?
किस सूनेपन में मिल जाते मानव के विफल प्रयास अरे ?
क्यों आज शक्ति की प्यास प्रबल बन गयी रक्त की प्यास अरे ?

अपनेपन में लय हो कर भी अपने से कितनी दूर अरे !
हम आज भिखारी बने हुए निज गुरुता से भरपूर अरे !

अपनी ही असफलताओं के बन्धन से हम मजबूर अरे !
अपनी दीवारों से दब कर हम हो जाते हैं चूर अरे !

पथ भ्रष्ट हमें कर रही यहाँ अपनी अनियन्त्रित चाल अरे !
डस रही व्याल बन कर हम को यह अपनी ही जयमाल अरे !
हम प्रतिपल बुनते रहते हैं अपने विनाश का जाल अरे !
बन गये काल के हम स्वामी हैं अब अपने ही काल अरे !

अम्बर को नत करने वाला अपना अभिमान झुका न सका !
सागर को पी जाने वाला आँखों की प्यास मिटा न सका !
व्यापक असीम रचने वाला निज सीमा स्वयं बुझा न सका !
अपनी भूलों की दुनियाँ में सुख-दुख का ज्ञान भुला न सका !

अपनी आहों में संसृति के क्रन्दन का स्वर तू भर न सका !
अपने सुख की प्रतिछाया में जग को तू सुखमय कर न सका !
यह है कैसा अभिशाप अरे क्षमता रख कर तू तर न सका !
तू जान न पाया, जो न सका जो उस के पहले मर न सका !

है प्रेम तत्त्व इस जीवन का, यह तत्त्व न अब तक जान सका !
तू दया त्याग का मूल्य अरे अब तक न यहाँ अनुमान सका !
तू अपने ही अधिकारों को अब तक न हाय पहचान सका !
तू अपनी ही मानवता को अब तक है मानव पा न सका !

न माँगो

तुम हँस कर मेरा प्यार न मुझ से माँगो !

तुम नवल उषा की प्रथम पुलक की सिहरन !
तुम स्वप्न कि चुंबित मुग्ध किरण की स्पन्दन !
तुम सौरभ से श्लथ मलयज की मादकता !

तुम आशा की उच्छ्वसित मधुर कल-कूजन !
तुम क्या जानो गति का संघर्ष भयंकर ,
जब असह्य व्यथा से मथ उठता है अन्तर ,
जब नयन उगलने लगते हैं अंगारे ,
जब जल उठती है अवनि, उबलता अम्बर !
मध्याह्न काल के मरु की मैं मृग-तृष्णा ,
प्रत्येक चरण पर मेरे शत-शत खँडहर ।
अनिमेष दृगों में ले जीवन की सुषमा ,
मेरा उजड़ा संसार न मुझ से माँगो !
तुम हँस कर मेरा प्यार न मुझ से माँगो !

तुम रसमय बेसुध गान न मुझ से माँगो !
अपनी तरंग में खुलती हुई लजीली ,
कलिकाओं का छविजाल लिये तुम रंगिनि !
उल्लास धवल हिमहास लिये अधरों पर
तुम नृत्य-रता, तुम उत्सव-व्रता तरंगिनि !
तुम क्या जानो अपनी सीमा से उठ कर
किस मौन क्षितिज से लहरें लेतीं टक्कर ?
किस अलफलता की व्यथा लिये प्राणों में
रह-रह कराह उठता है विस्तृत सागर ?
मैं प्रलय काल की झंझा का पागलपन ,
प्रत्येक साँस मेरी विनाश का क्रन्दन !
अधरों पर ले संगीत, नृत्य चरणों पर
मेरी भूली पहचान न मुझ से माँगो !
तुम रसमय बेसुध गान न मुझ से माँगो !

मुझ को रंगों से मोह

मुझ को रंगों से मोह, नहीं फूलों से ।
जब उषा सुनहली जीवन-श्री बिखराती ,

जब रात रुपहली गीत प्रणय के गाती,
जब नील गगन में आन्दोलित तन्मयता,
जब हरित प्रकृति में नव सुषमा मुसकाती,
तब जग पड़ते हैं इन नयनों में सपने।
मुझको रंगों से मोह, नहीं फूलों से।
जब भरे-भरे-से बादल हैं घिर आते,
ध्वनि की हलचल से जब सागर लहराते,
विद्युत के उर में रह-रह तड़पन होती,
उच्छ्वास भरे तूफ़ान कि जब टकराते,
तब बढ़ जाती है मेरे उर की धड़कन।
मुझ को धारा से प्रीति नहीं फूलों से।
जब विसुध चेतना सौरभ से अनुरंजित,
जब मुग्ध भावना मलय-भार से कम्पित,
जब अलस लास्य से हँस पड़ता है मधुवन
तब हो उठता है मेरा मन आतंकित—
चुभ जायँ न मेरे वज्र सदृश चरणों में।
मैं कलियों से भयभीत, नहीं फूलों से।
जब मैं सुनता हूँ कठिन सत्य की बातें,
जब रो पड़ती हैं अपवादों की रातें,
स्वच्छन्द, मुक्त मानव के आगे सहसा
जब अड़ जाती हैं मर्यादा की पाँतें,
जो सीमा ने संकुचित और लांछित है।
मैं उसी ज्ञान से त्रस्त, नहीं भूलों से!

समर्थ शीश दान दो

मनुष्य जब सगर्व कह उठा कि आज मान दो,
प्रकृति पुकार तब उठी अरे कि शीश दान दो,
समर्थ, शीश दान दो!

सहम रहा गगन प्रशान्त तप्त आह से भरा ,
सहम रही अशान्त भ्रान्त रक्त-रंजिता धरा ,
उबल रहा समुद्र और मेरु टूट गिर रहा ,
मनुष्य भाल पर लिये विनाश की परम्परा ।

अखंड सृष्टि यह समस्त खंड खंड हो रही ,
मनुष्य की मनुष्यता स्वयं विनष्ट रो रही ,
मनुष्य शक्ति हीन है, मनुष्य नाशवान है ,
सशक्त जो अजर अमर असीम एक ज्ञान है ।

अलख जगा रहा सुकवि मनुष्य आत्म ज्ञान लो
समर्थ, शीश दान दो !

* * *

मिली तुम्हें न यदि दया, मिली तुम्हें न भावना ,
विनाश है मनुष्य तब समस्त ज्ञान-साधना ।
विनाश तर्क, बुद्धि सब विनाश अध्ययन-मनन ,
विनाश सृष्टि पर विजय, विनाश तत्व का मथन ,
अबाध बल अधीर, गति, अलक्ष्य निज समर्थ तन ,
लिये मनुष्य कर रहा विनाश का महा सृजन ।
असत्य भोग-वासना, असत्य सिद्धि-कामना ।
मनुष्य, सत्य त्याग है, मनुष्य, सत्य भावना ।
रुको, झुको, करो मनुष्य प्रेम की उपासना ।

* * *

रुको ! मकान जल रहे, रुको ! नगर उजड़ रहे ,
रुको ! प्रलय उमड़ रही, विनाश-घन घुमड़ रहे ,
कराह आह का धुआँ हरेक साँस घुट रही ,
समस्त सभ्यता, सुरुचि, दलित विनष्ट लुट रही ,
विषाक्त हास्य हँस रहीं, सशक्त हिंस्र वृत्तियाँ ।

मनुष्य-सृष्टि की धुरी अशक्त आज छुट रही।
रुको मनुष्य ! आँख में असीम अन्धकार है,
रुको मनुष्य ! पैर में विनाश का प्रहार है,
मदान्ध पशु-प्रवृत्ति और चेतना विनष्ट है,
मनुष्य पन्थ हीन है, मनुष्य लक्ष्य-भ्रष्ट है !
फुँको कि भूमि झूम लो, रुको कि तुम उखड़ रहे।

——

हरवंशराय 'बच्चन'

मधुशाला

मैं मदिरालय के अन्दर हूँ, मेरे हाथों में प्याला ,
प्याले में मदिरालय बिम्बित करने वाली है हाला ;
इस उधेड़-बुन में ही मेरा सारा जीवन बीत गया–
मैं मधुशाला के अन्दर या मेरे अन्दर मधुशाला ।

वह हाला, कर शान्त सके जो मेरे अन्तर की ज्वाला ,
जिस में मैं बिम्बित-प्रतिबिम्बित प्रति पल, वह मेरा प्याला ,
मधुशाला वह नहीं जहाँ पर मदिरा बेची जाती है ,
भेंट जहाँ मस्ती की मिलती, मेरी तो वह मधुशाला ।

कहाँ गया वह स्वर्गिक साकी, कहाँ गयी सुरभित हाला ,
कहाँ गया स्वप्निल मदिरालय, कहाँ गया स्वर्णिम प्याला ।
पीने वालों ने मदिरा का मूल्य, हाय, कब पहचाना ?
फूट चुका जब मधु का प्याला, टूट चुकी जब मधुशाला ।

अपने युग में सब को अनुपम ज्ञात हुई अपनी हाला ,
अपने युग में सब को अद्भुत ज्ञात हुआ अपना प्याला ,
फिर भी वृद्धों से जब पूछा एक यही उत्तर पाया–
अब न रहे वे पीने वाले, अब न रही वह मधुशाला ।

जितनी दिल की गहराई हो उतना गहरा है प्याला ,
जितनी मन की मादकता हो उतनी मादक है हाला ,
जितनी उर की भावुकता हो उतना सुन्दर साकी है ,
जितना ही जो रसिक, उसे है उतनी रसमय मधुशाला ।

मेरी हाला में सबने पायी अपनी-अपनी हाला ,
मेरे प्याले में सबने पाया, अपना-अपना प्याला ,
मेरे साकी में सबने अपना प्यारा साकी देखा
जिस को जैसी रुचि थी उसने वैसी देखी मधुशाला ।

कुचल हसरतें कितनी अपनी, हाय, बना पाया हाला,
कितने अरमानों को कर के खाक बना पाया प्याला,
पी पीने वाले चल देंगे हाय, न कोई जानेगा—
कितने मन के महल ढहे तब खड़ी हुई यह मधुशाला।

आत्म-परिचय

मैं जग-जीवन का भार लिये फिरता हूँ,
फिर भी जीवन में प्यार लिये फिरता हूँ,
कर दिया किसी ने झंकृत जिन को छू कर,
मैं साँसों के दो तार लिये फिरता हूँ!

मैं स्नेह-सुरा का पान किया करता हूँ,
मैं कभी न जग का ध्यान किया करता हूँ,
जग पूछ रहा उन को, जो जग की गाते,
मैं अपने मन का गान किया करता हूँ!

मैं निज उर के उद्गार लिये फिरता हूँ,
मैं निज उर के उपहार लिये फिरता हूँ,
है यह अपूर्ण संसार न मुझ को भाता,
मैं स्वप्नों का संसार लिये फिरता हूँ!

मैं जला हृदय में अग्नि दहा करता हूँ,
सुख-दुख दोनों में मग्न रहा करता हूँ,
जग भव-सागर तरने को नाव बनाये,
मैं मन-मौजों पर मस्त बहा करता हूँ!

मैं यौवन का उन्माद लिये फिरता हूँ,
उन्मादों में अवसाद लिये फिरता हूँ,

जो मुझ को बाहर हँसा, रुलाती भीतर,
मैं, हाय, किसी की याद लिये फिरता हूँ !

कर यत्न मिटे सब, सत्य किसी ने जाना ?
नादान वहीं है, हाय, जहाँ पर दाना !
फिर मूढ़ न क्या जग, जो इस पर भी सीखे,
मैं सीख रहा हूँ, सीखा ज्ञान भुलाना !

मैं और, और जग और, कहाँ का नाता !
मैं बना-बना कितने जग रोज़ मिटाता !
जग जिस पृथ्वी पर जोड़ा करता वैभव,
मैं प्रति पग से उस पृथ्वी को ठुकराता !

मैं निज रोदन में राग लिये फिरता हूँ,
शीतल वाणी में आग लिये फिरता हूँ,
हों जिस पर भूपों के प्रासाद निछावर,
मैं वह खँडहर का भाग लिये फिरता हूँ !

मैं रोया इस को तुम कहते हो गाना !
मैं फूट पड़ा, तुम कहते, छन्द बनाना !
क्यों कवि कह कर संसार मुझे अपनाये,
मैं दुनिया का हूँ एक नया दीवाना !

मैं दीवानों का वेष लिये फिरता हूँ,
मैं मादकता निःशेष लिये फिरता हूँ,
जिस को सुन कर जग झूम, झुके, लहराये,
मैं मस्ती का सन्देश लिये फिरता हूँ !

इस पार उस पार

इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा !

यह चाँद उदित हो कर नभ में कुछ ताप मिटाता जीवन का ,
लहरा-लहरा ये शाखाएँ कुछ शोक भुला देतीं मन का ,
कल मुरझाने वाली कलियाँ हँस कर कहती हैं मग्न रहो ,—
बुलबुल तरु की फुनगी पर से सन्देश सुनाती यौवन का ,
तुम दे कर मदिरा के प्याले मेरा मन बहला देती हो ,—
उस पार मुझे बहलाने का उपचार न जाने क्या होगा !
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा !

जग में रस की नदियाँ बहतीं, रसना दो बूँदें पाती है !
जीवन की झिलमिल-सी झाँकी नयनों के आगे आती है !
स्वर-ताल-मयी वीणा बजती, मिलती है बस झंकार मुझे !
मेरे सुमनों की गन्ध कहीं यह वायु उड़ा ले जाती है !
ऐसा सुनता, उस पार, प्रिये, ये साधन भी छिन जायेंगे ,
तब मानव की चेतनता का आधार न जाने क्या होगा !
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा !

प्याला है, पर पी पायेंगे, है ज्ञात नहीं इतना हम को ,
इस पार नियति ने भेजा है असमर्थ बना कितना हम को ,
कहने वाले पर कहते हैं, हम कर्मों में स्वाधीन सदा ,
करने वालों की परवशता है ज्ञात किसे, जितनी हम को ?
कह तो सकते हैं, कह कर ही कुछ दिल हलका कर लेते हैं ,
उस पार अभागे मानव का अधिकार न जाने क्या होगा !
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा !

कुछ भी न किया था जब उस का उसने पथ में काँटे बोये ,
वे भार दिये धर कन्धों पर जो रो-रो कर हमने ढोये ।

महलों के स्वप्नों के भीतर जर्जर खँडहर का सत्य भरा !
उर में ऐसी हलचल भर दी, दो रात न हम सुख से सोये !
अब तो हम अपने जीवन भर उस क्रूर कठिन को कोस चुके,
उस पार नियति का मानव से व्यवहार न जाने क्या होगा !
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा !

संसृति के जीवन में, सुभगे ! ऐसी भी घड़ियाँ आयेंगी,
जब दिनकर की तमहर किरणें तम के अन्दर छिप जायेंगी,
जब निज प्रियतम का शव रजनी तम की चादर से ढक देगी,
तब रवि-शशि-पोषित यह पृथिवी कितने दिन खैर मनायेगी !
जब इस लम्बे चौड़े जग का अस्तित्व न रहने पायेगा,
तब तेरा-मेरा नन्हा-सा संसार न जाने क्या होगा !
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा !

ऐसा चिर पतझड़ आयेगा, कोयल न कुहुक फिर पायेगी,
बुलबुल न अँधेरे में गा-गा जीवन की ज्योति जगायेगी,
अगणित मृदु नव-पल्लव के स्वर-मरमर न सुने फिर जायेंगे,
अलि-अवली कलि-दल पर गुंजन करने के हेतु न आयेगी,
जब इतनी रसमय ध्वनियों का अवसान, प्रिये, हो जायेगा,
तब शुष्क हमारे कंठों का उद्‌गार न जाने क्या होगा !
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा !

सुन काल प्रबल का गुरु गर्जन निर्झरिणी भूलेगी नर्तन,
निर्झर भूलेगा निज 'टलमल,' सरिता, अपना कलकल गायन,
वह गायक-नायक सिन्धु कहीं चुप हो छिप जाना चाहेगा !
मुँह खोल खड़े रह जायेंगे गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर-गण !
संगीत सजीव हुआ जिन में, जब मौन वही हो जायेंगे,
तब, प्राण, तुम्हारी तन्त्री का जड़ तार न जाने क्या होगा !
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो, उस पार न जाने होगा !

उतरे इन आँखों के आगे जो हार चमेली ने पहने ,
वह छीन रहा, देखो माली सुकुमार लताओं के गहने ,
दो दिन में खींची जायेगी ऊषा की साड़ी सिन्दूरी !
पट इन्द्र-धनुष का सतरंगा पायेगा कितने दिन रहने !
जब मूर्तिमती सत्ताओं की शोभा सुषमा लुट जायेगी ,
तब कवि के कल्पित स्वप्नों का शृंगार न जाने क्या होगा !
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा !

दृग देख जहाँ तक पाते हैं, तम का सागर लहराता है ,
फिर भी उस पार खड़ा कोई, हम सब को खींच बुलाता है !
मैं आज चला, तुम आओगी कल; परसों, सब संगी साथी ।
दुनिया रोती-धोती रहती, जिस को जाना है, जाता है ।
मेरा तो होता मन डगमग तट पर के ही हलकोरों से !
जब मैं एकाकी पहुँचूँगा मँझधार, न जाने क्या होगा !
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा !

———

कवि की वासना

कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्‌गार मेरा ।

(१)

सृष्टि के प्रारम्भ में मैंने ऊषा के गाल चूमे ,
बाल रवि के भाग्यवाले दीप्त भाल विशाल चूमे ,
प्रथम सन्ध्या के अरुण दृग चूम कर मैंने सुलाये ,
तारिका-कलि से सुसज्जित नव निशा के बाल चूमे ,
वायु के रसमय अधर पहले सके छू होंठ मेरे ,
मृत्तिका की पुतलियों से आज क्या अभिसार मेरा ,
कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्‌गार मेरा ।

(२)

विगत-बाल्य वसुन्धरा के उच्च तुंग-उरोज उभरे,
तरु उगे हरिताभ पट धर काम के ध्वज मत्त फहरे,
चपल उच्छृंखल करों ने जो किया उत्पात उस दिन,
है हथेली पर खिला वह, पढ़ भले ही विश्व हहरे,
प्यास वारिधि से बुझा कर भी रहा अतृप्त हूँ मैं
कामिनी के कुच-कलश से आज कैसा प्यार मेरा।
कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा।

(३)

इन्द्रधनु पर शीश धर कर बादलों की सेज सुख पर
सो चुका हूँ नींद भर मैं चंचला को बाहु में भर
दीप रवि-शशि-तारकों ने बाहरी कुछ केलि देखी,
देख पर पाया न कोई स्वप्न वे सुकुमार सुन्दर
जो पलक पर कर निछावर थी गयी मधु यामिनी वह,
यह समाधि बनी हुई है यह न शयनागार मेरा।
कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा।

(४)

आज मिट्टी से घिरा हूँ पर उमंगें हैं पुरानी,
सोमरस जो पी चुका है आज उस के हाथ पानी,
होठ प्यालों पर झुके तो थे विवश इस के लिए वे,
प्यास का व्रत धार बैठा आज है मन किन्तु मानी;
मैं नहीं हूँ देह-धर्मों से बँधा, जग, जान ले तू,
तन विकृत हो जाय लेकिन मन सदा अविकार मेरा।
कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा।

(५)

निष्परिश्रम छोड़ जिन को मोह लेता विश्व भर को,
मानवों को, सुर-असुर को, वृद्ध ब्रह्मा, विष्णु, हर को,
भंग कर देता तपस्या सिद्ध, ऋषि, मुनि सत्तमों की
वे सुमन के बाण मैंने ही दिये थे पंचशर को:
शक्ति रख कुछ पास अपने ही दिया यह दान मैंने,

जीत पायेगा इन्हीं से आज क्या मन मार मेरा।
कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा।

(६)

प्राण प्राणों से सकें मिल किस तरह, दीवार है तन,
काल है घड़ियाँ न गिनता, बेड़ियों का शब्द झन-झन,
वेद-लोकाचार प्रहरी ताकते हर चाल मेरी,
बद्ध इस वातावरण में क्या करे अभिलाष यौवन।
अल्पतम इच्छा यहाँ मेरी बनी बन्दी पड़ी है,
विश्व क्रीड़ास्थल नहीं रे, विश्व कारागार मेरा।
कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा।

(७)

थी तृषा जब शीत जल की खा लिये अंगार मैंने,
चीथड़ों से उस दिवस था कर लिया शृंगार मैंने,
राजसी पट पहनने की जब हुई इच्छा प्रबल थी,
चाह-संचय में लुटाया था भरा भंडार मैंने।
वासना जब तीव्रतम थी बन गया था संयमी मैं,
हो रही मेरी क्षुधा ही सर्वदा आहार मेरा।
कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा।

(८)

कल छिड़ी, होगी खतम कल प्रेम की मेरी कहानी,
कौन हूँ मैं, जो रहेगी विश्व में मेरी निशानी?
क्या किया मैंने नहीं जो कर चुका संसार अब तक?
वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी?
मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता,
शत्रु मेरा बन गया है छल-रहित व्यवहार मेरा।
कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा।

———

सन्ध्या-वेला

बीत चली सन्ध्या की वेला !

धुँधली प्रति पल पड़ने वाली ,
एक रेख में सिमटी लाली
कहती है, समाप्त होता है सतरंगे बादल का मेला !
बीत चली सन्ध्या की वेला !

नभ में कुछ द्युतिहीन सितारे
माँग रहे हैं हाथ पसारे
'रजनी आये, रवि किरणों से हमने है दिन भर दुख झेला !'
बीत चली सन्ध्या की वेला !

अन्तरिक्ष में आकुल आतुर ,
कभी इधर उड़, कभी उधर उड़
पन्थ नीड़ का खोज रहा है पिछड़ा पंछी एक अकेला !
बीत चली सन्ध्या की वेला !

——

साथी से

साथी, सो न, कर कुछ बात !

बोलते उडुगण परस्पर ,
तरु-दलों में मन्द मरमर ,
बात करतीं सरि-लहरियाँ कूल से जल-स्नात !
साथी, सो न, कर कुछ बात !

बात करते सो गया तू,
स्वप्न में फिर खो गया तू,
रह गया मैं और आधी बात, आधी रात!
साथी, सो न, कर कुछ बात!

पूर्ण कर दे वह कहानी,
जो शुरू की थी सुनानी,
आदि जिस का हर निशा में, अन्त चिर-अज्ञात!
साथी, सो न, कर कुछ बात!

श्यामा तरु पर बोलने लगी

श्यामा तरु पर बोलने लगी!

है अभी पहर-भर शेष रात,
है पड़ी भूमि हो शिथिल-गात,
यह कौन ओस-जल में सहसा मिसरी के कण घोलने लगी?
श्यामा तरु पर बोलने लगी!

दिग्वधुओं का मुख तमाच्छन्न
अब अस्फुट आभा से प्रसन्न,
यह कौन उषा का अवगुंठन गा-गा कर के खोलने लगी?
श्यामा तरु पर बोलने लगी!

अधरों के नीचे ले जा कर
इसने रक्खा क्या पेय प्रखर,
जिस के छूते ही सकल प्रकृति ही सजल चपल डोलने लगी?
श्यामा तरु पर बोलने लगी!

मूल्य दे सुख के क्षणों का

मूल्य दे सुख के क्षणों का !
एक पल स्वच्छन्द हो कर
तू चला जल, थल, गगन पर
हाय, आवाहन वही था विश्व के चिर बन्धनों का !
मूल्य दे सुख के क्षणों का ।

पा निशा की स्वप्न-छाया
एक तूने गीत गाया
हाय, तूने रुद्ध खोला द्वार शत-शत क्रन्दनों का !
मूल्य दे सुख के क्षणों का !

आँसुओं से ब्याज भरते
अनवरत लोचन सिहरते ,
हाय, कितना बढ़ गया ऋण होंठ के दो मधु-कणों का !
मूल्य दे सुख के क्षणों का !

——

कितना अकेला आज मैं

कितना अकेला आज मैं !
संघर्ष में टूटा हुआ ,
दुर्भाग्य से लूटा हुआ !
परिवार से छूटा हुआ, कितना अकेला आज मैं !
कितना अकेला आज मैं !

भटका हुआ संसार में ,
अकुशल जगत व्यवहार में ,
असफल सभी व्यापार में, कितना अकेला आज मैं !
कितना अकेला आज मैं !

खोया सभी विश्वास है ,
भूला सभी उल्लास है ,
कुछ खोजती हर साँस है, कितना अकेला आज मैं !
कितला अकेला आज मैं !

—

जब जब मेरी जिह्वा डोले

जब-जब मेरी जिह्वा डोले ।
स्वागत जिन का हुआ समर में ,
वक्षस्थल पर, सिर पर, कर में ,
युग-युग से जो भरे नहीं हैं मानव के घावों को खोले ।
जब-जब मेरी जिह्वा डोले ।

यदि न बन सके उन पर मरहम
मेरी रसना दे कम से कम
इतना तो रस जिस में मानव अपने इन घावों को धो ले ।
जब-जब मेरी जिह्वा डोले ।

यदि न सके दे ऐसे गायन ,
बहले जिन को गा मानव-मन ,
शब्द करे ऐसे उच्चारण
जिन के अन्दर से इस जग के शापित मानव का स्वर बोले ।
जब-जब मेरी जिह्वा डोले ।

—

अरे है वह अन्तस्तल कहाँ ?

अरे है वह अन्तस्तल कहाँ ?

अपने जीवन का शुभ सुन्दर
बाँटा करता हूँ मैं घर-घर,
एक जगह ऐसी भी होती,
निःसंकोच विकार-विकृति निज सब रख सकता जहाँ !
अरे है वह अन्तस्तल कहाँ ?

करते कितने सर-सरि-निर्झर
मुखरित मेरे आँसू का स्वर,
एक उदधि ऐसा भी होता,
होता गिर कर लीन सदा को नयनों का जल जहाँ।
अरे है वह अन्तस्तल कहाँ ?

जगती के विस्तृत कानन में
कहाँ नहीं भय औ' किस क्षण में ?
एक बिन्दु ऐसा भी होता,
जहाँ पहुँच कर कह सकता मैं, 'सदा सुरक्षित यहाँ' !
अरे है वह अन्तस्तल कहाँ ?

—१

नागिन

नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !
तू प्रलय-काल के मेघों का कज्जल-सा कालापन ले कर,
तू नवल सृष्टि की ऊषा की नव-द्युति अपने अंगों में भर,

बड़वाग्नि-विलोड़ित अम्बुधि की उत्तुंग तरंगों से गति ले ,
रथ-युत रवि-शशि को बन्दी कर दृग-कोयों का रच बन्दीघर ,
कौंधती तड़ित की जिह्वा-सी विष मधुमय दाँतों में दाबे ,
तू प्रकट हुई सहसा कैसे मेरी जगती में, जीवन में ?
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

तू मनोमोहिनी रम्भा-सी, तू रूपवती रति-रानी-सी ,
तू मोहमयी उर्वशी-सदृश, तू मानमयी इन्द्राणी-सी ,
तू दयामयी जगदम्बा-सी, तू मृत्यु-सदृश कटु क्रूर, निठुर ,
तू लयंकरी कालिका-सदृश तू भयंकरी रुद्राणी-सी ,
तू प्रीति, भीति, आसक्ति, घृणा की एक विषम संज्ञा बन कर ,
परिवर्तित होने को आयी मेरे आगे क्षण-प्रतिक्षण में ।
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

प्रलयंकर शंकर के सिर पर जो धूलि-धूसरित जटाजूट ,
उस में कल्पों से सोयी थी पी कालकूट का एक घूँट ,
सहसा समाधि कर भंग शम्भु जब तांडव में तल्लीन हुए ,
निद्रालसमय, तन्द्रा-निमग्न तू धूमकेतु सी पड़ी छूट ,
अब घूम जलस्थल-अम्बर में अब घूम लोक-लोकान्तर में
तू किस को खोजा करती है , तू है किस के अन्वीक्षण में ?
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

तू नागयोनि नागिनी नहीं, तू विश्व-विमोहक वह माया ,
जिस की इंगित पर युग-युग से यह निखिल विश्व नचता आया ,
अपने तप के तेजोबल से दे तुझ को व्याली की काया ,
धूर्जटि ने अपने जटिल जूट व्यूहों में तुझ को भरमाया ,
पर मदन-कदन कर महायतन भी तुझे न सब दिन बाँध सके ,
तू फिर स्वतन्त्र बन फिरती है सब के लोचन में, तन-मन में ,
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

तू फिरती चंचल फिरकी-सी अपने फन में फुफकार लिये,
दिग्गज भी जिस से काँप उठें ऐसी भीषण हुंकार लिये,
पर पल में तेरा स्वर बदला, पल में तेरी मुद्रा बदली,
तेरा रूठा है कौन कि तू अधरों पर मृदु मनुहार लिये,
अभिनन्दन करती है उस का, अभिवादन करती है उस का,
लगती है कुछ भी देर नहीं तेरे मन के परिवर्तन में,
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में!

प्रेयसि का जग के तापों से रक्षा करने वाला अंचल,
चंचल यौवन कल पाता है पा कर जिस की छाया शीतल,
जीवन का अन्तिम वस्त्र कफ़न जिस को नख से शिख तक तन कर
वह सोता ऐसी निद्रा में है होता जिस के हेतु न कल,
जिस को मन तरसा करता है, जिस से मन डरपा करता है,
दोनों की झलक मुझे मिलती तेरे फन के अवगुंठन में!
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में!

जाग्रत जीवन का कम्पन है तेरे अंगों के कम्पन में,
पागल प्राणों का स्पन्दन है तेरे अंगों के स्पन्दन में,
तेरी द्रुत-दोलित काया में मतवाली घड़ियों की धड़कन,
उन्मद साँसों की सिहरन है तेरी काया की सिहरन में,
अल्हड़ यौवन करवट लेता जब तू भू पर लुंठित होती,
अलमस्त जवानी अँगड़ाती तेरे अंगों की ऐंठन में,
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में!

तू उच्च महत्वाकांक्षी-सी नीचे से उठती ऊपर को,
निज मुकुट बना लेगी जैसे तारावलि-मंडित अम्बर को,
तू विनत प्रार्थना-सी झुक कर ऊपर से नीचे को आती,
जैसे कि किसी की पद-रज से ढकने को है अपने सिर को,
तू आशा-सी आगे बढ़ती, तू लज्जा-सी पीछे हटती,

जब एक जगह टिकती लगती दृढ़ निश्चय-सी निश्चल मन में।
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

मलयाचल से मलयानिल-सी पल बल खाती, पल इतराती
तू जब आती युग-युग दहती शीतल हो जाती है छाती,
पर जब चलती उद्वेग भरी उत्तप्त मरुस्थल की लू-सी
चिर-संचित, सिंचित अन्तर के नन्दन में आग लगा जाती,
शत हिम-शिखरों की शीतलता, शत ज्वालामुखियों की दहकन
दोनों आभासित होती हैं मुझ को तेरे आलिंगन में !
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

इस पुतली के अन्दर चित्रित जग के अतीत की करुण कथा,
जग के यौवन का घर्षण जग के जीवन की दुसह व्यथा,
है झूम रही उस पुलती में ऐसे सुख सपनों की झाँकी,
जो निकली है जब आशा ने दुर्गन भविष्य का गर्भ मथा,
हो क्षुब्ध-मुग्ध पल-पल क्रम से लंगर-सा हिल-हिल वर्तमान
मुख अपना देखा करता है तेरे नयनों के दर्पण में,
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन मेरे जीवन के आंगन में !

तेरे आनन का एक नयन दिनमणि-सा दिपता उस पथ पर,
जो स्वर्ग लोक को जाता है, जो चिर-संकटमय चिर-दुस्तर,
तेरे आनन का एक नेत्र दीपक-सा उस मग पर जगता
जो नरक लोक को जाता है, जो चिर सुखमामय चिर-सुखकर,
दोनों के अन्दर आमन्त्रण दोनों के अन्दर आकर्षण,
खुलते-मुँदते हैं स्वर्ग-नरक के दर तेरी हर चितवन में !
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

सहसा यह तेरी भृकुटि झुकी, नभ से करुणा की वृष्टि हुई,
मृत मूर्च्छित पृथ्वी के ऊपर फिर से जीवन की सृष्टि हुई,
सहसा यह तेरी भृकुटि तनी, नभ से अंगारे बरस पड़े,

जग के आँगन में लपट उठी, स्वप्नों की दुनियाँ नष्ट हुई ,
स्वेच्छाचारिणि, है निष्कारण सब तेरे मन का क्रोध, कृपा ,
जग मिटता बनता रहता है तेरे भ्रू के संचालन में ,
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

अपने प्रतिकूल गुणों की सब माया तू संग दिखाती है ,
भ्रम, भय, संशय, सन्देहों से काया विजड़ित हो जाती है ,
फिर एक लहर-सी-आती है, फिर होश अचानक होता है ,
विश्वासमयी आशा, निष्ठा, श्रद्धा पलकों पर छाती है ,
तू मार अमृत से सकती है अमरत्व गरल से दे सकती ,
मेरी गति सब सुध-बुध भूली तेरे छलनामय लक्षण में ,
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

विपरीत क्रियाएँ मेरी भी अब होती हैं तेरे आगे ,
पग तेरे पास चले आये जब वे तेरे भय से भागे ,
मायाविनि, क्या कर देती है सीधा उलटा हो जाता है ,
जब मुक्ति चाहता था अपनी तुझ से मैंने बन्धन माँगे ,
अब शान्ति दुसह-सी लगती है, अब मन अशान्ति में रमता है ,
अब जलन सुहाती है उर को, अब सुख मिलता उत्पीड़न में !
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

तूने आँखों में आँख डाल है बाँध लिया मेरे मन को ,
मैं तुझे कीलने चला मगर कीला तू ने मेरे तन को ,
तेरी परछाईं-सा बन मैं तेरे सँग हिलता-डुलता हूँ ,
मैं नहीं समझता अलग-अलग अब तेरे-अपने जीवन को ,
मैं तन-मन का दुर्बल प्राणी; ज्ञानी-ध्यानी भी बड़े-बड़े
हो दास चुके तेरे; मुझ को क्या लज्जा आत्म-समर्पण में !
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

तुझ पर न सका चल कोई भी मेरा प्रयोग मारण-मोहन ,
तेरा न फिरा मन और कहीं फेंका भी मैंने उच्चाटन ,

तब मन्त्र, तन्त्र, अभिचारों पर तू हुई विजयिनी निष्प्रयत्न,
उलटा तेरे वश में आया मेरा परिचालित वशीकरण,
कर यत्न थका, तू सध न सकी मेरे गीतों से, गायन से,
कर यत्न थका, तू बँध न सकी मेरे छन्दों के बन्धन में।
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में!

सब साम दाम औ' दंड भेद तेरे आगे बेकार हुआ,
जप, तप, व्रत, संयम, साधन का असफल सारा व्यापार हुआ,
तू दूर न मुझ से भाग सकी, मैं दूर न तुझ से भाग सका,
अनिवारिणि, करने को अन्तिम निश्चय ले मैं तैयार हुआ।
अब शान्ति, अशान्ति, मरण, जीवन या इन से भी कुछ भिन्न अगर,
सब तेरे विषमय चुम्बन में, सब तेरे मधुमय दंशन में!
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में!
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे प्राणों के प्रांगण में!

मयूरी

मयूरी, नाच, मगन-मन नाच!

गगन में सावन-घन छाये,
न क्यों सुधि साजन की आये,
मयूरी, आँगन-आँगन नाच।
मयूरी, नाच, मगन-मन नाच!

धरणि पर छायी हरियाली,
सजी कलि-कुसुमों से डाली,
मयूरी, मधुवन-मधुवन नाच!
मयूरी, नाच मगन-मन नाच!

समीरण सौरभ सरसाता,
घुमड़ घन मधुकण बरसाता,
मयूरी, नाच, मदिर-मन नाच!
मयूरी, नाच, मगन-मन नाच!

निछावर इन्द्र-धनुष तुझ पर
निछावर प्रकृति, पुरुष तुझ पर,
मयूरी, उन्मन-उन्मन नाच!
मयूरी, छूम छनाछन नाच!
मयूरी, नाच मगन-मन नाच!

तुम गा दो

तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाये!

मेरे वर्ण-वर्ण विशृंखल, चरण-चरण भरमाये,
गूँज-गूँज कर मिटने वाले मैंने गीत बनाये,
कूक हो गयी हूक गगन की कोकिल के कंठों पर,
तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाये!

जब-जब जग ने कर फैलाये, मैंने कोष लुटाया,
रंक हुआ मैं निज निधि खो कर जगती ने क्या पाया!
भेंट न जिस में मैं कुछ खोऊँ पर तुम सब कुछ पाओ,
तुम ले लो, मेरा दान अमर हो जाये!
तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाये!

सुन्दर और असुन्दर जग में मैंने क्या न सराहा,
इतनी ममतामय दुनिया में मैं केवल अनचाहा,
देखूँ अब किस की रुकती है, आ मुझ पर अभिलाषा,

तुम रख लो, मेरा मान अमर हो जाये !
तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाये !

दुख से जीवन बीता फिर भी शेष अभी कुछ रहता ,
जीवन की अन्तिम घड़ियों में भी तुम से यह कहता ,
सुख की एक साँस पर होता है अमरत्व निछावर ,
तुम छू दो, मेरा प्राण अमर हो जाये !
तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाये !

स्वप्न में तुम हो, तुम्हीं हो जागरण में

स्वप्न में तुम हो, तुम्हीं हो जागरण में ।

कब उजाले में मुझे कुछ और भाया ,
कब अँधेरे ने तुम्हें मुझ से छिपाया ,
तुम निशा में औ' तुम्हीं प्रातः किरण में ,
स्वप्न में तुम हो, तुम्हीं हो जागरण में ।
जो कही मैंने तुम्हारी थी कहानी ,
जो सुनी उस में तुम्हीं तो थीं बखानी ,
बात में तुम औ' तुम्हीं वातावरण में ,
स्वप्न में तुम हो, तुम्हीं हो जागरण में ।
ध्यान है केवल तुम्हारी ओर जाता ,
ध्येय में मेरे नहीं कुछ और आता ,
चित्त में तुम हो, तुम्हीं हो चितवन में ,
स्वप्न में तुम हो, तुम्हीं हो जागरण में ।
रूप बनकर घूमता जो वह तुम्हीं हो ,
राग बनकर गूँजता जो वह तुम्हीं हो ,
तुम नयन में औ' तुम्हीं अन्तःकरण में ,
स्वप्न में तुम हो, तुम्हीं हो जागरण में ।

प्यार पहली बार लो तुम

प्राण सन्ध्या झुक गयी गिरि, ग्राम, तरु पर ,
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिन्दूरी चाँद
मेरा प्यार पहली बार लो तुम ।

सूर्य जब ढलने लगा था कह गया था ;
मानवो, खुश हो कि दिन अब जा रहा है ,
जा रही हैं स्वेद, श्रम की क्रूर घड़ियाँ ,
औ' समय सुन्दर, सुहाना आ रहा है ।
छा गयी है शान्ति खेतों में, वनों में
पर प्रकृति के वक्ष की धड़कन बना-सा ,
दूर, अनजानी जगह पर एक पंछी
मन्द लेकिन मस्त स्वर से गा रहा है ,
औ' धरा की पीन पलकों पर विनिद्रित
एक सपने-सा मिलन का क्षण हमारा ,
स्नेह के कन्धे प्रतीक्षा कर रहे हैं ,
झुक न जाओ और देखो उस तरफ़ भी :

प्राण, सन्ध्या झुक गयी गिरि, ग्राम, तरु पर ,
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिन्दूरी चाँद ,
मेरा प्यार पहली बार लो तुम ।

इस समय हिलती नहीं है एक डाली ,
इस समय हिलता नहीं है एक पत्ता ,
यदि प्रणय जागा न होता इस निशा में ,
सुप्त होती विश्व की सम्पूर्ण सत्ता ,
वह मरण की नींद होती जड़ भयंकर ,
और उस का टूटना होता असम्भव ,
प्यार से संसार खो कर जागता है ,
इस लिए है प्यार की जग में महत्ता ,

हम किसी के हाथ में साधन बने हैं,
सृष्टि की कुछ माँग पूरी हो रही है,
हम नहीं अपराध कोई कर रहे हैं,
मत लजाओ और देखो उस तरफ़ भी :

प्राण, रजनी भिंच गयी नभ के भुजों में,
थम गया है शीश पर निरुपम रुपहरा चाँद,
मेरा प्यार बारम्बार लो तुम।

प्राण, सन्ध्या झुक गयी गिरि, ग्राम, तरु पर,
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिन्दूरी चाँद,
मेरा प्यार पहली बार लो तुम।

पूर्व से पच्छिम तलक फैले गगन के
मन-फलक पर अनगिनत अपने करों से
चाँद सारी रात लिखने में लगा था
'प्रेम' जिस के सिर्फ ढाई अक्षरों से
हो अलंकृत आज नभ कुछ दूसरा ही
लग रहा है और लो जग-जग विहग दल
पढ़ इसे, जैसे नया यह मन्त्र कोई,
हर्ष करते व्यक्त पुलकित पर, स्वरों से,
किन्तु तृण-तृण ओस छन-छन कह रही है,
आ गई वेला विदा के आँसुओं की,
यह विचित्र विडम्बना पर कौन चारा,
हो न कातर और देखो उस तरफ भी :

प्राण राका उड़ गई प्रातः पवन में,
ढल रहा है क्षितिज के नीचे शिथिल तन चाँद,
मेरा प्यार अन्तिम बार लो तुम।

प्राण, सन्ध्या झुक गयी गिरि, ग्राम, तरु पर,
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिन्दूरी चाँद,
मेरा प्यार पहली बार लो तुम।

रागों की रात

सखि, यह रागों की रात नहीं सोने की।

अम्बर-अम्बर गल धरती का अंचल आज भिगोता,
प्यार-पपीहे का पुलकित स्वर दिशि-दिशि मुखरित होता,
और प्रकृति-पल्लव-अवगुंठन फिर-फिर पवन उठाता,
यह मदमातों की रात नहीं सोने की;
सखि, यह रागों की रात नहीं सोने की।

हैं अनगिन अरमान, मिलन की ले-दे के दो घड़ियाँ,
झूल रहीं पलकों पर कितने सुख-सपनों की लड़ियाँ,
एक-एक पल में भरना है युग-युग की चाहों को,
सखि, यह साधों की रात नहीं सोने की;
सखि, यह रागों की रात नहीं सोने की।

बाट जोहते इस रजनी की वज्र-कठिन दिन बीते,
किन्तु अन्त में दुनियाँ हारी और हमीं-तुम जीते,
नर्म नींद के आगे अब क्यों आँखें पाँख झुकाएँ,
सखि, यह रातों की रात नहीं सोने की,
सखि, यह रागों की रात नहीं सोने की।

वही समय जिस की दो जीवन करते थे प्रत्याशा ,
वही समय जिस पर अटकी थी यौवन की सब आशा ,
इस बेला में क्या-क्या करने को हम सोच रहे थे ,
सखि, यह वादों की रात नहीं सोने की ,
सखि, यह रागों की रात नहीं सोने की ।

——

विभावरी

पहन चुका गगन नखत-खचित वसन ,
पहन चुकी अवनि तमस-असित वसन ,
असंख्य स्वप्न से लदे हृदय नयन ,
स्वभाव से भरी हुई विभावरी ।

हरेक ठौर देव मूर्ति है खड़ी ,
हरेक ठौर प्रेम-परी उतर पड़ी ,
सदेह स्वप्न से ठगे हृदय नयन ,
प्रभाव से भरी हुई विभावरी ।

उतारता गगन नखत-जटित वसन ,
उतारती अवनि तमस-रचित वसन ,
गगन चकित-नयन, धरा चकित-नयन ,
अभाव से भरी हुई विभावरी !

——

उषा-निशा

गगन वातायन पर आसीन उषा का सुन्दर स्वर्णिम चीर
सुबह लहराता जो चल मन्द सुवासित, शीतल, स्निग्ध समीर ,

वही अति निर्ममता के साथ पकड़ उस के आँचल का छोर
निशा की कलुषित कालिख बीच उसे बरबस देता है बोर।

प्रकृति के आँगन से लूँ सीख भला क्या जीवन का सन्देश,
विभा-मज्जित ऊषा का हास तिमिर में डूबा सन्ध्या-वेष,
गया था दे मुझ को जो दान दिवस में कोयल का आह्लाद,
गया ले उस को निशि में छीन पपीहे का व्यापक अवसाद।

आज दस बरसों से यह पीत चमेली खिलती एक प्रकार,
उतर आती इस पर हर साल अनोखी एक बसन्त-बहार,
मगर आ कर हर बार बसन्त पूछता मुझ से एक सवाल :
वही क्या तुम हो सचमुच व्यक्ति जिसे मैं ने देखा परसाल!

शिशिर की श्रीहत आकृति देख न रुकती थी आँसू की धार,
कि सहसा आ कर तन-मन-प्राण गयी गुदगुदा बसन्त-बयार,
अभी कर भी न सका था पूर्ण बसन्ती वैभव का गुणगान,
गया थप्पड़-सा मुँह पर मार अचानक पतझड़ का तूफ़ान!

यहाँ यदि हम हँसते, नादान; यहाँ यदि हम रोते, अज्ञान,
रहा हो इन दोनों से दूर नहीं देखा मैंने इनसान,
हँसी सुन कर आकाश उदास, रुदन सुन कर धरती सोल्लास,
हँसी का नभ करता अपमान रुदन का क्षिति करती उपहास!

अमर है मरने का सन्देश

एक दिन हंस-कमल-युत दीर्घ सरोवर होंगे जल से हीन,
करेंगी प्यास-प्यास दिन एक जगत की नदियाँ हो कर दीन,
एक दिन काल अग्निशर चंड सोख लेंगे सागर गम्भीर,
कौन-सी गिनती में, नादान, तुम्हारी आँखों का यह नीर!

एक दिन काल प्रबल के हाथ हिमालय के धर कन्ध विशाल,
एक झटके में नस-नस तोड़ धरा पर 'धम' से देंगे डाल,
रजत का उस का मुकुट विराट बनेगा रज के कण का ग्रास,
लिखा जाते मानव सम्राट् शिलाओं पर अपना इतिहास!

एक दिन चिर-विनाश की श्वास फूँक देगी सब वेद-पुराण,
फूँक देगी पावन इंजील भस्म कर देगी पूत कुरान,
राख होंगे सब कवि सम्राट्, तुम्हारे गौरव काव्य-किरीट,
हमारी तुकबन्दी के हेतु बहुत होंगे लघु-लघु कृमि-कीट।

इधर है मरुथल शून्य अनादि, उधर है लय मरुदेश अनन्त,
बसा है इन दोनों के बीच एक लघु कण पर सृष्टि-बसन्त,
एक लघु क्षण ले कोकिल कूक, चतुर्दिक आँधी के आसार,
एक लघु कम्पन-भर की देर, मरुस्थल होता एकाकार।

अचल रे अचल नहीं गिरि-शैल, अचल है चलने का व्यापार,
मिला जिस को है अचला नाम रही है ढो जीवन का भार!
नहीं अक्षय अक्षयवट वृक्ष, एक अक्षय है क्षय निःशेष,
अमर ओ अमर नहीं सुर-देव अमर है मरने का सन्देश!

असमर्थ

नहीं सकता है अम्बर फैल जहाँ तक फैला तेरा हाथ,
जगत का सब से तीव्र समीर नहीं दे सकता तेरा साथ,
ज्वलित सब से नभ का नक्षत्र नहीं रखता किरणों में ज़ोर!
कि छू भी ले उस तम का छोर जहाँ तू कर आया है भोर!

और इस मिट्टी के तो साथ बढ़ाया तूने इतना प्यार
कि इस का खेल-घरौंदा देख निछावर इस पर बारम्बार,

बुलाती अटपट बानी बोल बनाओ मुझ को अपना वास,
हृदय में सुन कर तेरे मोद, अधर पर सुन कर तेरे हास !

कहीं यह मिट्टी सकती जान कि कितने लोकों का कर नाश
भराता है तू उस की नीव उठाना जो तुझ को आवास !
नहीं, पर मिट्टी सकती जान कि रचकर ऐसा भी आगार
नहीं तू होता क्यों सन्तुष्ट, किया क्यों करता हाहाकार !

कहीं यह अम्बर सकता जान कि कितने आकाशों का नाश
हुआ है तब जा कर वह शून्य बना जो तुझ में करता वास !
नहीं पर अम्बर सकता जान, कि रच कर ऐसा शून्य महान
सहन क्यों करने में असमर्थ अभावों का भी तू सुनसान !

कहीं यह झंझा सकती जान कि कितने तूफानों के प्राण
गये हैं तब जा कर वह साँस बनी है जो तुम में गतिमान !
नहीं, पर, झंझा सकती जान कि तेरे वश में जब यह श्वास,
कँपाता जैसे पीपल-पात, तुझे क्यों तेरा ही उच्छ्वास !

कहीं यह ज्वाला सकती जान कि नभ के पिंडों में जो आग
धधकती रहती है सब काल कभी तुझ को छूने का दाग !
नहीं, पर ज्वाला सकती जान कि हो यह ज्योतिपुंज महान्
किसी की करता क्यों मनुहार कि कर दे तेरा पुण्य-विहान !

कहीं यह सागर सकता जान कि कितने जलनिधि सीमाहीन
गये हैं सोखे तब वह बूँद बनी जिस से तेरे दृग पीन !
नहीं, पर सागर सकता जान कि ऐसे आँसू का वरदान
लुटा तू देता क्यों चुपचाप किसी के चरणों में अनजान !

———

नया चाँद

उआ हुआ है नया चाँद
जैसे उग चुका है हजार बार।
आ-जा रही हैं कारें,
साइकिलों की क़तारें,
पटरियों पर दोनों ओर
चले जा रहे है बूढ़े
ढोते जिन्दगी का भार,
जवान, करते हुए प्यार,
बच्चे, करते खिलवार।
उआ हुआ है नया चाँद,
जैसे उग चुका है हज़ार बार।
मैं ही क्यों इसे देख
एकाएक
गया हूँ रुक,
गया हूँ झुक!

पपीहा और चील-कौए

मैं पपीहे की
पिपासा, खोज, आशा
औ' विकट विश्वास पर
पलती प्रतीक्षा
और उस पर व्यंग्य-सा करती
निराशा
और उस की चील-कौए से चले
जीवन-मरण संघर्ष की लम्बी कहानी
कह रहा हूँ,

किन्तु उस से क्यों
तुम्हारा दिल धड़कता,
किन्तु उस से क्यों
तुम्हें रोमांच होता,
किन्तु उस से क्यों
तुम्हें लगता कि कोई
खोल कर पन्ने तुम्हारी डायरी के
पढ़ रहा है?

मैं बताता हूँ,
पपीहा
है बड़ा अद्भुत विहंगम।
यह कहीं घूमे,
गगन, गिरि, घाटियों में,
वन तराई में, खुले मैदान,
खेतों में, हरे-सूखे,
समुन्दर तीर,
नदियों के कछारे,
निर्झरों के तट,
सरोवर के किनारे,
बाग, बंजर, बस्तियों पर,
उच्च प्रासादों
कि नीचे छप्परों पर:
यह कहीं घूमे, उड़े,
चारा चुगे,
नारा लगाये
पी-कहाँ का,
पर बनाता
घोंसला अपना सदा यह,
भावनाओं के जुटा खर-पात,

केवल मानवों की छातियों में।

मैं घरणि की धूलि से निर्मित
घरणि की धूलि में लिपटा,
सना,
पागल बना-सा,
प्यास अपनी
शान्त करने के लिए क्यों
छानता आकाश रहता?
(भूमि की करता अवज्ञा
तीन-चौथाई सलिल से जो ढकी है।)
हाथ क्या आता?
हँसी अपनी कराता।
क्यों परिधि अपनी
नहीं पहचान पाता?

साफ है,
पापी पपीहे ने
लगाया घोंसला मेरे हृदय में।
बहुत समझाया
उसे मैं ने,
न पी की बोल बोली,
किन्तु दीवाना
न माना;
एक दिन मैंने मरोड़े
पंख उस के,
तोड़ दी गर्दन,
बहुत वह फड़फड़ाया,
बच न पाया।
किन्तु, मरते वक्त

इतना कह गया
किसने मुझे मारा ,
मरा भी मैं कहाँ ,
मैं तो तुम्हारे
प्राण की ही हूँ प्रतिध्वनि ,
वह जहाँ मुखरित हुआ ,
मैं फिर जिया ।

शून्य कोई भी जगह
रहने नहीं पाती
बहुत दिन इस जगत में ।
जिस जगह पर
था पपीहे का बसेरा ,
अब वहाँ पर
चील-कौए ने
लिया है डाल डेरा ।
संकुचित उन की निगाहें
सिर्फ नीचे को
लगी रहतीं निरन्तर ।
कुछ नहीं वे
माँगते या जाँचते
ऐसा कि जो
उन के परों से
नप न पाये ,
तुल न पाये ,
ढक न जाये ।
और, मँडलाते
बना छोटी परिधि ऐसी
कि उस के बीच
सीमित, संकुचित-संपुटित

मेरा प्राण
घुटता जा रहा है।
और, मुझ को
देखते वे इस तरह,
जैसे कि मैं
आहार उन का छोड़ कर
कुछ भी नहीं हूँ।
और मुझ में
अब नहीं ताकत
कि उन की गर्दनों को तोड़ दूँ मैं,
याकि उन के पर मरोड़ूँ।
पर लिये अरमान हूँ मैं :
फिर पपीहा लौट आये,
फिर असम्भव प्यास
प्राण में जगाये।

फिर अखंड-अनन्त नभ के बीच
ले जा कर भ्रमाये,
फिर प्रतीक्षा;
फिर अमर विश्वास के
वह गीत गाये,
पी - कहाँ की रट लगाये :
काल से संग्राम,
जग के हास,
जीवन की निराशा
के लिए तैयार
फिर होना सिखाये।

पालना उर में
पपीहे का कठिन है,

चील-कौए का, कठिनतर,
पर कठिनतम
रक्त, मज्जा,
मांस अपना
चील-कौए को खिलाना,
साथ पानी
स्वप्न स्वाती का
पपीहे को पिलाना।
और, अपने को
विभाजित इस तरह करना
कि दोनों अंग
रह कर संग भी
बिलकुल अलग,
विपरीत बिलकुल,
शत्रु आपस में
बने हों।

तुम अगर इंसान हो तो
इस विभाजन,
इस लड़ाई
से अपरिचित हो नहीं तुम।
धृष्टता हो माफ़,
मैंने जो तुम्हारी,
या कि अपनी डायरी से
पंक्तियाँ कुछ आज
उद्धृत की यहाँ पर।

केशवदास के प्रति

कठिन काव्य के प्रेत, न डालो मुझ पर अपनी छाया ;
सरल स्वभाव, सरल जीवन को मैंने मन्त्र बनाया ।

मेरे कुछ अगुओं को तुमने आ अनजाने घेरा ,
जिस से उन का काव्य-भवन बन गया भूत का डेरा ।

क्लिष्ट कथन है गाँठ हृदय की शब्दों के बाने में ;
जिसने गाँठ नहीं पड़ने दी क्यों अटके गाने में ।

क्यों भटके कोशों की गलियों में सूनी, अँधियारी ,
कविता, जगती के प्रांगण में जीवन की किलकारी ।

भूत उसी घर में बसता है जिस के बन्द किवाड़े ,
बंद खिड़कियाँ, नहीं झाँकते जिस में रवि-शशि-तारे ।

मुक्त गगन में मुक्त पवन को आठों पहर निमन्त्रण ,
आओ, जाओ, अपना घर है, बादल, विहग, प्रभंजन ।

भर दो मेरे अन्तराल को चहक, चमक, गानों से ,
इन्द्र-धनुष के सतरंगों से बिजली के बाणों से ।

कठिन काव्य के प्रेत, कभी क्या तुमने मन-पट खोला ?
कलम तुम्हारा बहुत चला, पर कभी हृदय भी बोला ?

एक बार, जब चन्द्रमुखी ने 'बाबा' तुम्हें पुकारा ,
एक बार तब खुली तनिक-सी तमक तुम्हारी कारा ।

तब जीवन की हविस विवशता में अपनी मुसकायी ,
पत्थर ने जैसे छाती में चिनगारी दिखलायी ।

एक उसी क्षण की खातिर मैं याद तुम्हें करता हूँ,
वर्ना तुमसे और तुम्हारे भक्तों से डरता हूँ।

कठिन काव्य के प्रेत, न डालो मुझ पर अपनी छाया;
सरल स्वभाव, सरल जीवन को मैंने मन्त्र बनाया।

मैं सुख पर, सुखमा पर रीझा

मैं सुख पर, सुखमा पर रीझा, इस की मुझ को लाज नहीं है।

जिसने कलियों के अधरों में रस रक्खा पहले शरमाये,
जिसने अलियों के पंखों में प्यास भरी वह सिर लटकाये,
आँख करे वह नीची जिसने यौवन का उन्माद उभारा,
मैं सुख पर सुखमा पर रीझा, इस की मुझ को लाज नहीं है।

मन में सावन-भादों बरसे, जीभ करे पर पानी-पानी।
चलती-फलती है दुनिया में बहुधा ऐसी बेईमानी,
पूर्वज मेरे, किन्तु, हृदय की सच्चाई पर मिटते आये,
मधुवन भोगे, मरु उपदेशे, मेरे वंश रिवाज नहीं है।
मैं सुख पर, सुखमा पर रीझा, इस की मुझ को लाज नहीं है।

चला सफर पर जब तब मैंने पत पूछा अपने अनुभव से,
अपनी एक भूल से सीखा ज्यादा, औरों के सच सौ से,
मैं बोला जो मेरी नाड़ी में डोला, जो रग में घूमा,
मेरी वाणी आज किताबी नक्शों की मोहताज नहीं है।
मैं सुख पर, सुखमा पर रीझा, इस की मुझ को लाज नहीं है।

अधरामृत की उस तह तक मैं पहुँचा विष को भी चख आया ,
और गया सुख को पिछुआता पीर जहाँ वह बन कर छाया ,
मृत्यु-गोद में जीवन अपनी अन्तिम सीमा पर लेटा था ,
राग जहाँ पर तीव्र अधिकतम है, उस में आवाज़ नहीं है ।
मैं सुख पर, सुखमा पर रीझा, इस की मुझ को लाज नहीं है ।

नरेन्द्र शर्मा

डर न, मन

डर न, मन !
असमय घिरे घन जो ,
स्वयं हट जायँगे ,
फट जायँगे ,
जब विष-सदृश, वह वज्र उर का
(किसी विधवा की अभागी कोख के जारज सदृश ही)
निकल उल्कापात सा, धँस जायगा सहसा धरा में !
उपल दल गल जायँगे !
तू डर न, मन !
असमय घिरे घन जो ,
स्वयं हट जायँगे ,
फट जायँगे !

स्वप्न सुख के फिर हँसेंगे ,
पूर्णिमा के चाँद से वे
व्योम के उर में बसेंगे !
रोम, हाँ प्रति रोम ,
प्रिय के मिलन की प्रिय कल्पना में
चट पुलक बन जायँगे !
तू डर न, मन !
असमय घिरे घन जो ,
स्वयं हट जायँगे ,
फट जायँगे !

आज के बिछुड़े न जाने—

आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?
आज से दो प्रेम-योगी अब वियोगी ही रहेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

सत्य हो यदि, कल्प की भी कल्पना कर धीर बाँधूँ,
किन्तु कैसे व्यर्थ की आशा लिये यह योग साधूँ!
जानता हूँ अब न हम-तुम मिल सकेंगे!
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे?

आयगा मधुमास फिर भी, आयगी श्यामल घटा घिर,
आँख भर कर देख लो अब, मैं न आऊँगा कभी फिर!
प्राण तन से बिछुड़ कर कैसे मिलेंगे?
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे?

अब न रोना, व्यर्थ होगा हर घड़ी आँसू बहाना,
आज से अपने वियोगी हृदय को हँसना सिखाना,
अब न हँसने के लिए हम तुम मिलेंगे!
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे?

आज से हम तुम गिनेंगे एक ही नभ के सितारे,
दूर होंगे पर सदा को ज्यों नदी के दो किनारे,
सिन्धु-तट पर भी न जो दो मिल सकेंगे!
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे?

तट नदी के, भग्न उर के दो विभागों के सदृश हैं,
चीर जिन को विश्व की गति बह रही है, वे विवश हैं,
एक अथ-इति पर न पथ में मिल सकेंगे!
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे?

यदि मुझे उस पार के भी मिलन का विश्वास होता,
सत्य कहता हूँ, न मैं असहाय या निरुपाय होता,
किन्तु क्या अब स्वप्न में भी मिल सकेंगे?
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे?

आज तक किस का हुआ सच स्वप्न जिसने स्वप्न देखा?
कल्पना के मृदुल कर से मिटी किस की भाग्य-रेखा?

अब कहाँ सम्भव कि हम फिर मिल सकेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

आह अन्तिम रात वह, बैठी रहीं तुम पास मेरे ,
शीश कन्धे पर धरे घन-कुन्तलों से गात घेरे ,
क्षीण स्वर में कहा था, 'अब कब मिलेंगे ?'
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

'कब मिलेंगे ?' पूछता मैं विश्व से जब विरह-कातर ,
'कब मिलेंगे ?' गूँजते प्रतिध्वनि निनादित व्योम-सागर ,
'कब मिलेंगे ?' प्रश्न, उत्तर 'कब मिलेंगे ?'
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

——

याद जब आये तुम्हें—

याद जब आये तुम्हें मेरी, सुनयने ! व्यर्थ भर लाना न लोचन !
आज की भीषण दुपहरी में सहम कर
सो रहा होगा सकल संसार, केवल
जागती होगी तुम्हीं, या बाहु फैला
विकल होगा सामने का वृक्ष पीपल !
देख चलदल के चमकते पत्र कम्पित, व्यर्थ भर लाना न लोचन !
गृहिणियों के हेतु ले धन-धान्य आती
हो नगर की ओर जब गोधूलि-बेला ,
देख पाओ यदि कदाचित् क्षितिज-तट पर
कहीं मिटता धूलि का बादल अकेला ,
सुधि न लाना इस प्रवासी चिर-पथिक की, व्यर्थ भर लाना न लोचन !
फिर धधक बुझ जाय जब दिन की चिता भी ,
अस्थि-फूलों से खिलें जब शून्य नभ में कुन्द-तारक ,

देख पाओगी कदाचित् तब, किसी आतुर हृदय-सा ,
अश्रु-सा कम्पित नयन में, व्योम में उद्विग्न लुब्धक !
ध्यान कर तब किसी मिलनातुर पथिक का, व्यर्थ भर लाना न लोचन !
याद जब आये तुम्हें मेरी, सुनयने ! व्यर्थ भर लाना न लोचन !!

सेंमल

मधुमास स्वयं ही चला गया
आया जैसे वह अनायास !
फिर सूख गया वह सेंमल का हतभाग्य रूख ,
दो दिन बस लाल-लाल कलियों के
छाये तन पर पुलक-जाल
उच्छ्वास सदृश अब पल-पल पर
उड़ती रूखी-सूखी कपास !
मधुमास स्वयं ही चला गया
आया जैसे वह अनायास !

आया बसन्त ,
फिर चला गया यौवन-वसन्त ,
अनुभवी सन्त के मानस में जाने को ही आते जैसे
(यदि भूल भटक कर आये भी) भ्रम, काम क्रोध !
—आया वसन्त ,
फिर चला गया यौवन-वसन्त !
जिन में कुछ क्षण की थी क्रीड़ा
फैले के फैले रहे, आह, वे बाहु-पाश
—सेंमल की नंगी डालों के वे बाहु-पाश ,
जो फैले हैं सूने नभ में सब दिन हताश, सब दिन निराश !
मानस-मरु से जैसे अभाव के भाव लिये

उड़ती रूखी-सूखी कपास !
मधुमास स्वयं ही चला गया
आया जैसे वह अनायास !

सब कली झरीं, झर गये फूल ,
अन्तर में कहीं कसकता है
सब दिन अभाव का एक शूल ,
पुनरुक्ति-दोष से दूषित या
वह आगत की अक्षम्य भूल !
सेमल तरु का फल भी कैसा ,
जिस को न गिलहरी भी खाये !
यदि खाये, भ्रम में भर जाये
अनुपात-सदृश रूखी कपास, सूखी कपास !
वह सोच रहा अपलक, उदास ,
क्यों जीवन के चंचल पल-सी
उड़ती जाती रूखी कपास, सूखी कपास !

क्या उस-सा ही कोई निराश, कोई उदास
होगा ऐसा विश्रान्त पथिक ,
यह जीवन ही बन गया जिसे अविकल प्रवास !
वह पथिक श्रान्त क्या श्रान्ति हर सकेगा अपनी
धर शीश सुकोमल तकिये पर
संचित कर चुन-चुने कर उस की रूखी कपास, सूखी कपास !

हो गयी श्याम रंगीन शाम ,
अब फैल गया निस्सीम मौन ,
सब विश्व मौन के सिन्धु-सदृश ,
बुदबुद्-सा डूब गया जिस में खगकुल-रव, जन-रव अविश्रान्त !

पर बचे-खुचे साँसों-सी ही उड़ती जाती ,
निस्सीम शून्य की लहरों पर बढ़ती जाती ,

सन्देश किसे देने जाती ,
वह किसे सुनाने जाती है रूखी कपास, सूखी कपास ?
मधुमास स्वयं ही चला गया ,
आया जैसे, वह अनायास !

———

रानीखेत की रात

शान्त है पर्वत-समीरण, मौन है यह चीड़ का वन भी !

बालकों की बात-सी आयी-गयी सी हो गयी है बात ,
नखत ज्यों आँसू-पुछे दृग, चुप हुई चुपचाप रो-रो रात !
रुकेंगे निश्वास मेरे, शान्त होगा चिर विकल मन भी !

रुकी झंझा, फिर खड़ी दृढ़ सामने गिरि पर असित तरु-पाँत ,
नील नभ ऊपर, हृदय ज्यों सह चुका आघात पर आघात !
खुलेगा निस्सीम नभ-सा एक दिन यह शून्य जीवन भी !

यह खुला नभ, यह धुला नभ, खिल रही यह चाँदनी अनमोल ,
यह अमृत की वृष्टि, खिलती कुमुदिनी-सी सृष्टि दृग उर खोल ,
खुली कलियों-से खुलेंगे ही हमारे मोह-बन्धन भी !

———

आषाढ़

पकी जामुन के रंग की पाग
बाँधता आया, लो आषाढ़ !

अधखुली उस की आँखों में
झूमता सुधि-मद का संसार ,
शिथिल कर सकते नहीं सँभाल
खुले लम्बे साफे का भार ,

कभी बँधती, खुल पड़ती पाग ,
झूमता डगमग-पग आषाढ़ !

सिन्धु शय्या पर सोयी बाल
जिसे आया वह सोती छोड़ ,
आह, प्रति पग अब उस की याद
खींचती पीछे को, जी तोड़ ,

लगी उड़ने आँधी में पाग ,
झूमता डगमग-पग आषाढ़ !

हर्ष-विस्मय से आँखें फाड़
देखती कृषक-सुताएँ जाग ,
नाचने लगे रोर सुन मोर
लगी बुझने जंगल की आग ,

हाथ से छुट खुल पड़ती पाग ,
झूमता डगमग-पग आषाढ़ !

ज़री का पल्ला उड़-उड़ आज
कभी हिल झिलमिल नभ के बीच ,
बन गया विद्युत-द्युति, आलोक
सूर्य-शशि-उडु के उर से खींच !

कौंध नभ का उर उड़ती पाग ,
झूमता डगमग-पग आषाढ़ !

उड़ गयी सहसा सिर से पाग
छा गये नभ में घन घनघोर !
छुट गयी सहसा कर से पाग
बढ़ा आँधी पानी का ज़ोर !

लिपट लो गयी मुझी से पाग ,
झूमता डगमग-पग आषाढ़ !

फागुन की आधी रात

है रँभा रही बछड़े से बिछुड़ी एक गाय ,
थन भारी हैं, दुखते भी हैं !
आता गजनेरी साँड भटकता सड़कों पर, चलता मठार ,
क्या वही दर्द उस के भी है ?

जा रही किसी घर के जूठे बरतन मल कर
बदचलन कहारी थकी हुई ,
चौका-बासन सैना-बैनी में बिता चुकी यौवन के दिन
काटनी उसे पर उमर अभी तो पकी हुई !

बज रहे कहीं ढप-ढोल-झाँझ, बहुत दूर
गा रही संग मदमस्त मजूरों की टोली ,
कल काम-धाम करना सब को पर नींद कहाँ
है एक वर्ष में एक बार आती होली !

इस भाँग-स्वाँग से दूर, बन्द कमरे में, चिन्ता में डूबा
दार्शनिक एकरस एकाकी ,
है सोच रहा यह जीवन क्या, मैं क्या, मेरी यह आत्मा क्या ?
सब कुछ खोजा, उत्तर न मिला, कुछ भी न बचा मथ कर बाकी !

वह दूर और संसार दूर, सब विशृंखल, सब छाया-छल ;
हैं बिछुड़ परस्पर सुबक रहीं दोनों निर्धन आत्मा-काया !
रोये शृगाल, बोला उल्लू, हिल गयी डाल, चौंका कुत्ता
जो भूँक उठा अब देख स्वयं अपनी छाया !

तुम आती हो

तुम आती हो तो
बादल-सा हट जाता है ,
सब आसमान खुल जाता है ,
खिल जाती है पल में प्रसून-सी नरम धूप !
करुणा की किरणों के नीचे
लेटीं सुख से आँखें मीचे
हँसती हैं सतरंगी बूँदें
सस्मित आनन पर आँसू के मोती अनूप !
तुम आती हो
घन-सा विषाद घुल जाता है ,
अवसाद शेष धुल जाता है ,
छाया मलीन पल में विलीन हो जाती है ,
हो जाता है पल में मेरा कुछ और, और से और रूप !

वासना की देह

विजय की प्यासी, ललकती, चमकती शमशीर !
ऐसी देह !
पैठने को वीर प्रियतम के अचंल वक्ष में जो
प्रणय-पीड़ाधीर !

ऐसी देह !
अधर कम्पित, वक्ष कम्पित ,
प्यास से पीड़ित, अशंकित, विकम्पित सशरीर
व्याकुल वासना की देह !
ऐसी देह !
पुलक-दल से लद गयी वह देह ,
रोम, तृष्णा कुल जगे ज्यों तीर !
अग्निशर-शय्या, पड़ी है वासना की देह !
ऐसी देह !
व्यक्त वाणी से परे है, रुँध गयी है पीर ,
शून्य संज्ञा उड़ गया उद्दाम आँधी में विवश ज्यों चीर !
नग्न नारी-देह, थर-थर काँपती वह देह ,
वसन-भूषण से परे वह वासना की देह!
ऐसी देह !
नयन डोले
नीड़ में ज्यों काँपते भय-ग्रस्त भीत चकोर
देख कर तूफान जो अति वेग से गिरि-वन रहा झकझोर !
विजन के दो वायु-दोलित दीप दृग ही हैं सजग अम्लान ,
घिरे चहुँ दिशि सघन तम-सी ,
वासना-तम से विमूर्च्छित वासना की देह !
ऐसी देह !
वासना की देह !
काँपती वह, दूर से आता प्रणय-घन देख ,
काँपती वह कामिनी ज्यों दामिनी की रेख !
दामिनी-सी दमकती वह देह ,
ऐसी देह !
विकल हो कर नाचती पागल प्रतीक्षा ,
प्रेम-घन-गर्जन हुआ घनघोर !
अग्नि में जल दे चुकी प्रणयिनी परीक्षा ,
नाचता प्रति रोम जैसे मोर !

काम से काँपी अचेतन देह ,
केवल वासना की देह !
ऐसी देह !
पवन डोली ,
काँपता प्रति अंग जैसे तरु-लता का !
पवन डोली ,
खुली नभ में श्याम मीनाक्षी पताका !
छा गया तम, छा गये घन, छा गया आकाश ,
तड़ित चमकी विसुध जग सब, गुँथ गये युग-पाश !
प्रणय-घन के तृप्ति-तम में नयन मूँदे
दामिनी-सी कामिनी वह वासना की देह !
ऐसी देह !

साँझ के बाद

बुझ-सा गया सूर्य
साँझ की उदासी ।
शीत वायु
कहती—अब दिवस की शेष आयु ।
दिवस की शेष आयु ,
साँझ की उदासी ।
दिन भर ही व्योम घिरा-घिरा रहा ,
अभी भी घिरा है जो बरस कर कई बार ,
घिर रहा अन्धकार ,
घिर रहा अन्धकार ,
साँझ की उदासी ।
स्वजनों से दूर ,
दूर निज प्रियजन से
बन्द यहाँ

मन्द-मन्द जलता मैं चिन्तन से ।
आते जो जो विचार
हो जाते क्षार-क्षार
जल-जल कर क्षण भर को पावक के कन से ।
पंख लगा अनायास
आते फिर स्वप्न पास ,
घर में घिर अपनों से बैठता प्रवासी ।
पल-छिन के सपने ये ।
अपने भी हुए दूर ,
सपने थे जिन के ये ।
स्वप्न चीर तार-तार ,
जीवन क्षण हुए भार ,
झाँक-झाँक खिड़की से
देख-देख तिमिर-तोम ,
झाँक-झाँक खिड़की से
देख घिरा-घिरा व्योम ,
बन्द यहाँ
जलता मैं मन्द-मन्द आशा में
होगी ही (कब होगी ?) दिवस की निकासी !

——

गाँव की धरती

चमकीले पीले रंगों में अब डूब रही होगी धरती ,
खेतों-खेतों फूली होगी सरसों, हँसती होगी धरती ।
पंचमी आज, ढलते जाड़ों की इस ढलती दोपहरी में
जंगल में नहा, ओढ़नी पीली सुखा रही होगी धरती !

इस के खेतों में खिलती हैं सींगरी, तरा, गाजर, कसूम ,
किस से कम है यह, पली धूल में सोनाधूल-भरी धरती !

शहरों की बहू-बेटियाँ हैं सोने के तारों से पीली ,
सोने के गहनों में पीली, यह सरसों से पीली धरती !

सिर धरे कलेऊ की रोटी, ले कर में मट्ठा की मटकी
घर से जंगल की ओर चली होगी बटिया पर पग धरती !
कर काम खेत में स्वस्थ हुई होगी तलाब में उतर, नहा ,
दे प्यार बैल को, फेर हाथ, कर प्यार, बनी माता धरती !

पक रही फ़सल, लद रहे चना से बूँट, पड़ी है हरी मटर ,
तीमन को साग और पौहों को हरा, भरी-पूरी धरती !
हो रही साँझ, आ रहे ढोर, हैं रँभा रहीं गायें - भैंसें ,
जंगल से घर को लौट रही गोधूली बेला में धरती !

युग और मैं

उजड़ रहीं अनगिनत बस्तियाँ, मन, मेरी ही बस्ती क्या !
धब्बों से मिट रहे देश जब, तो मेरी ही हस्ती क्या !

बरस रहे अंगार गगन से, धरती लपटें उगल रही ,
निगल रही जब मौत सभी को, अपनी ही क्या जाय कही ?
दुनियाँ भर की दुःख कथा है, मेरी ही क्या करुण कथा !

जाने कब तक घाव भरेंगे इस घायल मानवता के ?
जाने कब तक सच्चे होंगे सपने सब की समता के ?
सब दुनिया पर व्यथा पड़ी है, मेरी ही क्या बड़ी व्यथा !

छूट रहे हैं पुंछल तारे, होते रहते उल्कापात ,
इस्पाती नभ पर लिखते जो जग के बुरे भाग्य की बात ।
जहाँ सब कहीं बरबादी हो, वहाँ हमारी शादी क्या !

रीत बदल है त्योहारों में, घर फुँकते दीवाली से ,
फाग खून की है, गुलाल भी लाल लहू की लाली से !
दुनिया भर में खून-खराबी, आँख लहू रोयी तो क्या !

आग और लोहे को जिसने किया और रक्खा बस में ,
सब जीवों के ऊपर वह मनु आज स्वयं उन के बस में !
आज धराशायी है मानव, गिरा नज़र से मैं तो क्या !

बदल रहे सब नियम-कायदे, देखें दुनिया कब बदले !
मानव ने नवयुग माँगा है अपने लोहू के बदले !
बदले का बर्त्ताव न बदला, तुम बदले तो रोना क्या !

रक्त-स्वेद से सींच मनुज जो नयी बेल था रहा उगा ,
बड़े जतन वह बेल बढ़ी थी, लाल सितारा फूल लगा ,
उस अंकुर पर घात लगी तो मेरे आघातों का क्या !

खौल रहे हैं सात समन्दर, डूबी जाती है दुनिया ,
ज्ञान थाह लेता था जिस से, ग़र्क़ हो रही वह दुनिया !
डूब रही हो सब दुनिया, जब, मुझे डुबाता ग़म तो क्या !

हाथ बने किसलिए ? करेंगे भू पर मनुज स्वर्ग निर्माण !
बुद्धि हुई किसलिए ? कि डाले मानव जग-जड़ता में प्राण !
आज हुआ सब का उलटा रुख़, मेरा उलटा पासा क्या !

मानव को ईश्वर बनना था, निखिल सृष्टि वश में लानी ,
काम अधूरा छोड़, कर रहा आत्मघात मानव ज्ञानी !
सब झूठे हो गये निशाने, तुम मुझ से छूटे तो क्या !

एक दूसरे का अभिभव कर, रचने एक नये भव को ,
है संघर्ष-निरत मानव अब, फूँक जगत-गत वैभव को ,
तहस-नहस हो रहा विश्व, तो मेरा अपना आपा क्या !

युग-परिवर्त्तन के इस युग का मूल्य चुकाना ही होगा,
उस का सच-ईमान नहीं है आज न जिसने दुख भोगा!
दुनिया की मधुवनी सूखती, मन, मेरी गुलदस्ती क्या!

ओ मेरी मन-बसी कामना! अब मत रो, चुपकी हो जा!
ओ फूलों से सजी वासना! कुश के आसन पर सो जा!
टूट-फूट दुनिया कराहती, मेरे सुख-सपने ही क्या!
उजड़ रही अनगिनत बस्तियाँ, मन, मेरी ही बस्ती क्या!

नव आभास

चीर कारा की सघन प्राचीर, किरन आयी ज्योति का ज्यों तीर!
चीर कारा की बधिर प्राचीर, ध्वनि सुनाई दी बजे मंजीर!
किरण-शर ने बेध डाली तिमिर की प्राचीर,
नाद गूँजा है हृदय में अर्थ-गुण-गम्भीर!

दृगों ने देखा तिमिर के पार, मैं स्वयं ढोता रहा निज भार!
युगल कर्णों में हुई झंकार, सहा मैंने स्वयं अत्याचार!
थे प्रयोजन मात्र, जिन को समझ कर आधार,
नाच नाचा किया छायावत् विवश लाचार!

और भी दीखा प्रकाश विशेष, और भी कुछ सुना था सन्देश!
दिखाऊँगा ज्योति का वह देश, बताऊँगा कथा जो अवशेष!
तोड़ उर कारा, मलिन निज फेंकता हूँ वेश!
किरण ज्यों हिम-विन्दु मैं निज सोख लूँगा क्लेश!

मत गा, कोयलिया

आज तू मत गा, कोयलिया री, विरह के गीत !
मधुमिलन-बेला अरी सुन प्रेमियों के
मग्न मन के मौन मन्दिर में मिलन-संगीत !
पूर्ण पुष्पित माधवी को भेंटता अब, देख कोयल ,
पुलक-पल्लव पहन तरुण रसाल !
गा रही तू क्यों विरह के गीत, मधु से मधुर कोयल ,
बैठ ऐसे आम्र-तरु की डाल !

नदी में हँसती तरंगें औ' तरंगों पर
सुहाने इन्दु का श्री बिम्ब हँसता, देख !
और झागों के पहिन नर्तित तरंगें
झकार-गुम्फित वह रजत-कर-करधनी की रेख !
इन लहरियों की तरह खुश-खुश विचर तू
आम्र पत्तों में मिलन के गीत गा, पिक श्याम !

काम-शर से चोट खायी, बावली पिक ,
ठहर पल भर, यों न रो तू आज आठों याम !
पल्लवित मधु-मंजरित तरु-आम्र-वासिनि !
रंग-रंजित, सुरभि-सिंचित नीड तेरी डाल ,
नीड तेरी डाल ऐसी, जहाँ मरकत-महल में
लटके हुए पुखराज और प्रवाल !

सुन, पिकी ! यह स्वर्ग-सुख का नीड, जिस को
सँवारा ऋतुराज ने—वह नीड तेरा देश ;
अरी मधु-प्यारी कोयलिया ! बना तेरे हृदय में
है आज ऐसा कौन-सा दुख-क्लेश ?

देख री काली कोयलिया ! सब कहीं तो आज
मधुके पान का, मधुदान का सामान ;

हँस रही है रसभरी यह शर्वरी भी
नील मणि के पात्र में कर चन्द्रिका का पान !

चाँदनी मधुयामिनी की अलक छूता, अंक भरता
आज अगणित करों से पूर्णेन्दु—
विरह को मधुमिलन का वरदान देता, चूम लेता
आज अगणित करों से पूर्णेन्दु !

आज की मन मोहिनी यह यामिनी तो बनी निश्चय
प्रेमियों के मधुमिलन के काज
विरह की मारी कोयलिया, केश-सी काली कोयलिया ,
मत विरह के गान गा तू आज !

——

चौमुख दिवला बार—

चौमुख दिवला बार—
धरूँगी चौबारे पर आज
सखी री चौमुख दिवला बार !
जाने कौन दिशा से आवें मेरे राजकुमार !
सखी री, चौमुख दिवला बार !

जब-जब पवन सँदेसा लावे
दीये की लौ सौ बल खावे ,
झाला दे-दे पास बुलावे ,
उझक देख मैं जानूँ मेरे आये राजकुमार !
सखी री, चौमुख दिवला बार !

देखूँ जंगल में पटबिजना ,
गगन बीच तारों का खिलना ,

मैं जानूँ यह केवल छलना ;
कौन कहे सचमुच आवेंगे मेरे राजकुमार !
सखी री, चौमुख दिवला बार !

होता दीप स्नेह से रीता ,
आशा में सब जीवन बीता ,
मैं अनदेखे की परिणीता ,
निर्मोही बन मोहे लेते मेरे राजकुमार !
सखी री, चौमुख दिवला बार !

छीज रही तन-मन की बाती ,
दीये-सी ही रात सिराती
जीती तो फिर दीप जलाती
कह भर देना कोई—आते मेरे राजकुमार !
सखी री, चौमुख दिवला बार !

— —

हंस माला

हंसमाला, चल! बुलाता है तुझे फिर मानसर !
शून्य है तेरे लिए मधुमास के नभ की डगर !

हिम तले जो खो गयी थीं, शीत से डर सो गयी थीं ,
फिर जगी होगी नये अनुराग को ले कर लहर !
हंसमाला, चल ! बुलाता है तुझे फिर मानसर !

बहुत दिन लोहित रहा नभ, बहुत दिन थी अवनि हतप्रभ ,
शुभ्र पंखों की छटा भी देख लें अब नारि-नर !
हंसमाला, चल ! बुलाता है तुझे फिर मानसर !

पक्ष अँधियारा जगत का, जब मनुज अघ में निरत था,
हो चुका निःशेष ! फैला फिर गगन में शुक्ल पर !
हंसमाला, चल ! बुलाता है तुझे फिर मानसर !

शान्ति के हित भटकते थे, शून्य में नित अटकते थे,
जीर्ण जग के विकल दृग वे, धवलता से जायँ भर !
हंसमाला, चल ! बुलाता है तुझे फिर मानसर !

विविधता के शत विमर्षों में उलझता रहा वर्षों
पर थका यह विश्व नव निष्कर्ष में जाये निखर !
हंसमाला, चल ! बुलाता है तुझे फिर मानसर !

इन्द्र-धनु नभ-बीच खिल कर, शुभ्र हों सत-रंग मिल कर,
गगन में छा जायँ विद्युज्ज्योति के उद्दाम शर !
हंसमाला, चल ! बुलाता है तुझे फिर मानसर !

शान्ति की सितपंख भाषा ! बन जगत की नयी आशा !
उड़ निराशा के गगन में, हंसमाला, तू निडर !
हंसमाला, चल ! बुलाता है तुझे फिर मानसर !

स्वर मेरे

तू नये सत्य के लिए नित्य कर मन मन्थन,
ओ, स्वर मेरे ! तू आगत की अनुगूँज न बन !
बढ़ता ही चले नित्य तेरा मानस-रथ जिज्ञासा-पथ पर,
है ज्ञान विशद, अति विशद, कहीं संकीर्ण न बन जाये अन्तर !
सिद्धान्त प्रयोजन साधन हैं, बन जायँ न ममता के बन्धन;
ओ, स्वर मेरे ! तू आगत की अनुगूँज न बन !

अपना न कभी कवि की लघु सीमाओं को तू, दे छोड़ इन्हें !
ये अलंकार बहु-भार मोह के बन्धन हैं, दे तोड़ इन्हें !
सब वाद-विवाद सामयिक हैं, तू मुक्त-हृदय कर जग-दर्शन !
ओ, स्वर मेरे ! तू आगत की अनुगूँज न बन !
जग-जीवन-धारा की मर्मर-ध्वनि तेरे प्राणों की वाणी !
हैं उभय कूल, धारा अक्षय, गति दिशा न जानी-पहचानी ,
इस लिए मर्म को समझ-बूझ फिर गूँज गरज कर रस-वर्षण !
ओ, स्वर मेरे ! तू आगत की अनुगूँज न बन !
तू गूँज प्रिया के मन-मधुवन में बन-बन कर वंशी का स्वर !
भर युद्ध-क्षेत्र में पांचजन्य का गुरु गर्जन-स्वर प्रलयंकर !
फिर बन विवेक की अमर टेक पा तपोभूमि का आमन्त्रण !
ओ, स्वर मेरे ! तू आगत की अनुगूँज न बन !
निस्तल पातालपुरी में जा, तू रत्नगर्भ का दीपक बन ,
फिर बृहद्धरातल पर सनेह सन्तुलन-सत्य का बन वाहन !
आनन्द-राग बन कर नभ में फिर मुक्त-कंठ कर मुक्ति-वरण !
ओ, स्वर मेरे ! तू आगत की अनुगूँज न बन !

त्रिपथगा

बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय
जीवन की त्रिगुणमयी गंगा ,
गतिशील त्रिपथगा, सदा बही
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय !
हिंसा, अन्याय, स्वार्थपरता
यह जीवन-रक्षा की परिणति !
जो भाव प्रगति-पथ को गति दे ,
बनता रहता है वही अगति !
हर-हर करती, पर्वत तरती ,
गंगा तमसाधारा बनती ,

संसृति यों धवल रूप धरती
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय !

बनती संकीर्ण साम्प्रदायिक
फिर क्रांतिकारिणी क्षुब्ध बुद्धि ;
ज्यों अग्नि राख में खो जाये
कर दीप्त तेज से स्वर्ण शुद्धि !

तब चिता-भस्म को नहलाती
वह विष्णुपदी बन कर आती
धरती को उर्वर कर जाती
तट पर शत नगरी बसवाती
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय !

जगतन्त्र यन्त्रवत् बन जाता
सूनापन बस भूमंडल में !
गति राशि रूप-चैतन्यहीन,
वह छिपती ब्रह्म-कमंडल में !

पर फिर सुषुप्ति क्यों उठी भूल ?
रह सकी न गंगा दिशा भूल !
हे क्रान्ति शान्ति के उभय कूल ,
जीवन-प्रवाह चिर-प्रगतिमूल
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय !

स्वगत वार्ता

"अन्धकार के गहन गर्भ में
जल तू, मानस-दीप !
मन्दज्योति है, लुप्त न हो पर
तेरा दृष्टि-प्रदीप !"

"उथली टेढ़ी-मेढ़ी दरिया
मेरे जीवन की दिनचर्या !
क्रुद्ध सर्प नैराश्य-तिमिर के
गये रुद्ध पथ लीप !
स्नेह बिना कैसे जल पाये
मेरा दृष्टि-प्रदीप !"

"सींच रक्त से ज्योति बेल तू !
तम-प्रकाश को देख खेल तू !
अन्धकार की प्रजा नहीं तू,
सुन, ओ मनुज महीप !
घनीभूत तम तूल, अग्नि है
तेरा विद्युत-दीप !"

रक्त चन्दन

वह रक्त नहीं था, देव, रक्त चन्दन था !
तनु पात नहीं था,
मातृभूमि वन्दन था !
सांजलि सप्रेम कर जोड़, राम कह
कर प्रणाम, मृत्युंजय
तुम गये त्याग तन नाशवान्,
पा गये अमरपद निश्चय !
वह मरण नहीं, नव भव का अभिनन्दन था !
वह रक्त नहीं था, देव, रक्त चन्दन था !
मर्त्यों के हित निर्माण किया
जीवन-पथ जीवन तज कर,

जगती से वैभव कुछ न लिया ,
नित दिया पुण्य हरि भज कर !
जो अंश अग्नि को दिया, तप्त कंचन था !
वह रक्त नहीं था, देव, रक्त चन्दन था !

— —

अनुनय

आज भी है रेख तम की एक
तेरे और मेरे बीच !
बेध दे उर, ज्योतिशर से
शिथिल प्रत्यंचा तिमिर की खींच !

अश्रु जलधर में छिपे ओ, चमक क्षण भर
चकित मेरी नमित आँखें मींच !
मीत मेरे मैं बुलाता पास कब से
ज्योति के प्यासे दृगों से तप्त अश्रु उलीच !

तरस खा कर ही बरस पड़
ज्योति बूँदों के प्रखर शर से हृदय को सींच !
युगों के मरु में निमिष भर को बरस जा ,
आज चारों ओर कर दे चेतना की कीच !

——

रश्मि शरीरा

रश्मिशरीरा सहचरि मेरी ,
प्रेयसि सुमनमना !
तुहिनबिन्दु अन्तःकरणा ,
तन्वी सतरँगवसना !

ज्ञात अज्ञात कल्पनाएँ थीं ,
बनी एक प्रतिमा, वह तुम हो !
मनोभूमि थी, अश्रुधार थी ,
उज्ज्वल तुम मुसकान-कुसुम हो !
दी तुमने मेरे अवाक्
उपचेतन को रसना !

ज्योतिस्नात जीवन-पथ पर अब
चरण चार, गन्तव्य एक हो !
चार करों से एक इष्ट का
एक साथ पुण्याभिषेक हो !
चार नयन देखें हिल-मिल कर
एक मधुर सपना !

भारत की नारी

बनो पुनः चैतन्य लपट, ओ भस्मावृत चिनगारी
अमिय-हलाहल मदमय-नयना तुम भारत की नारी !

भोग और सुविधा हित पोषित, योषित पुरुष मात्र को ,
पुत्र और पति करते शोषित जिस के पुण्य-गात्र को !
सदियों यों ही रहीं, हाय, तुम श्रद्धा कामकुमारी !

पूर्णकाम देवेन्द्र इन्द्र ने ठगा, तजा गौतम ने ,
रघुनायक ने निर्वासित कर दिया लोक-रंजन में !
लक्ष्मण और बुद्ध ने तप का समझा कब अधिकारी ?

नाच नचाता स्वर्ग, बना कर तुम्हें उर्वशी-रम्भा ?
गिर कर भी पर नहीं गिरीं तुम, रहीं शक्ति जगदम्बा !
सती ! आज भी दक्ष प्रजापति, अहम्मन्य अविचारी ?

मदोन्मत्त हैं मनुज आज भी स्वामी बन सत्ता के ,
कर शिव को निर्वासित रचते यज्ञ शक्तिमत्ता के !
शंकर प्रलयंकर की सहचरि, बारी पुनः तुम्हारी !

इस युग से इस पुण्य देश पर घन जड़त्व मँड़राया ,
महिषासुर-मर्दिनी बना फिर भुवनविमोहिनि माया !
त्यागो पार्थिव रूप, नारि, फिर करो सिंह असवारी !

पुनः नाश-निर्माण कालक्रम करता है अभिनन्दन !
नभ से हरसिंगार बरसेंगे धरती होगी चन्दन !
बनो महालक्ष्मी, अँधियारी जगती करो उजारी !

सागर का नीलोत्पल, श्यामल शतदल वसुन्धरा का
पदतल पाने को लालायित, उदित भानु रँगराता !
प्रज्ञापारमिता, दर्शन दो पावन मंगलकारी !

कवि किसान

हम किसान हैं !
मनोभूमि में ज्योतिबीज बोने वाले हम ,
कवि किसान हैं !
हम किसान हैं !
योद्धा को तलवार ,
श्रमिक को मिलती छैनी ,
कृषकों को हल, कवि को
मिली लेखनी पैनी !
कहीं शस्ययुत क्षेत्र ,
कहीं उद्ग्रीव गान हैं !
हम किसान हैं !

पंगु न्याय, बिन शक्ति ,
वस्तु बिन विश्व अविकसित !
पतित अहल्या भूमि ,
गीत के बिना रिक्त-चित !
जोतेंगे भव तिमिर
ज्योति-जिह्वा समान है !
हम किसान हैं !

———

सृष्टि

नाच रहे तिमिर-पुत्र
ज्योति-वसन पहने ।
मिट्टी की पुतली है ,
फूलों के गहने !
मरणशील अधरों पर
अमृत-नाद नाचे ,
निद्रा के पलकों में
स्वप्न हुए साँचे !
नाम दिया सृष्टि जिसे
चिर-विरोध-परिणय !
केन्द्रित ध्रुव सत्य जहाँ ,
चलित वृत्त संशय !

———

विचार

नदी को आया विचार ,
यदि न होते दो कगार ,
विचर सकती मैं सदा आनन्द से
उन्मुक्त धार !

रुक गयी गतिशील धार ,
झुक गये सहसा कगार ,
बह गयी नदिया
दिशाओं में भुजाओं को पसार !

खो गया कर्त्तव्य - ज्ञान
खो गया गंतव्य ध्यान ,
ले गया अस्तित्व सरिता का
अमर्यादित विचार !

अनजान

किसी अनजान नगरी के
किसी अनजान कोने में ,
कहीं अनजान कोई सुन्दरी मुझको बुलाती है !
कभी जो लिख नहीं पाया
उन्हीं अनजान गीतों को ,
किन्हीं अनजान छन्दों में निरन्तर गुनगुनाती है !
कभी अनजान निर्झरिणी ,
कभी अनजान नीलाचल ,
कभी दूर्वाभरित धरती ,
हरित वन का कभी आंचल ,
अमित अनजान छवियों में झलक अपनी दिखाती है !
कभी मणिमेखला बन कर
अतल जल बीच इठलाती ,
गगन की नील वीणा में
कभी झनकार बन जाती ,
उसे मैं भूल जाता हूँ, मुझे वह कब भुलाती है !

ताड़ का जोड़ा

किनारे के कगारे पर
खड़ा है ताड़ का जोड़ा !
निगोड़ा चाँद उन के ठीक
बीचोंबीच हँसता है !
धरा की मीन-सी मुरला
बहू बेरहम मछुए की
अकेली सोचती है यों
कि नीले जाल वाला कहाँ बसता है !

किनारे के कगारे पर ,
खड़ा है ताड़ का जोड़ा !
कि उन के ठीक बीचोंबीच
हँसता चाँद है छठ का !
धुआँ उठने लगा सहसा
मुरल की ताड़पत्री से ,
कि मछुए की मुरलिया से
उठा है फिर सुरीला राग सोरठ का !

प्रत्यूष

स्वर जन्म ले चुका अम्बर में, धरती ने अधर नहीं खोले !
गुंजार जगी, पर मुँदे रहे सरसी के दृग भोले भोले !

ले चुकी तार झंकार जन्म, पर तार बीन के नहीं चढ़े !
अवतार द्वार पर आ पहुँचे, चरणों की ओर न हाथ बढ़े !
आयी ऊषा उदयाचल पर, अचला ने रंग नहीं घोले !

सिरहाने सूरज चढ़ आया, मिट्टी के अँग अँग अलसाये !
सहयोग तन्त्र का नहीं, मन्त्र कैसे मन के बाहर आये ?
मिल गये पिंड को प्राण पंख पंछी ने पंख नहीं तोले !

झर रहे अमृत के ज्योति-बिन्दु अवनी-तल पर सो रही प्यास !
है अन्तरिक्ष में मुक्ति-पर्व, रज के कण क्षण के बने दास !
पुतली में ज्योतिर्मय जागे, निद्रा के पलक नहीं डोले !

चौबारे पर नौबत बाजी, बिछ चुकीं पँखुरियाँ क्षितिज-पार !
मृणमय तन्मय अपनेपन में छाया अवनी पर अन्धकार !
कलियुग ने पछर नहीं सुनी, सतयुग आया है बिन बोले !

आकाशपुरुष

बार-बार आकाश-पुरुष आये कुटिया के द्वारे !
एक बार भी कहा न मिट्टी ने, प्रभु, भले पधारे !

किया न उठ कर आदर, आये अन्तरिक्ष के स्वामी !
पहचाना भी नहीं खड़े थे सम्मुख अन्तर्यामी !
पौढ़ी रही तिमिर की चादर ओढ़े, पाँव पसारे !

चिर-परिचित के प्रति वह निपट अपरिचित रही अयानी !
आ कर चले गये अभ्यागत, मिट्टी तब पहचानी ,
जब कि कंटकाकीर्ण पन्थ में हँसे शूल हत्यारे !

फूल चढ़ाना भूल, शूल पर चढ़ा दिये अवतारी !
मिट्टी के पुतले युग-युग से बने रहे अविचारी !
मिट्टी के कारण प्रदीप के चरण रहे अँधियारे !

बार-बार बलिदान लिया, पर मिट्टी नहीं अघायी।
मिट्टी की निष्ठुरता निशि-दिन अधिक-अधिक अधिकायी।
भूल गयी मृण्मयी, प्राण मिट्टी को नहीं बिसारे!

अमित कृपा आकाश-पुरुष की, आते रहे निरन्तर।
आज नहीं तो कल कंचन होगा यह मिट्टी का घर!
प्राण निछावर करते-करते महाप्राण कब हारे?

हँसते रहे शूल धरती पर, रोते रहे कमल-दल!
सप्त-सिन्धु बन कर लहराया था मिट्टी का आँचल,
गये देव जब रक्तरंजिता छाया छोड़ किनारे!

आये तब पहचान न पायी उन की पैछर सुन के!
चरण नहीं, वह चरणचिह्न ही रही पूजती उन के!
जागी भी तो कब जब स्वामी आ कर दूर सिधारे!

जाने अब कब आयेंगे फिर आहत अन्तर्यामी?
कब दो चिन्मय चरणों के दो दृग होंगे अनुगामी?
कब आकाश-पुरुष के शिर पर नहीं चलेंगे आरे?

लपट बनेगी कब यह मिट्टी, उठ कर गले लगेगी?
टूटेंगी हथकड़ी-बेड़ियाँ कब मृण्मयी जगेगी?
आयेंगे आकाश-पुरुष कब मिट्टी का तन धारे?

एक लहर

एक लहर बहती रहती है धारा के प्रतिकूल अतल में,
लहर अनेक उसी के बल पर हैं अनुकूल प्रवाहित जल में।

एक दीप जलता रहता है छिपा हुआ कन्दरा-क्रोड़ में,
सूर्य अनेक उसी के बल पर रथारूढ़ नित नयी होड़ में।

एक ऋषीश्वर बन्द किये दृग समाधिस्थ, आसीन अचंचल,
उसी मन्त्रद्रष्टा के बल पर अगणित मन्त्र तन्त्र चिर चंचल!

चिर विरोध में बँधे हुए हैं एक-अनेक किसी के कारण!
उस की दया बिना, दोनों के श्रम का होगा नहीं निवारण!

चिनगारियाँ

फेंक ठंडी राख की जूनी पुरानी ओढ़नी,
लपट बन कर उठीं बीते युगों की चिरगारियाँ!
काष्ठवत् जड़ता पड़ी थी कहीं सूखे ठूँठ-सी
आज उस पर चल रही हैं चेतना की आरियाँ!

काल उतरा है गगन से, दिशा जागी भूमि पर,
फिर समागम हो रहा है भूमि पर दिक्काल का!
मृत्तिका की देह में ज्वाला समाती ही नहीं,
जगमगाने लगा ज्वालामय शिखर भू-भाल का!

महाकालेश्वर पदार्पण कर रहे दिग्देश में!
सज रही कन्याकुमारी, नव-वधू के वेश में।
धरा का संकोच, नभ का मौन भी जाता रहा,
भुजाओं में भूमि को नभ भर रहा आवेश में!

द्वन्द्व है, विस्फोट है, प्रतिषेध का प्रतिषेध है !
जन्म लेती है नयी संज्ञा प्रकृति की कोख से !
धरातल से लपट उठती, गगन में आलोक है।
नये भव की मूर्ति उतरेगी गगन-आलोक से !

बालकृष्ण राव

१

रजत रश्मियों से अपनी जब सजनि, सुधाकर
कर देता है भग्न भव्य तम के वितान को,
तब कवि के निर्मल नयनों में आश्रय पा कर
छिप जाते हैं स्वप्न शान्त कर मूक गान को।

पर प्रशान्त सौन्दर्य-सिन्धु की लहरों का दल,
पा कर शशि के मृदु अधरों का मादक चुम्बन,
जब सुख की स्वर्गीय व्यथा से होता चंचल
बिछ जाते नीरवता-वेला पर ध्वनि के कण।

शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन के सुखद स्पर्श जब
झंकृत करते उन के उर की विकल व्यथाएँ,
व्याप्त विश्व की सजग शान्ति में हो कविता तब
सजनि, सुनाती हैं स्वप्नों को करुण कथाएँ।
नीरव, निराकार कविता की ध्वनि को, छवि को
अंकित करना कौन सिखाता है सखि, कवि को?

आभास

प्रिय, मैं भी सुन सकता हूँ अब नीरवता का गान,
कर सकता हूँ अब असीम का कण-कण में अनुमान।
देख रहा हूँ तारों की द्युति में तम की मुस्कान,
स्मृति की सरिता का स्वप्नों के सागर में अवसान!

× × ×

अनुभव ही था रहा आज तक आशा का आधार ,
और कल्पना ही करती थी भावों का व्यापार ।
प्राप्ति-परिधि से सीमित था अभिलाषा का संसार ,
कर सकती थी कभी न करुणा सुख से चिर-अभिसार ।
कलिका में कोमलता, सौरभ, सुन्दरता का भान ,
अलि में केवल गुंजन की ही होती थी पहचान ।
तिमिरावृत था दुःख, हर्ष था ज्योतिर्मय, छविमान ,
अश्रु-विन्दु ही व्यथा, वेदना के अब तक परिधान ।
किन्तु आज स्वर्गिक स्पर्शों से सहसा शान्त समीर
स्पन्दित करने लगा विकलता का सुकुमार शरीर ।
दूर, वियत् के किसी प्रान्त से, कोई ध्वनि गम्भीर
'शान्ति, शान्ति' के आदेशों से करने लगी अधीर ।

× × ×

अद्भुत शक्ति, ज्योति संयुत यह जीवन का क्षण एक ,
आज अमरता के पद पर करता मेरा अभिषेक !

आमन्त्रण

सखि, तम के प्रकाश में आना ।
ग्रहण न करना कभी भूल कर
कोई पथ पहचाना ।
तम के प्रकाश में आना ।
मेघों से मिल-मिल कर रो कर ,
सुमनों की शय्या पर सो कर ,
सरिता के मादक स्वर में स्वर
मिला मिला कर गाना ।
तम के प्रकाश में आना ।

आशा के आश्रम में पल कर ,
सुख के सजान, फूल कर, फल कर ,
जीवन की ज्वाला में जल कर ,
सखि, कविता बन जाना ।
तम के प्रकाश में आना ।
सखि, तम के प्रकाश में आना ।

गीत

[१]

गाने दे, स्मृति को गाने दे ।
विगत निशा के सुख स्वप्नों को
फिर से जग जाने दे ।
गाने दे, स्मृति को गाने दे ।
यदि तम का आमन्त्रण पा कर ,
पुलकित हो, सखि, सौख्य-सुधाकर
मिलने जाता है, जाने दे ।
गाने दे स्मृति को गाने दे ।
कवि को कविता के कानन में ,
छवि को अपने मृदु आनन में ,
सजनि, शान्ति पाने दे ।
गाने दे, स्मृति को गाने दे ।

[२]

बन्धु, अभी सुख भी सहना है ,
चिर-प्रवाह का अन्त प्राप्त कर ,
स्थिरता में बहना है ।
बन्धु, अभी सुख भी सहना है ।

प्रथम भावनाओं के वन में ,
फिर अभिलाषा के उपवन में
बीत चुका है जीवन, अब फिर
कहो कहाँ रहना है ?
बन्धु, अभी सुख भी सहना है ।
स्वप्नों की नीरव वीणा पर
सुना चुका कितने मादक स्वर ,
अब चिर-जागृति की भाषा में
किस से क्या कहना है ?
बन्धु, अभी सुख भी सहना है ।

साधना

अपने स्वर से परिचित हो लूँ ।
अपने सुख से हँस लूँ पल भर, अपने दुख से रो लूँ ।

कोटि कल्पना-कुसुम मनोहर
वृन्तहीन हैं खिले गगन पर ,
पहले अलि के मधु प्याले में शूलों का रस घोलूँ ।

रजनी की अक्षय सुषमा-निधि
तब मैं माँग सकूँगा, प्रेयसि !
पहले जब दिन भर के जीवन का संचित धन खो लूँ ।

भावी के अदृश्य चरणों पर
नत है वर्तमान का मस्तक ,
आशा के पद-पंकज स्मृति के नयन-नीर से धो लूँ ।

पथिक, तुम्हारी जय हो

पथिक, तुम्हारी जय हो, जय हो !
चिर आशा में देव, तुम्हारी
मेरी क्षणिक निराशा लय हो ।

आज द्वार पर मेरे आ कर ,
पल भर स्वर्गिक स्वर में गा कर ,
मेरी निद्रा में सपने भर ,
जाते हो तो जाओ, जय हो ।

आश्रय की है जिसे अपेक्षा ,
आशा से वह माँगे भिक्षा ,
बन्धन स्वयं मुक्ति की शिक्षा ।
जाओ पथिक, तुम्हारी जय हो ।

कण असीम से परिचय कर ले ,
क्षण अनन्त को उर में धर ले ,
जीना हो तो पहले मर ले ।
अविहत जाग्रति देव, तुम्हारी—
मेरी निद्रा भी अक्षय हो ।
पथिक, तुम्हारी जय हो, जय हो ।

सिद्धि भी है साधना भी

सिद्धि भी है, साधना भी ।
स्वप्न जाग्रति की उपेक्षा
है अथक आराधना भी ।

जग दिवस को दे विदा,
स्वागत करें हम-तुम निशा का,
विरह में स्मृति की व्यथा है,
मिलन की चिर कामना भी।

शाप-मिश्रित ही सभी
वरदान पाये विकल कवि से
कल्पना का मधुकलश भी,
चिर-तृषा की यातना भी।

पिक मधुऋतु में गाये तो क्या?

दिन भर जो मिल न सका वह पथ
यदि सन्ध्या समय मिले तो क्या?
जो उपवन में विकसित न हुआ
वह वन में सुमन खिले तो क्या!

की भूल नियति ने जो याचक
निष्काम उपासक को समझी,
दे चुकी जिसे अभिशाप कभी
वरदान उसे फिर दे तो क्या!

है वर्तमान क्या, जब प्रतिपल
भावी गत में परिणत होती!
जब बुझा आरती का दीपक,
मन्दिर के द्वार, खुले तो क्या!

वह क्या जाने जीवन जिस का
परिचय केवल स्मृति, आशा से ,
सुन सके प्रतिध्वनि ही स्वर की ,
छवि की छाया देखे तो क्या !

अविराम, निरन्तर चलने का
यदि राही को अभिशाप मिले ,
गति स्वयं बनाती रहे मार्ग ,
फिर लक्ष्य अलक्ष्य रहे तो क्या !

क्या हुआ स्वप्न देखे सो कर
जब जग कर जग दिन काट चुका !
हेमन्त, शिशिर में मौन रहा ,
पिक मधुऋतु में गाये तो क्या ?

तुम और मैं

मैं अकिंचन याचना, तुम हो सदय वरदान ।
मैं अथक स्वर-साधना हूँ, तुम चिरन्तन गान ।
मार्ग मन्दिर का दिखाता भक्ति का आलोक ।
अर्घ्य देता है दिवस को यामिनी का शोक ।
विकलता मैं, चेतना तुम, स्फूर्ति मैं, तुम प्राण ,
तुम चरण ध्वनि अवतरण की, मैं सजग सोपान ।
मैं प्रतीक्षा, मिलन-पल तुम, मैं नियम, तुम न्याय ।
मैं सतत उद्योग हूँ, तुम एकमात्र उपाय ।
नैश नभ मैं, पूर्णिमा की तुम मधुर मुस्कान ।
मैं प्रतिध्वनि की मुखरता, तुम अमर आह्वान ।

फिर क्या होगा उस के बाद

'फिर क्या होगा उसके बाद ?'
उत्सुक होकर शिशु ने पूछा ,
'माँ, क्या होगा उस के बाद ?'

'रवि से उज्वल, शशि से सुन्दर ,
नव किसलय-दल से कोमलता
वधू तुम्हारी घर आयेगी
उस विवाह उत्सव के बाद ।'

पल भर मुख पर स्मित की रेखा
खेल गयी, फिर माँ ने देखा
कर गम्भीर मुखाकृति शिशु ने
फिर पूछा, 'क्या उस के बाद ?'

'फिर नभ के नक्षत्र मनोहर
स्वर्ग लोक से उतर-उतर कर
तेरे शिशु बनने को मेरे
घर आयेंगे उस के बाद ।'

'मेरे नये खिलौने ले कर
चले न जायें वे अपने घर !'
चिन्तित हो कह उठा, किन्तु फिर
पूछा शिशु ने, 'उस के बाद ?'

अब माँ का जी ऊब चुका था ,
हर्ष श्रान्ति में डूब चुका था ,
बोली, 'फिर मैं बूढ़ी हो कर
मर जाऊँगी उस के बाद ।'

यह सुन कर भर आये लोचन
किन्तु पोंछ कर उन्हें उसी क्षण
सहज कुतूहल से फिर शिशु ने
पूछा, 'माँ, क्या उस के बाद ?'

कवि को बालक ने सिखलाया
सुख-दुख हैं पल भर की माया ,
है अनन्त का तत्व प्रश्न यह
'फिर क्या होगा उस के बाद ?'

स्वाधीनता दिवस

धन्य है तू आज, भारत !
शाप को आशीष से, अभिमान को श्रीहत विनय से ,
कर दिया तू ने पराजित पाशविकता को प्रणय से ।
आज तक तेरे विलक्षण युद्ध पर हँसता रहा जग ,
अनुसरण तेरा करे अब सतत सभ्य समाज, भारत !
धन्य है तू आज, भारत !
गा रहा है आज तेरा विश्व गौरव-गान फिर से ।
दृष्टि में जग की झलकता आज वह सम्मान फिर से ।
श्रृंखलाओं में तुझे बाँधा कभी जिन के करों ने ,
डालते जयमाल अब वे देख सिर पर ताज, भारत !
धन्य है तू आज भारत !
धन्य गंगा ! धन्य हिमगिरि ! धन्य हिन्दू, हिन्द, हिन्दी !
यह उषा की अरुणिमा है आज मुक्त-ललाट-बिन्दी ।
अमिट हो महिमा, निरन्तर अभ्युदय का पथ अकंटक !
अमर हो तेरा युगों के बाद लौटा राज, भारत !
धन्य है तू आज, भारत !

कवि और छवि

विजन विपिन था, नीरव खग-मृग, निश्चल तरु थे ,
तैर रहे थे मेघ व्योम में मन्थर गति से ।
कलिका के कम्पित, सस्मित, सुरभित अधरों को
मन्द पवन पल्लव-शय्या पर चूम रहा था ।

अरुण नयन थे अति प्राची के, तरुण भानु था ,
करुण, कान्तिहत, क्षीण प्रभा थी राकापति की ।
वन में विमल सरोवर के जल पर रवि-किरणें
खेल रही थीं, द्रवित स्वर्ण-सा जल लगता था ।

वहीं सरोवर तट पर ही, वट-वृक्ष एक था
झुकी एक शाखा थी जिस की जल के ऊपर ,
मानों अपना रूप गर्व से देख रही थी ।

नव जाग्रति की ज्योति लिये किरणें द्रुत गति से
किसलय, पल्लव, शाखा के आवरण हटा कर ,
प्रकृति देवि के इस मन्दिर के अन्तःपुर में
मानों करती थीं प्रवेश कम्पित चरणों से ।

छन-छनकर, नव ज्योति लिये, ज्वाला को तज कर
किरणें बढ़ी समुत्सुक, तम की छटा देखने ,
पर उनकी पगध्वनि सुन कर, हो भय से कातर
तम विलीन हो गया शून्य में तीव्र वेग से
केवल कुछ पद-चिह्न रह गये छाया बन कर ।

विजय गर्व से तरु के चारों ओर फैल कर
किरणों ने अपना प्रकाश डाला कण-कण पर ,
दीप्त हो उठा निखिल वनान्तर उस आभा से ,

चमक उठा शुचि शिलाखंड नव, धवल ज्योति से
तरु-तल के सन्निकट तमावृत जो रक्खा था।

निविड निशा के अन्धगर्भ से स्वयं निकल कर,
चिर अमूर्त सौन्दर्य राशि मानों अनन्त की,
किसी अलौकिक अभिलाषा से प्रेरित हो कर
लेने को अवतार धरा पर मानो, आ कर
व्याप्त हुई इस साधारण से शिलाखंड में।
विस्मित नयनों से वन के खग-मृग ने देखा
वन देवी ही स्वयं विमल प्रस्तर-प्रतिमा बन,
मानों अपने प्रजा वर्ग को दर्शन देने,
वट के इस प्राचीन वृक्ष के नीचे आ कर
कण-कण से अपना विस्तृत वैभव समेट कर
खड़ी हो गयीं बालारुण की स्निग्ध ज्योति में॥

पुलकित हो कर मन्द पवन ने चँवर डुलाया,
विहग वन्दना करने लगे मधुर कलरव कर,
भक्ति, प्रेम के भावों से भर, तरु ने झुक कर
चरणों पर बिखेर दी अंजलि पल्लव-दल की।
किरणों ने मोहित हो प्रतिमा के अंगों को
अपने अद्भुत स्पर्शों से भर दिया कान्ति से,
स्वय सजा कर लगीं देखने जब वे सुख से,
सुध-बुध खो कर तब सहसा प्रेमातिरेक से
लगीं चूमने प्रतिमा के शीतल अधरों को
दीप्त हो उठे वे भी सहसा मधुर हास से।
वहीं निकट ही शिल्पकार भी स्वयं खड़ा था,
काँप रहे थे चरण, किन्तु अपलक नयनों से
देख रहा था वह अपने श्रम के प्रसाद को।
वह कवि था, प्रेमी था सुमनों का, विहगों का,

प्रकृति उपास्य देवि थी उस की, वह मन्दिर था।
पवन उसे शुचि, स्नेह-स्पर्श से शीतल करता,
भर कर मन में सुरभि सुधा की मादक धारा
सरस सुमन सुख से अचेत-सा कर देते थे,
भर आते थे नयन भक्ति से, कृतज्ञता से।
पर यह अद्‌भुत भाव हृदय में ही रह-रह कर
कर देते थे विकल कल्पनाओं से कवि को,
पल-पल पर बनते, मिटते रहते थे सपने।

इन असंख्य आकांक्षाओं की धारा सहसा
उस दिन उमड़ पड़ी थी कवि के मन से अवसर पा कर ;
गूँज उठा वन, सुना स्तब्ध हो कर खग-मृग ने,
कवि कहता था, 'वनदेवी, मैं जब तक तेरी
बना न लूँ अपने हाथों से प्रस्तर-प्रतिमा,
पवन स्पर्श कर सके न मुझ को, सुमन सूख कर
बदल जायँ काँटों में मेरे दृष्टिपात से,
विहग मूक हो जायें जब मैं वन में आऊँ,
पशु मेरी पग-ध्वनि सुन कर भय से छिप जायें।'

तब से अथक परिश्रम कर के कवि निशि-वासर
पूर्ण कर सका कल सन्ध्या को अपनी कविता
उसी समय आ गयी निशा आतुर चरणों से।
पीछे हटा पूर्ण कर जब कवि उसे देखने,
देखा रजनी ने तब तक चुपके से आ कर
तम के अंचल में प्रतिमा को छिपा लिया था।

विकल प्रतीक्षा में प्रभात की प्रथम किरण की,
खड़े-खड़े ही कवि ने सारी रात बिता दी,
अब खग-मृग के साथ खड़ा अपनी ही कृति को
कवि आश्चर्य-भरे नयनों से देख रहा था।

काँप रहे थे चरण, अधर भी काँप रहे थे ,
काँप रही थीं कोमल, किसलय-दल-सी पलकें ,
बिखरे, काले केश पवन के आघातों से
दूर्वादल से लहर-लहर कर काँप रहे थे ।
जाने कब तक इसी भाँति कवि वहाँ खड़ा था ,
विहग और पशु भी स्थिर हो कर रहे देखते ।

अधिक वेग से काँप उठा सहसा कवि का तन ,
आगे बढ़ा सवेग एक पग, किन्तु ठिठक कर
खड़ा हो गया, काँप उठे तरु अविदित भय से ।
चमक उठा सहसा कवि का मुख तीव्र ज्योति से ,
'देवि ! देवि !' की ध्वनि से सहसा गूँज उठा वन ।
कवि अचेत हो गिरा वहीं छवि के चरणों पर ,
नयन बन्द थे, बद्ध प्रणति-अंजलि में कर थे ।

* * *

एकत्रित हो मेघ छा गये तरु शिखरों पर ,
सूर्य वेग से मध्य गगन तक चढ़ आया था ।

भ्रम

जानते हैं हम कि पृथ्वी घूमती है ,
हर्ज क्या है पर अगर इस को भुला कर
हम यही मानें कि सूरज ही हमारी
भूमि का चक्कर लगाता है निरन्तर ?
तेज क्या रवि का घटा देगा हमारा
यह मधुर भ्रम ? या धरा का तम सघनतर
भूल कर देगी हमारी ? क्या प्रकृति के
नियम निर्भर हैं हमारे मानने पर ?

टूट तरु की डाल से गिरना धरा पर
नियम नैसर्गिक, विवशता है फलों की।
क्या मगर आपत्ति है विज्ञान को, यदि
हम कहें निर्णय फलों ने ही किया था,
डाल से प्रियतर उन्हें था भूमि का सुख !

सर्प के प्रति

चिर-विनय की मूर्त्ति ! तुम साकार अनुनय !
चरण-रज ले शीश पर, साष्टांग करते,
पेट के बल रेंगते, आराध्य अपना
खोजते अंजलि चढ़ाने को निरन्तर।

मैं बता दूँ ? देख लो, वह जा रहा है !
भूमि पर झुकती न उस की दृष्टि पल भर,
सामने जो पड़ गया उस को कुचलता,
डालता जाता धरा के वक्ष पर है
चिह्न गुरुता और बल के, यह समझ कर
अब न आयेगी कभी आँधी इधर फिर
जो उड़ा कर धूल इन पर डाल देती।

देख लो, पहचान लो इस देवता को;
वरद-पद से दलित हो, सविनय लिपट कर
आज अर्पित, सर्प ! कर दो भक्ति अपनी।

कविता

कल के निष्प्रभ शब्दों में करनी बात आज की,
अभिव्यक्त भावना अपनी, भाषा में समाज की।

है विवश किन्तु कर देता कवि को उस का ही स्वर ,
माना, कहना है कठिन; किन्तु चिर-मौन कठिनतर ।

कविता साधन ही नहीं, साधना, साध्य, सभी कुछ ।
मन्दिर, वन्दना, प्रसाद और आराध्य, सभी कुछ ।
भ्रम है कहना निर्माण किया कविता का कवि ने
रचना की थी या जगा दिया कमलों को रवि ने ?

यह दूर हटा दो शब्दकोष, है व्यर्थ खोजना
इस मुद्रित पुस्तक में यह जाग्रत शब्द-योजना ।
मेरी कविता का आशय तुम इस क्षण से पूछो ,
सुन सको प्रतिध्वनि मन में यदि तो मन से पूछो ।

मिल सकता यदि मैं तुम से इतनी दूर न होता ,
शब्दों का आश्रय लेने पर मजबूर न होता ।
साँसों में साकार स्वयं बन जाती कविता ,
तुम सुनते, मेरी बात स्वयं बन जाती कविता ।

शाम तक

मिल जायेगी राह शाम तक ।

दिन ढलता जाता, पर इसकी
किसने की परवाह शाम तक ?
मिल ही जाती राह शाम तक ।

होगी रात, छिपेगी छाया ,
जग के अनुभव ने समझाया ,
यही बहुत है कम हो जाये

दिन भर का दुख-दाह शाम तक।
मिल जाये यदि राह शाम तक।

जागृति के नयनों में रह कर
रोती रही नींद यह कह कर,
'असमय टूटे हुए स्वप्न की
गूँजा करती आह शाम तक।
मिल भी जाये राह शाम तक।'

अपने ही पद-चिह्न कुचलने,
नियति न लौटी नियम बदलने।
निश्चय है यह मिट न सकेगी
घर जाने की चाह शाम तक।
किसने पायी राह शाम तक!

रुक पाऊँगा कहाँ पहुँच कर?
रहा पूछता पथिक निरन्तर,
पर इतना ही कहा प्रगति ने,
'मिल जायेगी राह शाम तक
यदि कर लो निर्वाह शाम तक।'

———

एवरेस्ट विजयी

पाँव रख अपने हिमालय के शिखर पर
जब खड़े हो, भार कन्धों से गिरा कर
रख रहे थे भूमि पर मानवयुगों के
स्वप्न, आकांक्षा, अमर विश्वास का तुम

भार जो लेकर चढ़े थे, और सम्भव
हो सका ले कर जिसे चढ़ना शिखर तक
मौन, विस्मित व्योम तुम को देखता था,
लोटते थे पाँव पर बादल तुम्हारे।

तीव्रतर था अवतरण, फिर भी कठिनतर,
श्रान्ति कम थी किन्तु था आयास बढ़ता।
राह पहचानी हुई आरोह की थी,
उतरने का मार्ग उस को ही समझ कर
खोज कर पदचिह्न अपने पाँव रखते।
दब रहे थे सिद्धि, यश के भार से तुम,
गरजते थे शीश पर बादल तुम्हारे।

——

निर्वासिता सीता का गीत

क्या करेगा जान कर, मन !
जो न समझेगा कभी, वह क्या करेगा जान कर, मन !
मोड़ जो मिलते गये, छूटे सभी, बढ़ता गया पथ ;
फूल जो मिलते गये, छूटे सभी, बढ़ता गया पथ ;
फूल जो खिलते गये, टूटे सभी, बढ़ता गया रथ।
आज दंडक वनस्थली को क्या करे पहचान कर मन !

धर्म यह भी था कि हो बलिदान मेरे हित स्वजन का,
धर्म यह भी है कि पुरजन के लिए लूँ मार्ग वन का।
आज के इस धर्म का कल क्या करेगा ध्यान कर मन !
तोड़ कर सारी प्रजा का मन, स्वयं वनवास ले कर

यश मिला फिर मन प्रजा का रख, मुझे वनवास दे कर ।
धर्म है आधार यश का, शान्त हो यह मान कर, मन !
क्या करेगा जान कर, मन !

विश्वास

दीप जलता है कहीं, छाया बताती ।
मौन, सूने खँडहरों से उठ अचानक
याद-सी हम को दिला जाती प्रतिध्वनि ,
रात में भी जागता है स्वर किसी का ।

है कहाँ वह दीप, कितनी दूर, जिस की
आड़ में छाया हमारी है सुरक्षित ?
कौन है वह नींद का प्रहरी अकेला
जागता जो बन्द पलकों पर हमारी ?

क्या हुआ जो दीप जिस के हाथ में है
वह न वश में है न परिचित ही हमारा ,
हो अगर विश्वास इतना ही कि दीपक
रात भर निर्बाध यों ही जल सकेगा ,
रख सकेगा बन्द पलकों पर सँजोये
एक प्रहरी स्वप्न अनदेखे हमारे ।

जल उठी सारी निशा

जल उठी सारी निशा, पर मैं अकेला
एक दीपक ही जलाना चाहता था ।
गीत जो पूरा प्रतिध्वनि ने किया, मैं
एक पद उस का सुनाना चाहता था ।

जो दिवस की ज्योति ने छोड़ा अधूरा
रात ने आ कर किया वह चित्र पूरा ,
फिर नयी-सी हो गयी वह बात जो मैं
शाम से ही भूल जाना चाहता था ।

याद फिर आयी अचानक राह घर की ,
मिट चुकी थीं जब हृदय से चाह घर की ।
नींद ने समझा न था पर स्वप्न केवल
दूर हट कर पास आना चाहता था ।

सामने रख लक्ष्य को ला कर उसी के ,
सिद्धि ने चूमे चरण आ कर उसी के ,
रह गया जो माँगता पर कह न पाया
कौन-सा वरदान पाना चाहता था ।

दोष गुंजन में भ्रमर को मिल न पाया ,
फूल फिर भी आज खुल कर खिल न पाया ,
मुस्कराने के लिए भी आज, जाने
क्यों नया कोई बहाना चाहता था ।

अधूरी बात

बात पूरी हो न पायी थी, अभी कुछ
और कहना था मुझे जब रात बीती ।
दिवस की पहली किरण के स्पर्श से ही
हो गये शशि-तारिका के साथ मेरे
शब्द भी निष्प्रभ, सहम कर स्वर न जाने
छिप गया किस विहग-वाणी में अचानक ।
मैं न समझा क्या हुआ था, क्यों अधूरी
रह गयी वह बात जिस को सुन रहे थे
तुम सहज, सुन्दर कुतूहल से समुत्सुक ।

अब प्रतीक्षा कर रहा हूँ रात की फिर,
शब्द वे मिल जायँ, पूरी कर सकूँ मैं
बात अपनी। किन्तु भय है अब न होगा
फिर कभी सम्भव सुनाना या समझना :
शब्द होंगे, पर वही क्या अर्थ होगा?

——

प्रिय, तुम न मिले!

तुम आ न सके इस ओर, प्रबल
प्रतिकूल प्रगति थी धारा की।
अनसुना रह गया स्वर, यद्यपि
करुणा अविराम पुकारा की।
अनुमति न मिली जा सकूं स्वयं,
सम्बल न मिला, साथी न मिले।
अलि ने आवाहन, किया, सुमन
फिर भी न खिले, न खिले, न खिले।
प्रिय, तुम न मिले!
रवि की गति है अमन्द, मेरा
है लक्ष्य पूर्व में, कौन कहे
पहुँचा भी कभी जहाँ तुम हो,
तब तक दिन शेष रहे न रहे।
वन्दना याचना में बदली,
जब स्वर से स्तुति के गात छिले,
फिर भी पल भर को प्रतिमा के
आराध्य अधर न हिले, न हिले।
प्रिय, तुम न मिले!

——

सहचर

चल रहे हो साथ, यह मैं जानता हूँ ;
और यह भी मानता हूँ मैं जहाँ तक
और जब तक चल सकूँगा, तुम रहोगे
साथ ही चलते निरन्तर, मान उस को
लक्ष्य अपना, मैं हुआ जिस ओर उन्मुख ,
नियति से निर्देश, सम्बल पा प्रगति से ।

राह अनजानी, अँधेरी रात है, हम
साथ हैं, फिर भी अकेले खोजना है
मार्ग अपना । पर जहाँ भी, जब कभी भी ,
जिस तरह भी अन्त हो पाथेय, पथ या
शक्ति का, या पूर्ण यात्रा ही स्वयं हो ,
दूर हों या पास, होंगे साथ ही हम ।

गीत

गीत यदि गा दे
प्रणय का गीत यदि गा दे !
आज प्राणों की लता पर
खिल रहे हैं जो सुमन-स्वर ,
हृदय की लय में पिरो कर हार पहना दे ।
सजीली कल्पना को हार पहना दे ।
प्रणय का गीत यदि गा दे !

वेदना हो पूर्ति क्षति की ,
नीति परिवर्तित नियति की ,

प्रेरणा दे कर प्रगति की राह दिखला दे।
सजीली भावना को राह दिखला दे!
समय का गीत यदि गा दे!

मुग्धा का स्वप्न भंग

एक ही थी राह आने की यहाँ तक, और उस पर मैं सबेरे से तुम्हारी
शाम तक करती रही अपलक प्रतीक्षा, पर न आये तुम, न पायी एक आहट।
सूर्य के ही साथ आशा क्षीण होने, साथ छाया के लगी थी श्रान्ति बढ़ने,
फूल माला में पड़े मुरझा रहे थे, वायु भी लेने लगी थी साँस ठंडी।
फेंक माला-फूल घर की ओर अपने चल पड़ी मैं विफलता की मन्द गति से।
घर पहुँचकर देखती हूँ तुम स्वयं हो मुस्कराते, द्वार के बाहर खड़े हो।
मौन थी मैं, सजल आँखें कह रही थीं यह न आने से बुरा आना तुम्हारा।

'देख लो इन झोंपड़ों के बाद, आगे दीखती है जगमगाती जो इमारत,
वह हमारी है, वहीं ले कर।' मुस्कराये स्नेह से तुम यह सुना कर
और फिर पूछा, 'कहो, क्या सोचती हो?' गर्व से, आनन्द से, उत्साह से मैं
देखती थी उस भवन को और तुम को। कह न पायी कुछ, तुम्हारा हाथ अपने
हाथ में ले कर, दबाकर कर रही थी व्यक्त अपना प्रेम, सुख, आभार सारा।
मूर्ति-सी मैं मार्ग में ही स्थिर खड़ी थी एकटक उस महल को ही देखती, जब
खींच मेरा हाथ सहसा कह उठे तुम, 'जग पड़ो अब, देर तक सोना बुरा है।'

अँधेरी रात

यह अँधेरी रात
कितनी शान्त, शीतल!
कल्पना-सी मुक्त! कवि के
मर्म-सी गम्भीर! कवि के

कर्म-सी निष्काम ! कवि के
मर्म-सी कोमल !
अकेली
विजन वन-पथ पर भटकती
सिंहनी सी
यह अँधेरी रात।
जिस का भय समाया है हृदय में ,
इस लिये छिप कर कहीं
बैठी हुई है
(ज्ञानियों के शान्त मन में बेकली-सी)
निकल बाहर, मुस्कुरा कर
छिटक जाने के लिए है
छटपटाती
चाँदनी अवदात !
कवि की
प्रेरणा है या स्वयं कविता, न जाने ,
यह अँधेरी रात !

और भी हैं

एक तेरी ही नहीं, सुनसान राहें और भी हैं ,
कल सुबह की इन्तज़ारी में निगाहें और भी हैं ।
और भी हैं ओठ जिन पर वेदना मुस्कान बनती ,
नींद तेरी ही न केवल स्वप्न की पहिचान बनती ;
पूजना पत्थर अकेले एक तुझ को ही नहीं है ,
'वाह' बनने के लिए मजबूर आहें और भी हैं ।

एक नन्हा घोंसला उड़ता न आँधी में अकेला ,
पड़ गया पाला अगर तो एक टहनी ने न झेला ,

सोच तो क्या बाढ़ आती है अकेले को डुबाने ,
एक तिनका ढूँढ़ती असहाय बाहें और भी हैं ।

तू अकेला ही नहीं है जो अकेला चल रहा है ,
और तलवों के तले भी यह धरातल जल रहा है ;
हैं बहुत साथी जिन्हें तू ने न देखा है न जाना
सामने हो एक ही लेकिन दिशाएँ और भी हैं ।

चित्र बेचने वाले से

मैं न लूँगा चित्र, ले कर क्या करूँगा !
आज तक मैं ने जाने चित्र कितने
चाव से, उत्साह से ले कर लगाये
चित्रशाला बन गयी दीवार घर की ।
पड़ गये धुँधले मगर वे सब, पुराने ,
जो सुरक्षित सूर्य-किरणों से नहीं थे ।
और जिन को सावधानी से बचा कर
मैं अँधेरे में छिपा कर रख सका था ,
कुछ समय के बाद पट की पीठिका से
वे उतर कर आ गये दीवार पर ही
और अब मिटते मिटाते भी न तिल भर ।

अब न लूँगा चित्र ये निर्जीव, निष्क्रिय ,
क्यों कि अब मैं खुद बना कर देखता हूँ
चित्र जीते, जागते, चलते, बदलते ,
रोशनी में खोल घर की खिड़कियों को ।

मज़बूत ईंटें

पाँव के नीचे जमा कर ईंट हमने
देख लो, ऊँचा किया आसन तुम्हारा।
यह न कोई जान पायेगा कि क्या है
जो बिछा नीचे तुम्हें ऊँचा उठाने,
क्योंकि हमने एक चमकीली, सुनहरी,
कीमती चादर विलायत से मँगा कर
डाल दी है, ईंट नज़रों से छिपाने।

भेद कोई जान ले; लेकिन अगर यह
पूछ बैठे, "क्या छिपा है वस्त्र के नीचे बता दो,"
तो दिखाना गर्व से चादर हटा कर
और कहना, "ये बड़ी मज़बूत ईंटें हैं, हमारे
गाँव के अपने पजावे में पकी हैं।"

पूछनेवाला न हो सन्तुष्ट, फिर भी
इस कथन से तुम बहुत सन्तुष्ट होगे।

प्रयाग की तीसरी नदी

बहती आयी तू युग-युग से
किसी हृदय की रुधिर-धार-सी,
रही गूँजती काल-सौध में
निर्वासित क्षण की पुकार-सी।

है असत्य-सी मुक्त, सत्य-सी
फिर भी सरिते, तू सुन्दर, शिव,
प्राणों सी अज्ञेय, अलौकिक,
रही किन्तु जीवन-सी पार्थिव।

तेरे तट पर ही आस्था को
अपने खाये क्षितिज मिल गये ,
सुरभित हुई साँस वसुधा की
क्यों कि स्वर्ग के सुमन खिल गये ।

आयी बाढ़ कभी तुझ में भी ?
तेरा जल भी कभी घट सका ?
गंगा, यमुना-सी तेरी भी
गति से कभी कगार कट सका ?

कभी किसी की प्यास बुझायी
तेरे जल ने भी, सरस्वती ?
कभी छू सकी तू मानव को ?
नाव किसी की पार कर सकी ?

मिला न सागर देव-लोक में
थी अपूर्ण तेरी पवित्रता ,
विवश तुझे पड़ गयी छोड़नी
संगम पर स्वर्गिक विचित्रता ।

रहा अगोचर ही तेरा पथ
अरचित वेदों का प्रतीक बन ,
हुआ किन्तु गंगा, यमुना का
हृदय-नीर ही तेरा जीवन ।

गीत और स्वर

ध्यान टूटा :
जा रहा था मैं सड़क पर गुनगुनाता
पंक्तियाँ अपने अधूरे गीत की जो ,

बन गयी थीं, और
आगे क्या कहें, क्या तुक मिलायें
कौन सुन्दर और कोमल शब्द लायें
और उन को किस जगह, कैसे सजायें,
मैं यही सब सोचता,
कुछ ध्यान में डूबा हुआ-सा
जा रहा था, जब अचानक
ध्यान टूटा :
हाथ से छूटा अचानक
रेशमी आँचल मधुर लय का,
जिसे पकड़े हुए कविता
अपरिचित मार्ग पर
निःशंक बढ़ती जा रही थी।
ध्यान टूटा :
हो गयी मेरी तपस्या भंग,
लेकिन
जो गिरी मेरे अधूरे गीत की उठती हुई दीवार के ऊपर
नहीं थी वह किसी भटकी हुई अभिसारिका की आह की बिजली
सुरीली बेबसी जिस की
सहज ही
रीति के अंगार में करुणा मिला देती।
मगर ऐसी नहीं थी,
जो पड़ी थी कान में मेरे
बड़ी ही बेसुरी, तीखी, बुरी आवाज़ थी वह,
दर्द से कोई कहीं चिल्ला रहा था,
फेफड़ों की और अपने कंठ की ताकत लगा कर,
क्यों कि शायद वह अशिक्षित यह समझता था
कि ईश्वर दूर रहता है।
मगर शक हो गया मुझ को,
नहीं थी वेदना या गिड़गिड़ाहट

क्रोध इस में था भरा प्रतिशोध का, जो
एक निर्बल के निरर्थक शेष-सा विक्षिप्त
अपने कान के पर्दे स्वयं ही
फाड़ने में लग गया था।

पर नहीं, यह भूल थी मेरी,
सुना मैं ने उसी क्षण तान टूटी,
शब्द बेढंगे पड़े कुछ कान में, फिर
दूसरे ही क्षण
उठी फिर तान वैसी ही
भयानक, बेसुरी, तीखी,
मगर इतना समझ में आ गया तब तक
कि यह उल्लास था :
वह गा रहा था।

हँस दिया मैं
दोष था आवाज़ का उस की,
हृदय के भाव कोमल हों, मधुर हों,
तो हमें क्या?
हमें अभिव्यक्ति सुन्दर चाहिए
कविता जिसे हम मान लें।
वह नग्न, मांसल
प्राण की आवाज़ थी—
कैसे उसे पहचानता मैं?
मैं बढ़ा आगे,
मिली फिर शान्ति चारों ओर, मैंने
खोज कर फिर पा लिया आँचल उसी लय का,
मिले फिर शब्द भी,
तुक जोड़ता उन पर,
बनी जो पंक्तियाँ थीं, गुनगुनाता
मैं बढ़ा आगे।

———

हंसकुमार तिवारी

स्मरण

तेरी बड़ी याद आती है !

कजरारे घन-नयन पसारे ,
इन्द्रधनुष की भौंह सँवारे ,
रुनझुन रिमझिम की पग-पायल ,
पी-पी प्राण-पपीहा टेरे ,

विद्युत-विकल कटाक्ष शून्य सागर में जब लहरें भर-लातीं
तेरे नलिन-विमोचन की मुक्ता की झड़ी याद आती है !

एक बूँद जीवन का याचक
कब से प्यासा मरता चातक ,
जी-भर रहा बरसता बादल
होती रही सजलता दाहक ,

दिल के दाग लिये इस दुख का शारच्चन्द्र नभ में जब आता ,
तेरे कनक-भाल पर कज्जल-बिन्दी जड़ी याद आती है !

राधा के प्रिय मनमोहन-सा
हँसता शशि का सम्मोहन आ
शेफाली-सा चू-चू पड़ता
सपनों का वैभव लोचन का ,

विकच कुमुद-नयनों में रजनी शबनम के मोती रख देती
तेरे मुख - मयंक की छूटी मृदु फुलझड़ी याद आती है !

किसी अतनु से सहसा छूकर
प्रकृति प्रिया का यौवन सस्वर
बरबस फूलों में खिल आता
चिर गोपन अन्तरतम बाहर ,

मँजराये आमों पर कोयल की जब जलन गीत बन जाती
तेरे अरुण पलाश - अधर की टूटी कड़ी याद आ जाती है !

ले बलिदान शलभ का अनगिन
जलती शिखा दीप की अमलिन
इसी अकथ पीड़ा में तप-तप
बन जाती जब विभावरी दिन,

कोमल कमल-हृदय फट जाता, कनक किरण कन्यायें हँसतीं
मेरी विवश व्यथा, तेरी हँसती छवि खड़ी याद आती है !

दिन का ध्यान, रात का सपना,
जीने का दो संम्बल अपना,
तेरी विरह-व्यथा में तिल-तिल
इस जीवन-कंचन का तपना,

श्वासों के पहरुए बिठा कर प्राणों में जगती है धड़कन !
सुधि से दूर रह सकूँ ऐसी एक न घड़ी याद आती है !

प्रतिभासित

मेरे नयन-नीर में धुल कर निकला है मृदु हास तुम्हारा !

जलती प्यास तुम्हारे जी की मेरे होंठों पर हिम-शीतल,
पलती चाह युगों की मेरी आशाओं का तड़पन बेकल,
स्वप्न शयन के सत्य तुम्हारे मेरी साँसों के बन्धन में,
मेरे जीवन की वंशी में बजता है निश्वास तुम्हारा !

स्मरण-शुक्ति में संचित है करुणा-सावन की दुर्लभ स्वाती ,
जलन तुम्हारी लिए जल रही मेरी स्नेह-भरी यह बाती ।
छाती में धीरज बन बैठी मूक तुम्हारी धरती देखो ,
प्राणों के सूनेपन में आ सिमटा है आकाश तुम्हारा

मैं कागज की नाव, समय के प्रखर स्त्रोत का खेल-तमाशा ,
तुम कर बैठे बैठे उसी पर, हठी ! पार जाने को आशा ।
तिनके पर तूफान पड़ा है, पड़े उसी के पीछे तुम भी—
निखिल विश्व में एक अकेला, मेरा ही विश्वास तुम्हारा !

बन वेदना बसे तुम मन में, मैं उस को ही प्यार कर रहा ,
उसी वेदना को मैं जीवन, मरण और संसार कर रहा ।
दे निःसीम गगन, नन्हीं साँसों के पंख दिये दो तुमने—
विफल प्रयासी मैं सीमा में नव-नव नित्य प्रकाश तुम्हारा !

हे अकरुण, तुम पर ही तो मैं जी-जीकर मरता रहता हूँ ,
कुछ साँसों का कर्ज करुण निश्वासों से भरता रहता हूँ ;
जन्म-मरण के दो ही डग में जीवन की मंजिल तै समझो
मेरा गला मात्र यों दिन का, युग-युग का इतिहास तुम्हारा !

——

निरुपाय

धार बन कर बह गये तुम, कूल हो कर रह गया मैं !

मौन जीवन-वीण पर मैं सो रहा चुप तार-सा हो ,
उड़ चले तुम नील नभ में वीण की झंकार-सा हो ;
सुरभि बन तुम भुवन व्यापी, फूल हो कर रह गया मैं !

प्राण के तुम खग मुखर, तन-कनक-पिंजरे में पले जो ,
मृत्तिका का पात्र मैं, बन जोत तुम जिस में जले हो ;
डाल बन कर भी फले तुम, मूल हो कर रह गया मैं !

मैं धरा की आँख में दो बूँद मोती की तरल-सी ,
छवि तुम्हारी रश्मि की बिम्बित जहाँ होती सरल-सी ;
सत्य दर्पण पा हुए तुम, भूल हो कर रह गया मैं !

चाह का मैं घन तुम्हारा, हृदय में पलता रहा था
स्वप्न के जादू-भवन में मैं तुम्हें छलता रहा था
चल दिये तुम चल-चरण बन, धूल हो कर रह गया मैं !

आपत्ति

मैं नहीं मोती नयन की सीप में रखते सँजो कर
पर तुम्हारे चरण-तल की धूल भी तो हूँ नहीं !

दोपहर की छाँह से जीवन-महीरुह में मिले तुम ,
चिर प्रवाही काल पर प्रतिबिम्ब झिलमिल-से खिले तुम ।
काल, जीवन के उभय-तट का न अमृत-सेतु हूँ मैं—
पर अचंचल मृत्यु का उपकूल भी तो हूँ नहीं !

जल रहा तिल-तिल निशा-वधु के विरह में भानु उज्ज्वल
घुल रही युग से वियोगिन रात खोले केश कज्जल
प्रेम-नभ में प्रात-सन्ध्या सी न मैं विच्छेद-रेखा—
पर विरह-निधि के मिलन का कूल भी तो हूँ नहीं !

रश्मि-रथ से स्वर्ग ले जाते नयन-जल नित सुमन का
फूल का मधुहास भू के अधर का घन एक क्षण का
मैं न अधरामृत, न ही काजल नयन का अश्रु खारा—
पर बि तुम्हारे शूल भी तो हूँ नहीं !

लख मरण-घनश्याम को जीवन-मयूरी नृत्य चंचल
मृत्यु-तितली फुल्ल जीवन-माधुरी पर मौन विह्वल
मैं न जीवन-मृत्यु क्रम में सत्य का दर्पण तुम्हारा—
पर तुम्हारे स्वप्न की मैं भूल भी तो हूँ नहीं !

——

स्वरूप

वह खड़ा है सामने नर, देख लो !

जो बना अनुरूप है भगवान का ,
जो बना कारण जगत अभिमान का ,
पालतू-सा प्रलय - पदतल में पड़ा
कर - युगल में यन्त्र नव-निर्माण का—
वह खड़ा विधि और शंकर, देख लो !

धीरता में जो अचल हिमवान-सा ,
वीरता में जो प्रबल तूफान-सा ,
काल की कुछ कैद ही जिस को नहीं
मृत्यु - पीड़ित प्रेम का वरदान पा—
वह खड़ा है अमर - नश्वर, देख लो !

इन्द्र जिस के पुण्य से शंकित सदा ,
पाप से शैतान लज्जित सर्वदा ,

जो उठा, तो स्वर्ग तक भू उठ गया—
जो गिरा तो नरक ही भव को बदा,
वह मिला भू और अम्बर, देख लो !

चीथड़ों में आग का यौवन बँधा,
हड्डियों में मुक्त नभ का मन बँधा,
सिन्धु प्राणों में बँधा उल्लास का—
दो दिनों की गाँठ में जीवन बँधा,
वह खड़ा भू भाग्य - दिनकर, देख लो !

लालची विधि एक जिस की दृष्टि का
विश्व चातक स्वाति-करुणा वृष्टि का,
वह लिये है चाह जी में, आँख में—
स्वप्न नवयुग का, नयी ही सृष्टि का,
वह खड़ा मनु सृष्टि - तत्पर, देख लो !

वह रचेगा एक दुनिया हेम की,
स्वेद, आँसू, रक्त से मृदु प्रेम की,
स्वर्ग औ श्रीधर जहाँ आ कर बसे
जिन्दगी हो देव दुर्लभ क्षेम की,
वह खड़ा सर्वांग-सुन्दर, देख लो !

——

दो चिनगारी

दुनिया फूस बटोर चुकी है, अब दो चिनगारी मैं दूँगा !

नैनों की गंगा-यमुना में आँचल बहुत भिगोये तुमने,
दिल की कब्रगाह पर आशा-दीपक बहुत जुगोये तुमने;
अब तूफ़ान साँस का, फिर दो आँखें रतनारी मैं दूँगा !

तोष-शान्ति का पिला ज़हर कंकाल तुम्हीं लोगों ने पाला ,
दया दान को मान धर्म पर कंकाल तुम्हीं लोगों ने पाला ;
अब जीने का मूल मन्त्र मरने की लाचारी मैं दूँगा !

तुम अमृत के प्यासे, खोया हुआ दूध भी किंचित्
तुम्हें स्वर्ग की साध, हो गये अपनी मिट्टी से भी वंचित ,
जियो, मरो, इनसान बनो धरती पर, यह बारी मैं दूँगा !

शूल-धूल मानव के मत्थे, फूल चढ़ा पत्थर के ऊपर
श्वास गिन दिये देवलोक को, आँसू गिरा दिये दो भू पर ,
उस गीली मिट्टी से गढ़ ज्वालामय नर-नारी मैं दूँगा !

ओ संसार, स्वयं तुमने विधि को बाँधा, मन्दिर में डाला ,
घुटने टेक, नवा कर माथा, फिर अपने को भी दे डाला ,
अब खुद ही विधि बन जाने की जो हिम्मत हारी, मैं दूँगा !

छायी क्षितिज - छोर पर लाली, आया है तूफान देख लो ,
खड़े पेड़ - सा गिरा उखड़ कर सारा अभी जहान देख लो ,
गिरे जहाँ को, बना राख दे, वह पवि संहारी मैं दूँगा !

ज्योत्स्ना

यह ज्योत्स्ना !
कितनी मधुर, उन्नतमना
उजवल, नवल ,
कोमल, धवल ,
ज्यों क्षीर-सागर रे, सबल
धोता चला जाता जगत् से दैन्य, दुखमय वासना !
यह ज्योत्स्ना !

चिर-गलित उर ,
सरिता गगन मन मुख मुकुर ,
शुचि शुभ्रवसना स्वर्ग की उतरी परी, नीरव नूपुर ,
यौवन मधुर ,
कर्षण प्रचुर ,
सहसा उठा बज विश्व-वीणा में अनोखा कौन सुर—
नीलाभ नभ हरिताभ भू किस मदिर मधु में है सना !
यह ज्योत्स्ना !

यह मन्त्र क्या
मुनि-सा तिमिर-निधि पी गया
पा शान्ति-ज्वाला-दग्ध जग बरसी अमित विधि की दया
धर भौमता
रे, कौन आ
यह रच गया छविमय जगत, रे, भर गया जीवन नया
चिर रजकणों का जीर्ण जग सहसा रजतमय है बना !
यह ज्योत्स्ना !

मैं मुग्ध-मन
बैठा विजन में हत-नयन ,
इस ज्योत्स्ना की धार में लेता कहीं धो मलिन मन ,
यह जग-विपिन
कितना मलिन, कितना कठिन
यह वासना की लाश पर सहसा रखा किसने कफ़न—
हँसता कभी जीवन हमारा, आज क्यों हँसती हिना !
यह ज्योत्स्ना !

——

चैती दोपहरी

पीले पत्तों के मर्मर में चैती दोपहरी रोती है !

सब सूना-सूना लगता है हर ओर उदासी है छायी ,
आलस का मादक सम्मोहन यह हवा कहीं से ढो लायी ,
पहलू में कभी खटकती कुछ, कुछ व्यथा सजग-सी होती है !

दूबों का दामन तार-तार निर्धन तरु की डाली-डाली
जगती की श्री - शोभा सब कुछ लगती जैसे खाली-खाली
दुर्दिन में नंगे पेड़ों की अपनी छाया भी खोती है ।

हैं खड़े ठूँठ पर विहग मौन कोयल उठती है कभी कूक
लू में आ कर छू जाती है किस भूखे दिल की सजल हूक
फागुन की मस्त जवानी वह चुप यहीं कहीं पर सोती है !

वह दूर भूमि के कंधों पर थक कर सोया है आसमान ,
दोनों की श्रीहत आँखों में पीड़ा के बादल आसमान ,
नभ के आँसू हैं ओस—धरा के नभ नयनों के मोती हैं !

मैं देख रहा हूँ दूर-दूर खिड़की से बाहर खेत-खेत
ऊपर से धूप बरसती है नीचे से उड़ता गर्म रेत
पतझड़ के पहलू में धरती नव जीवन मधुर सँजोती है !

———

अज्ञात वलवार

मिट्टी वतन की पूछती, वह कौन है, वह कौन है ,
इतिहास जिस पर मौन है !

जिस के लहू की बूँद का टीका हमारे भाल पर,
जिस के लहू की लालिमा स्वातन्त्र्य-शिशु के भाल पर,
जो बुझ गया गिर कर गगन से निमिष में तारा सदृश,
बच आस जितना भी न पाया अश्रु जिस का...
जो दे गया जीवन विजन के फूल-सा हँस नाश को—
जिस के लिए दो बूँद भी स्याही नहीं इतिहास को!
वह कौन है!

जिस के मरण से नेह से दीपक नये युग का जला,
काजल नयन के मेंह से मरुथल मनुज-मन का फला,
चुनता गया पद-पद्म से कंटक मनुज की राह का,
विष दासता को, मुक्ति को निज मृत्यु का अमृत पिला,
चुभती न स्मृति जिस की कभी जी में किसी के शूल-सी,
झरते न जिस पर आँख से दो आँसुओं के फूल ही!
वह कौन है!

जननी जरा-जर्जर नयन-नभ से लगी रिमझिम झड़ी,
जिन बादलों के भाग्य पर बिजली अचानक गिर पड़ी,
लाठी बुढ़ापे की गयी, तिनका छिना मँझ धार से
फिर भी बची है मौत को वह एक काँटे-सी गड़ी,
दे मुक्ति गंगा देश को, खुद तो भगीरथ चल बसा
शत लक्ष सुत के बीच भी माँ की अनाथा की दशा!
वह कौन है!

आँसू बहू के रो रही वह कौन, किस की कामिनी—
घनश्याम कुन्तल में नहीं सिन्दूर-रेखा-दामिनी—
कोमल कलाई पर नहीं हैं काँच की दो चूड़ियाँ
मुख-चाँद पर छायी हुई है दुःख-मानस यामिनी
इस शाख से छूटी लता का वह कहाँ आधार है
जिस के विना यह फूल-सा जीवन जगत् का भार है!
वह कौन है!

खग-शावकों-से नीड़ से बाहर बिछा आँखें विकल ,
प्रति रोम में रख कान पगध्वनि की प्रतीक्षा में विफल ,
शिशु कौन ये, जिन के न परदेशी पिता आते कभी—
मन मौम-सा जाता नयन में नित्य जम-जमकर पिघल ,
आसेतु-हिमगिरि-मध्य विस्तृत देव-वन्दित देश यह
दीया तले तम-सा, उसी में नरक-निन्दित वेश यह !
वह कौन है !

देखो वहाँ होती खड़ी मीनार है धनवान की ,
की अर्चना जिसने जनम भर रजत के भगवान की ,
बहु राजपथ, स्मृति सौध, विद्यालय बने हैं नाम से—
इस देश को ही बेच कर जिसने रकम कुछ दान दी ;
जो मर मिटा है देश पर, इस पर, नहीं परिचय कहीं
जुटता उसी के बाल-बच्चों को अनाथालय नहीं !
वह कौन है !

लगता नहीं उस की चिता पर आज मेला ही यहाँ ,
दो फूल क्या, मिलता किसी से हाय ढेला भी कहाँ !
वह मातृभू पर मर गया, फिर भी रहा अनजान ही—
इस मुक्ति - उत्सव पर गला उस पर न धेला भी यहाँ ;
वह कब खिला, कब झर गया अज्ञात हरसिंगार-सा
किस को पता है दासता के काल उस अंगार का !
वह कौन है !

अनागत

वह राग अभी तो बाकी है
गा जिसे मूक होगी भाषा ,
जिस पर मिट जायेगी आशा ,
जिस की बाजी पर फेकूँगा

हंसकुमार तिवारी

मैं किस्मत का अंतिम पाशा,
हस्ती का अन्त जहाँ पर, वह अनुराग अभी तो बाकी है!

मैं कहाँ अभी कुछ कह पाया,
कितने दिन जग में रह पाया,
इस समय-स्रोत में जीवन का
महमान कहाँ तक बह पाया?
जो जाग उठेगा मौके से, वह दाग अभी तो बाकी है!

खोया कुछ आँखों का पानी,
कुछ व्यर्थ गयी करुणा वाणी,
जो बोल रहा था जादू बन
वह तो थी अपनी नादानी,
जो क्षार बना देगी जग को, वह आग अभी तो बाकी है!

जग की आँखों में मैं हारा,
दुर्दिन का, किस्मत का मारा,
इस जीवन-नभ में गया डूब
उगने से पहले ही तारा—
पर पछतायेगा जग जिस को, वह भाग अभी तो बाकी है!

——

जागरण-गान

जाग, सोये प्राण!

दीप्त वसुधा-भाल,
हँस रहीं दूबें पहन कर ओस-मुक्ता-माल,
गा रहे खग - बाल,
फूल की सुरभित हँसी से डाल-डाल निहाल;

आज मंगलमय सुवेला ,
छा रहा रवमय उजेला ,
विश्व-तट पर चपल प्राणों का लगा है आज मेला—
पर वहाँ पर है अकेला
एक तू म्रियमाण—
जाग, सोये प्राण !

•

कंठ क्यों रे क्षीण ,
सुप्ति-सर में सो रहा क्यों चिर-चपल मन-मीन ;
ले, उठा निज वीण ,
उल्लसित स्वर में विसुध इस विश्व को कर लीन—
आज नव-निर्माण आये ,
जीर्ण-जग नव-प्राण पाये ,
गर्व से उद्दीप्त मानवता विजय के गान गाये ,
शाप हर, वरदान छाये
पिन्हा नव-परिधान—
जाग, सोये प्राण !

यह निखिल संसार
वृद्ध, युग-युग का पुरातन, मलिनता-आगार ;
कर, सखे, संचार
नवल यौवन, प्राणमय आनन्द-पारावार ,
फिर न जीवन भार होवे ,
दूर हाहाकार होवे ,
शान्ति का सुन्दर, मनोरम, मुक्त मन्दिर-द्वार होवे ,
सत्य, शुभ, साकार होवे
विश्व का कल्याण—
जाग, सोये प्राण !

हो न भय से भीत ,
साधना का पथ सदा काँटों भरा है, मीत !

हार क्या, क्या जीत,
आज तो निश्चय मनाओ पुण्य-पर्व पुनीत;
आज दुविधा दूर कर दो,
बन्धनों को चूर कर दो,
ऊँघते हैं जो नयन, उन में नया ही नूर भर दो,
रक्त-रंजित क्षितिज पर हो
गूँजता तव गान—
जाग, सोये प्राण!

एक तारा, हाय,
नभ-उदधि के तीर पर है उदय होता प्राय,
क्षीण, लघु द्युति-काय,
किन्तु, लघुता माप अपनी प्राण, तुम निरुपाय;
रज-कणों से विश्व सुन्दर,
बूँद अगणित से समुन्दर,
जग क्षणिक, जीवन क्षणिक, लघुता यहाँ विस्तृत अमर, पर
प्राण मेरे, जाग, जग कर
आप को पहिचान—
जाग, सोये प्राण!

——

निर्माण-गीत

कोष में जिस के सुकोमल कामना कल्याण की नव
फूट पड़ने को विकल नित कर रही हो घोर कलरव
वह कली हूँ खिल पड़ूँगा कल अनोखा फूल हो कर
आ रहेगा हास से मम इस धरा पर स्वर्ग अभिनव।

धँस रहा जो व्योम-मरु में एक टुकड़ा मेघ श्यामल,
हृदय में अपने छिपाये अमित करुणा-बूँद उज्ज्वल,

क्षुद्र टुकड़ा मैं वही, मिट जाऊँगा बन सजल जल-कण ,
जी उठेगा पा मुझे वरदान-सा प्यासा धरातल।

चुप पड़ा संगीत जिस में वह अलस-सा तार हूँ मैं ,
निकल पड़ने को विकल-मन मलय उर की धार हूँ मैं।
ज्योति मुझ में वह छिपी जिस से जगत तम-रहित होगा—
विश्व का आशा भरोसा, शक्ति का आधार हूँ मैं।

स्वर्ग-शिशु उतरा धरा पर दिव्य मैं वरदान हो कर ,
विश्व का अभियान हो कर, प्राण का अरमान हो कर ,
मैं करूँगा स्वयं जग में युग नया निर्माण कल ही—
डाल जाऊँगा नयी मैं जान खुद बलिदान हो कर।

गीत

दीप दो :
है न वेला ,
मैं अकेला ,
कष्ट क्यों कर
जाय झेला ,
घोर तम है
जोर कम है ,
भय अनेकों
पथ विषम है ,
शक्ति-मोती से भरा अब
देवता, हिय-सीप दो।
दीप दो।

हाथ दो :
समय-सागर

अगम, दुस्तर
वासना की
वायु खरतर,
नाव-जीवन
हाय, लघु-तन,
ढेव पागल,
विकट कम्पन,
डाँड़ लूँ, पतवार कोई
थाम ले, बस, साथ दो—
हाथ दो।

गान दो :
घोर गर्जन,
शून्य भीषण,
प्राण कातर,
निबल मम मन,
दूर मेरा
है बसेरा,
क्या पता कब
हो सबेरा,
मैं तुम्हें गाता रहूँ—
खेता रहूँ यह ध्यान दो—
गान दो।

जीत दो :
विघ्न सारे
सतत हारे,
भोर हो जा
कर किनारे,

साधना-धन
तुच्छ तन-मन
दे तुम्हें, हो
धन्य जीवन ,
चरण-रज में जा मिलूँ मैं
वह प्रबल परतीत दो—
जीत दो ।

——

शिवमंगलसिंह 'सुमन'

मेरे जीवन के पहचाने !

नाहक मुझ को दोषी न कहो
तेरे पग की आहट पाया
मैं उड़ कर इस पथ पर आया—
तेरा ही आकर्षण लाया :
मैं तो परदेशी पंछी हूँ, मुझ को न चुगाओ ये दाने—
मेरे जीवन के पहचाने ।

सुन्दर ! मुझको बन्दी न करो
अपने कुंचित कच-जालों में ;
छिन नभ, छिन पल्लव-बालों में ,
छिन नीड़ों में, छिन डालों में ,
मैं तो उड़-उड़ कर जीवन-भर, गाऊँगा तेरे ही गाने ।
मेरे जीवन के पहचाने ।

मेरे पुलकित डेने न गहो :
इस सीमित पिंजड़े के अन्दर
तुम सुन न सकोगे मेरे स्वर ;
कर पल्लव-पल्लव में मर्मर ,
सुनना जब खोज तुम्हारी में, निकलेंगे ये स्वर मस्ताने ,
मेरे जीवन के पहचाने ।

अपने हो फिर भी दूर रहो ,
भय मुझे न भूलों-चूकों से ;
मेरी पंचम की कूकों से
देखूँगा, हिय की हूकों से ,
झूमोगे वन की डालों पर, बन-बन कर बारे दीवाने—
मेरे जीवन के पहचाने ।

जो कुछ सहता हूँ सहने दो ,
मेरी न कभी तुम सुध लेना ;

मुझ को यों ही उड़ने देना
जब जी में आवे कह देना,
'आओ मुझ में लय हो जाओ, मेरे दीपक के परवाने !'
मेरे जीवन के पहचाने ।

इतना तो नेह निभा देना ।

जब जगती मुझ को ठुकरा दे, तब तुम आ कर अपना लेना ;
इतना तो नेह निभा देना ।

जब प्रिय को अथक प्रतीक्षा में
ललचायें लोचन बेचारे,
नन्हे बालक-सा मचल-मचल
मन माँग उठे नभ के तारे,
तब मेरे चिर मचले मन को, क्षण भर आ कर फुसला देना ;
इतना तो नेह निभा देना ।

जब मुखरित कर न सकें ये स्वर
सोती पीड़ा के मर्मर को,
जीवन से थका और माँदा
जब लौट पड़ूँ अपने घर को
पृथु पलथी पर अस्थिर सिर धर, मेरी पीड़ा दुलरा देना ;
इतना तो नेह निभा देना ।

जग-पीड़ा अन्तर्निहित किये
बन दुखी हृदय की हूक, उठूँ ;
तेरे ही वन का पंछी मैं
जब जग-उपवन में कूक उठूँ,
तब मेरी कूक-हूक में तुम, अपना संगीत मिला देना ;
इतना तो नेह निभा देना ।

जब जीवन के भीषण रण में
फूँकूँ, मैं अपने शंखों को ,
तुम आ जाना; मैं तुम्हें देख
फड़का दूँगा इन पंखों को ,
तब मेरे पुलकित पंख, प्रिये, धीमे-धीमे सहला देना ।
इतना तो नेह निभा देना ।

देखो मालिन मुझे न तोड़ो !

हम-तुम बहुत पुराने साथी
जगती के मधुवन में
दोनों तन-मन से कोमल हैं ,
फूल रहे गृह, वन में
हम उपवन का, तुम जन-मन का मधु, कण-कण कर जोड़ो ,
देखो मालिन मुझे न तोड़ो ।

हम तुम दोनों में यौवन है ,
दोनों में आकर्षण ,
दोनों कल मुरझा जायेंगे ,
कर क्षण-भर मधु-वर्षण ,
आओ, क्षण भर हँस खिल-मिल लें कल की कल पर छोड़ो ,
देखो मालिन मुझे न तोड़ो ।

जब जग मुझे तोड़ने आता
मैं हँस-हँस रो देता
जब तुम मुझ पर हाथ उठातीं
मैं सुधि बुधि खो देता ,
हृदय तुम्हारा-सा ही मेरा इस को यों न मरोड़ो ,
देखो मालिन मुझे न तोड़ो ।

क्या कर लेती हो याद मुझे ?

मैं बढ़ता जाता हूँ पथ पर अपने जीवन का भार लिये ,
संस्मृतियों की संचित गठरी में पीड़ा का उपहार लिये ,
तुम अपने यौवन के मद में मदमाती हो, इतराती हो—
बोलो अपने सुख-सपनों में क्या कर लेती हो याद मुझे !

मेरे श्वासों के तारों में बीती की एक उसास भरी ,
तुम को पा घुल-मिल जाने की मुझ में असीम अभिलाष भरी ;
पर तुम तो मृगतृष्णा बन कर जीवन की प्यास बढ़ाती हो—
फिर भी इस चरम पिपासा पर क्या कर लेती हो याद मुझे !

कैसे सम्भव मुझ मानव से दो हृदयों का व्यापार यहाँ—
अपनी सीमाओं के बन्धन से ही इतना लाचार यहाँ !
तुम परा प्रकृति, निस्सीम, चपल चिर-सुन्दर जग की थाती हो—
सच कहना, इस परवशता पर क्या कर लेती हो याद मुझे !

मम विरह-मिलन की आशा में तुम हाय ! क्षितिज बन गयीं वहीं ,
मैं जितना आता पास गया तुम मुझ से उतनी दूर रहीं ।
मैं धोखा खाता फिर बढ़ता, तुम झूठी आस दिलाती हो—
पर इन अविचल विश्वासों पर क्या कर लेती हो याद मुझे !

यौवन में अँगड़ाई ले कर तुमने मानव को भरमाया ,
दे कर अतृप्त तृष्णा उस को तुमने युग-युग से तरसाया ;
कहते हैं तुम तड़पाने में तरसाने में सुख पाती हो
पर तड़पन की विह्वलता पर क्या कर लेती हो याद मुझे !

माना तुम को अभिव्यंजन का, आकर्षण का, अधिकार मिला ;
पर और नहीं तो कम से कम मानव से तुम को प्यार मिला
जिस के बल पर मायावी बन मनचाहा नाच नचाती हो :
बोलो, व्यापार-विसर्जन पर क्या कर लोगी तुम याद मुझे !

बस एक तुम्हारे ही कारण सब उँगली मुझे उठाते हैं,
कोई कहता है पागलपन कोई उन्माद बताते हैं;
        मैं सुनी-अनसुनी कर बढ़ता पाने को, तुम छिप जाती हो—
अपनी, इस आँख-मिचौनी पर क्या कर लेती हो याद मुझे !

प्रिय जिस दिन मधुर तुम्हारी वह सुस्मृति, जीवन में शूल हुई,
मैं सिसका, तड़पा, जग बोला तुम से यह भारी भूल हुई।
        सुनते हैं मेरी भूलों पर तुम मन ही मन मुसकाती हो
पर, जग के भूले-भटकों में क्या कर लेती हो याद मुझे !

तुम को मैं ने कितना चाहा, इस की तो कोई थाह नहीं;
तुम मुझ को चाहो तब चाहूँ, मेरी ऐसी भी चाह नहीं।
        केवल इतना ही पूछ रहा बोलो, क्यों नहीं बताती हो—
क्षण भर, सूने में, कभी-कभी क्या कर लेती हो याद मुझे !

——

पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

जीवन के कुसुमित उपवन में गुंजित मधुमय कण-कण होगा,
शैशव के कुछ सपने होंगे, मदमाता-सा यौवन होगा:
        यौवन की उच्छृंखलता में
        पथ भूल न जाना पथिक कहीं !
पथ में काँटे तो होंगे ही, दूर्वादल, सरिता, सर होंगे;
सुन्दर गिरि, वन, वापी होंगी, सुन्दर-सुन्दर निर्झर होंगे:
        सुन्दरता की मृग-तृष्णा में
        पथ भूल न जाना पथिक कहीं !
मधुवेला की मादकता से कितने ही मन उन्मन होंगे,
पलकों के अंचल में लिपटे अलसाये से लोचन होंगे:
        नयनों की सुघड़ सरलता में
        पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

साक़ीबाला के अधरों पर कितने ही मधुर अधर होंगे,
प्रत्येक हृदय के कम्पन पर रुनझुन-रुनझुन नूपुर होंगे :
पग पायल की झनकारों में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !
यौवन के अल्हड़ वेगों में बनता-मिटता छिन-छिन होगा ;
माधुर्य सरसता देख-देख भूखा-प्यासा तन-मन होगा :
क्षण-भर की क्षुधा-पिपासा में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !
जब विरही के आँगन में घिर सावन-घन कड़क रहे होंगे,
जब मिलन-प्रतीक्षा में बैठे दृढ़ युग-भुज फड़क रहे होंगे,
तब प्रथम-मिलन-उत्कंठा में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !
जब मृदुल हथेली गुम्फन कर भुज-वल्लरियाँ बन जायेंगी,
जब नव-कलिका-सी अधर पखुरियाँ भी सम्पुट कर जायेंगी,
तब मधु की मदिर सरसता में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !
जब कठिन कर्म-पगडंडी पर राही का मन उन्मुख होगा,
जब सब सपने मिट जायेंगे, कर्त्तव्य-मार्ग सम्मुख होगा,
तब अपनी प्रथम विफलता में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !
अपने भी विमुख, पराये बन आँखों के सन्मुख आयेंगे,
पग-पग पर घोर निराशा के काले बादल छा जायेंगे,
तब अपने एकाकीपन में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !
जब चिर-संचित आकांक्षायें पल भर में ही ढह जायेंगी,
जब कहने-सुनने को केवल स्मृतियाँ बाकी रह जायेंगी,
विचलित हो उन आघातों में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !
हाहाकारों से आवेष्टित तेरा-मेरा जीवन होगा,
होंगे विलीन यह मादक स्वर मानवता का क्रन्दन होगा :

विस्मित हो उन चीत्कारों में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !
रणभेरी सुन, कह 'विदा', 'विदा!' जब सैनिक पुलक रहे होंगे,
हाथों में कुंकुम थाल लिये—कुछ जलकण ढलक रहे होंगे,
कर्तव्य-प्रणय की उलझन में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !
वेदी पर बैठा महाकाल जब नर-बलि चढ़ा रहा होगा,
बलिदानी अपने ही कर से निज मस्तक बढ़ा रहा होगा—
तब उस बलिदान-प्रतिष्ठा में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !
कुछ मस्तक कम पड़ते होंगे जब महाकाल की माला में
माँ माँग रही होगी आहुति जब स्वतन्त्रता की ज्वाला में
पल भर भी पड़ असमंजस में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

—·—

परिचय

मैं मानव उर का निर्झर हूँ बहना ही मेरा काम यहाँ।

मेरी लघुता पर हिमगिरि की सारी गुरुता शरमा जाती,
जीवन है गतिमय तरल सरल पाषाणों की मेरी छाती,
मेरे पथ के उत्थान पतन भर देते मुझ में वेग प्रबल,
झंझा अपनी झकझोरों से मेरी पीड़ा सहला जाती,
क्या दूँ अपना अनुभव जग को केवल इतना-सा ज्ञान मुझे
कल-कल ध्वनि से पथ की बातें कहना ही मेरा काम यहाँ।
मैं मानव उर का निर्झर हूँ बहना ही मेरा काम यहाँ।

यों देख मुझे बढ़ते, मेरी किस्मत ही निर्मम क्रूर हुई,
रोड़े अटकाये, पर आखिर उसकी भी शेखी चूर हुई।

मेरी इस सहनशीलता पर हिमवर का हृदय पसीज उठा
उन्नत कगार, वन बीहड़, चट्टानों की काया चूर हुई।
अवरुद्ध साँस घुटने पर भी चलने से बाज़ नहीं आया,
सुख-दुख की चोट-चपेटों को सहना ही मेरा काम यहाँ।
मैं मानव उर का निर्झर हूँ बहना ही मेरा काम यहाँ।

मैं देख रहा हूँ रवि, शशि, उडु हो पाते हैं थिर कभी नहीं,
मैं देख रहा ऊषा, सन्ध्या, झंझाएं रुकतीं कभी नहीं।
जीवन के कण-कण में गति है जीवन के अणु-अणु में गति है,
मानव जीवन के चिर साथी सुख-दुख भी टिकते कभी नहीं।
संसृति है, आखिर सृति-हीनों का हो सकता अस्तित्व कहाँ!
जो पथ पर बैठा वही मिटा चलने वालों का नाम यहाँ—
मैं मानव उर का निर्झर हूँ बहना ही मेरा काम यहाँ।

मुझ को विश्राम नहीं लेना, बढ़ता जाना आँखें मींचे,
नीला-सा आसमान सर पर रूखी-सूखी धरती नीचे।
अपने अन्तर के सरस गान पथ पर बिखेरता जाता हूँ,
बस इसी तरह कुछ मुरझाये सूखे जीवन मैंने सींचे।
तट की हरियाली देख-देख ही समझा अपना जन्म सफल,
आगे सागर की सत्ता में लय हो जाना विश्राम यहाँ—
मैं मानव उर का निर्झर हूँ बहना ही मेरा काम यहाँ।

——

गुनिया का यौवन

ग्रीष्मावकाश के थे वे दिन मैं गया हुआ था अपने घर,
कालिज की विषम पढ़ाई से पाने को कुछ विश्राम प्रहर।

मैं एक ग्रामवासी; परिचित खलिहान, खेत, टीले, ऊसर,
अमराई और जीर्ण पनघट मेरी स्मृति के हैं चिह्न अमर।
वह जगत कुएँ की आज तलक परिचित मुझसे रत्ती-रत्ती,
परिचित अमराई का कण-कण, शाखा-शाखा, पत्ती-पत्ती।
मेरे घर के दाहिनी ओर है बसी अहीरों की बस्ती;
युग बीत गये, बदला जीवन पर शेष अभी उन की मस्ती।
हैं घास-फूस के घर उन के दरवाज़े चौपाये बँधते,
दिन चढ़े जहाँ गोरे हाथों मथनी मथती, कंडे पथते।
उन में गोकुल के संस्कार गायों-भैंसों का सुखद संग—
ईर्ष्या होती है देख-देख वे दूध-दही से बने अंग।
अब भी विह्वल कर देती मन उन के विरहा की एक तान
जिस में मुखरित जन-जीवन के सुख-दुख वियोग-संयोग गान।
होता प्रभात कुछ चने बाँध चलते लाठी से हाँक ढोर,
फिर दिन भर नापा ही करते वन-बीहड़, सरिता-तट अछोर।
होती सन्ध्या ढँकते दिगन्त जिन के चरणों की धूल चूम,
ग्वालिनियाँ कटि-सिर पर घट धर चल पड़ती हँस-हँस झूम-झूम।
चूनरी लाल, नीला लहँगा, बिखरे कुन्तल, सहमे उरोज—
किस चपल कन्हैया को उन की कजरारी आँखें रहीं खोज?
गृह-पथ वृन्दावन बनता जब कानों तक तनते नयन-बाण,
विरला ही होगा भाग्यहीन, मन विद्ध न जिस के मुग्ध प्राण!
मैं बैठा देखा करता था पनघट पर उन की लगी भीड़,
मन का पंछी खोजा करता था वहीं कहीं अपना सुनीड़।
वह भी उन सब-सी चंचल थी नटखटपन से सब भरे काम,
अंचल सरकाना, मुसकाना, गिरता घट लेना थाम-थाम।
मिल गयी मुझे मेरी सुषमा सावन की नव हरियाली-सी
क्या कहूँ कि गुनिया नटखट थी? या कहूँ कि भोली-भाली-सी।
थे यौवन की चढ़ती के दिन आशा-उमंग से हृदय भरा,
मैं तो सावन का अन्धा था सब मुझे सूझता हरा-हरा।
पर इन सब बातों को बीते हो चुके आज हैं तीन वर्ष;
मैं आज लौट कर आया हूँ, उर में नूतन उत्साह हर्ष।

धोती-तौलिया लिये अपनी कुइयाँ पर आ कर हुआ खड़ा ;
देखा कोई अहिरिनि आती हाथों में छूँछा लिये घड़ा ।
मैं गगरे की गरदन में फन्दा डाल रहा था झुका झुका ,
पद चाप पड़ गयी धीमी-सी मेरा मन भी कुछ रहा रुका ।
'अच्छे तो मलिकौ रह्यो ?" कहा उसने मैंने फिर कर देखा—
वह कौन ? आह, गुनिया ही थी मेरी स्मृति की धुँधली रेखा !
'हाँ अच्छा हूँ, तुम नीकी ना रह्य्', मैं भूला-सा बोला—
वह हँस कर ही रह गयी, हवा से पेड़ नीम का भी डोला ।
वह हँसी—आह ! वह कैसी थी, मेरा तो अन्तर गया काँप—
उस के मानस की गहराई मेरी आँखें कब सकी नाप ?
ढीला पीला अधखुला अंग मुँह पर चिट्टे फैली झाँई
आँखें गड्ढों में धँसी और सिकुड़न-सी कहीं-कहीं छायी ।
अब दो बच्चों की माँ थी वह, था भार गृहस्थी का उस पर ,
अब रंग-बिरंगी दुनिया से उस का मन जाता नहीं सिहर !
फिर एक यन्त्र-सी मुसका कर वह लगी घड़ा अपना भरने
मैं बोला 'लाओ मैं भर दूँ' वह हँसी, कहा, 'तुम दो रहने !"
फिर घड़ा उठा, गेंडुरी पर धर पल भर देखा मुझ को अपलक ,
कुछ कहा नहीं पर मेरा मन पा गया हृदय की एक झलक ।
उस सुघड़ सलोने मुखड़े पर अंकित थे कितने भाव नये :
जो नहीं आज तक सुने गये जो नहीं आज तक लिखे गये ।
छायी आँखों में चकाचौंध जैसे नभ का तारा टूटा—
मैं रहा सोचता, किस निर्मम विधि ने इस का यौवन लूटा ?
मुझ में तो अब भी यौवन है अब भी अंगों में एक पुलक ,
अब भी अधरों में अरुणाई, अब भी पुतली में एक चमक ,
पर यह गुनिया समवयस हुई दो ही दिन में इतनी जर्जर ,
किसने इस हरे-भरे उपवन को आह बना डाला ऊसर !
बीती की अगणित मधु-घड़ियाँ मेरी चल पलकें चूम गयीं—
क्षण भर में मेरे मस्तक में सौ-सौ स्मृतियाँ घूम गयीं ।
वह घड़ा खींचते समय याद आयी पनघट की प्रथम चुहल—
रस्सी छूटी तो घड़ा गिरा रह गयी विवश, उर में हलचल ।

जब धीरे-से पानी उछाल गीली कर डाली थी चुनरी—
जब सर से सरका था अंचल जब छलकी थी मधु की गगरी।
'तुम बड़े ढीठ हौ अब तुम्हरी कुइयाँ मा हम पानी न भरब !'
पर चढ़ी उमर में अपना मन अपने बस में रहता है कब ?
आ गयी याद अमराई भी यौवन के पथ पर प्रथम चरण,
जब आम लूटने के मिस अधरों से अधरों का हुआ मिलन—
जब भौहें तान मुझे गाली दे कर फिर हँस कर भागी थी—
मेरी माँ से कह देने की जब मीठी-सी धमकी दी थी।
उसके हित आम झोरने में मेरी तो बन जाती थी गत,
मैं आज बताऊँ भी कैसे यौवन था या थी वह आफ़त !
फिर छाँट-छाँट मीठे मीठे झोली के आम खिलाये थे,
जब हँसी-हँसी में हम अपने मन का रहस्य कह पाये थे।
जब फूटी पड़ती थी उस के गुदकारे गालों से लाली,
जब उसे देख बौरायी-सी फिरती थी कोयल मतवाली।
जब उड़ा ओढ़नी मलयज भी पल में कृतार्थ हो जाता था—
जब उभरे अंगों को छूने सावन घन घिर-घिर आता था।
जब मुसकाने में उमा, हँसी में ज्योत्स्ना, पुलकों में बसन्त,
अलसायी आँखों में सन्ध्या आलिंगन में सीमित अनन्त।
वे दिन सपने से गये कहाँ ? यौवन जीवन से गया हार।
यौवन ग़रीब का दो क्षण का, सन्ध्या के लेकिन पल अपार !
मैं आज जा रहा उन्मन-सा माँ की गोदी का छोड़ प्यार,
वह पथ पर फिर मिल गयी, कहा, 'चल दीन्ह्यो का ? मलिकौ जुहार !'

अपने मन से

तुम अपने सुख-दुख की गाथा अपने तक ही रक्खो सीमित !

दो बूँद तुम्हारी देख कहीं औरों का हृदय न भर आये—
तुम जलो, जलन ही जीवन है पर आँच न औरों को आये।

यों नहीं बहाया जाता है यह बूँद-बूँद का धन संचित—
तुम अपने सुख-दुख की गाथा अपने तक ही रक्खो सीमित।

उन्मादी सागर, व्यथित हृदय ले औरों का भी ध्यान रहे,
शशि-मुख में आकर्षण है पर नभ का भी कुछ सम्मान रहे।
छू जायँ न लहरों की छोरें बुझ जायँ न ये दीपक अगणित—
तुम अपने सुख-दुख की गाथा अपने तक ही रक्खो सीमित!

संयम की सिल छाती पर हो, अधरों पर विप्लव-गान लिखे—
अन्दर मँडराता रहे धुआँ बाहर चिनगारी तक न दिखे।
जीवन जीवन का साथी हो पीड़ा पीड़ित तक हो परिमित—
तुम अपने सुख-दुख की गाथा अपने तक ही रक्खो सीमित!

———

आभार

जिस-जिस से पथ पर स्नेह मिला उस उस राही को धन्यवाद!

जीवन अस्थिर अनजाने ही हो जाता पथ पर मेल कहीं,
सीमित पग डग, लम्बी मंज़िल तय कर लेना कुछ खेल नहीं।
दायें-बायें सुख-दुख चलते सम्मुख चलता पथ का प्रसाद—
जिस-जिस से पथ पर स्नेह मिला उस उस राही को धन्यवाद!

साँसों पर अवलम्बित काया जब चलते-चलते चूर हुई,
दो स्नेह-शब्द मिल गये, मिली नव स्फूर्ति, थकावट दूर हुई।
पथ के पहचाने छूट गये पर साथ-साथ चल रही याद—
जिस-जिस से पथ पर स्नेह मिला उस उस राही को धन्यवाद!

जो साथ न मेरा दे पाये उन से कब सूनी हुई डगर?
मैं भी न चलूँ यदि तो भी क्या राही मर लेकिन राह अमर।

इस पथ पर वे ही चलते हैं जो चलने का पा गये स्वाद—
जिस-जिस से पथ पर स्नेह मिला उस उस राही को धन्यवाद !

कैसे चल पाता यदि न मिला होता मुझ को आकुल अन्तर !
कैसे चल पाता यदि मिलते चिर-तृप्ति अमरता-पूर्ण प्रहर !
आभारी हूँ मैं उन सब का दे गये व्यथा का जो प्रसाद—
जिस-जिस से पथ पर स्नेह मिला उस उस राही को धन्यवाद !

———

शरद्-सी तुम कर रही होगी कहीं शृंगार

काँस-सी मेरी व्यथा बिखरी चतुर्दिक ,
बाढ़-सा उमड़ा हृदयगत प्यार ,
मेघ भादों के झमाझम झर रहे जो
शरद-सी तुम कर रही होगी कहीं शृंगार !

लुट रहा है
छुट रहा है
रुद्ध क्षुब्ध प्रवाह,
सुलगता आकाश, धरती पुलकमाना
आज हरियाली गयी पथ भूल ।
हत उमंगों का भला कोई ठिकाना ,
खो गयी सरि, खो गये दो कूल ।
तप्त अन्तर में घुमड़ती तरलता म्रियमाण,
गल गये पाषाण ।
वर्ष भर की वेदना सिमटी
कि लहराया अतल उन्मुक्त पारावार !
नील नभ से स्निग्ध निर्मल केश
गूँथे जा रहे होंगे सँवार-सँवार ,
पिस रही मेंहदी, महावर रच रहा ,
तारिकावलि-चन्द्रिका की हो रही होगी सहेज-सँभार !

मैं प्रतीक्षा-रत
धो रहा पथ ,
　　　　हंसमाला मुक्त बन्दनवार ,
　　　　शस्य चामर चारु, श्लथ शेफालिका का हार !
आ रही होगी उड़ाती नील अंचल
　　　　लोल लहरों का प्रशान्त प्रसार !
देखने को नयन-खंजन विकल चचल ,
　　　　वक्ष की धड़कन उभार-उतार ।
जपा-कुसुमों में तुम्हारा आगमन आभास ।
　　　　सागर से बुझी कब प्यास !
व्यर्थ चिन्ता, व्यर्थ क्रन्दन, अब रहस्य रहा न गोपन ,
　　　　रूप परिवर्त्तन तुम्हारे अमर यौवन का सतत आधार ।

एक इंगित के लिए ठहरें कुमद-वन ,
　　　　खिंच रहे हैं रजत-स्वर्णिम रश्मियों के तार ,
स्निग्ध शतदल के सुवासित स्तरों में ,
　　　हो रहे स्वच्छन्द भ्रमरों के लिए तैयार कारागार !
आज तन-मन में लगी है होड़ ,
देखता अनिमेष पथ का मोड़
दूर की प्रत्येक ध्वनि, प्रत्येक आहट ,
एक छलना, अचकचाहट
　　　पूछती फिर-फिर विफल मनुहार :
कब पकेंगे धान !
　　　कर रहे स्वीकार पाटल कंटकों के स्नेह का आभार ,
फूटने को कोरकों से गान !
कब ढलेगी दूधिया मुसकान गंगा-तीर
जब घर-घर बनेगी खीर ।
मन अथिर उद्भ्रान्त ,
चाहता एकान्त ,

एक क्षण के लिए चाहे
भेंट जिस से कर सकूँ मैं उपालम्भों का पुलक-उपहार!

आँखें नहीं भरीं

सीमित उर में चिर असीम सौन्दर्य समा न सका,
बीन मुग्ध बेसुध कुरंग मन रोके नहीं रुका,
यों तो कई बार पी-पी कर जी भर गया, छका।
एक बूँद थी, किन्तु कि जिस की तृष्णा नहीं मरी।
कितनी बार तुम्हें देखा पर आँखें नहीं भरीं।
कई बार दुर्बल मन पिछली कथा भूल बैठा,
हार पुरानी विजय समझ कर इतराया, ऐंठा;
भीतर ही भीतर था लेकिन एक चोर पैठा—
एक झलक में झुलसी मधु-स्मृति फिर हो गयी हरी।
कितनी बार तुम्हें देखा पर आँखें नहीं भरीं।
शब्द, रूप, रस, गन्ध तुम्हारी कण-कण में बिखरी,
मिलन साँझ की लाज, सुनहली ऊषा बन निखरी,
हाय गूँथने के ही क्रम में कलिका खिली, झरी।
भर-भर हारी, किन्तु रह गयी रीती ही गगरी।
कितनी बार तुम्हें देखा पर आँखें नहीं भरीं।

युग-सारथि गान्धी
(उन्यासीवीं वर्षगाठ पर)

हे अमर कृती, दृढ़व्रती,
शांति-समता के मुक्त उसास विकल!

दाम्भिक पशुता के खँडहर में
तुम जीवन-ज्योति मशाल लिये
चल रहे युगों की सीमा पर धर चरण अटल।
पदनिक्षेपों का भार वहन
किस में क्षमता सामर्थ्य शेष,
(दुर्गम वन, पर्वत-प्रान्त गहन)
गति का संयम, मन का साधन
रवि-चन्द्र निरखते निर्निमेष।
तुम अप्रतिहत चल रहे
विघ्न बाधाओं को कर चूर-चूर
अधिकार कर्म का लिये
प्राप्ति-फल-आशा से सर्वथा दूर।

मौलिक अभियान तुम्हारा यह युग के कर्मठ !
डगमग अति कोल कमठ
नप गये तुम्हारे तीन डगों में नभ-जल-थल,
नयनों में आत्म-प्रकाश प्रबल
जल गया निशा का अहंकार
तम तार-तार।
पलकें खोलीं,
खुल गये, प्रभा के स्वर्ण-कमल,
हिल गये अधर,
मच गयी दानवों में हलचल,
डोली सत्ता, सिंहासन थर-थर भू-लुंठित,
चरणों पर स्वर्ण-किरीट-मुकुट।

तुम वीतराग,
दे दिया अपर को महायज्ञ का महाभाग,
सपनों को सत्य बनाने में सोते-जगते सब समय व्यस्त
रह गये स्वयंहित रिक्तहस्त।

हे नीलकंठ,
पी गये गरल
हिंसा, ईर्ष्या, छल, दमन, अन्ध दानवता के;
दूधिया हँसी
धो रही पाप मानवता के।
जन-जन कण-कण की व्यथा-कथा से
पल-पल मर्माहत, जर्जर,
छलनी हो गया हाय अन्तर;
ऊमस, दावा लू-लपटों से, झुलसे प्राणी जब तब तरसे।
हे करुणाघन, तुम कहाँ नहीं कब-कब बरसे!
कलियाँ चटकीं, किसलय मरमर
ऊसर-उर्वर
नव-जीवन-लाली, शान्ति-सुधामय हरियाली
बरसी भू पर।
युग की विभीषिका से तापित
मन की जड़ता से सन्तापित
रूखा-सूखा जन-अन्तर-पट:
तुम अक्षयवट,
शीतल छाया में सँजो रहे
मानव-महिमा का शुक्ति-मुक्तिमय मंगल-घट।

आजानुबाहु,
कितने विकलांग अपंगों के अवलम्ब बने
कह वचन सुधा-सुख-स्नेह सने
छिगुनी पकड़े चल रहा डगमगाता युग-पथ
दो डग में सिमट गये इति-अथ,
बर्बरता के कुत्सित पाशविक प्रहारों में
घन घोर महाभारत की चीख-पुकारों में।
सारथी,
तुम्हारी ही लगाम का अनुशासन

उच्छृंखल चपल तरंगों को
शासित कर सकने में समर्थ !
देखा न सुना ऐसा अनर्थ !
पायेगा गति निश्चय ही अर्जुन-रथ ।
तुम पोंछ रहे भयभीत कपोलों के आँसू
दे रहे धरा विधुरा को निर्भय अभय-दान ।
हिंसा की गहन तमिस्रा में
बुझते दीपक की बाती को
फिर जिला गये दे कर अन्तर का स्नेहदान ।
नंगे फकीर ,
नग्नता निरीहों की ढक दी
ले ढाई गज का धवल चीर ;
कितनी द्रौपदियों की लज्जा
लो भरी सभा में बचा, वीर ;
दुर्मुख दुःशासन नत, अधीर ।
दिशि-दिशि में आह-कराह-हाय
आसुरी अनाचारों से फिर जर्जर, विषण्ण युग-धर्म-काय ,
नर में नरत्व का नहीं भाव
नासूर बन गया स्वार्थ, घृणा, कुत्सा, हिंसा का घृणित घाव ,
मनु की सन्तानों के आगे
श्रद्धा माता छटपटा रही ,
आहत अन्तर के टुकड़ों को
लोहू से लथपथ आँचल में
फिर बीन-बीन कर जुटा रही ।
पुरखों की संचित ममता पर
ओले बरसे, गिर गयी गाज ,
केवल तुम माता के सपूत
दे रहे दूध का मूल्य आज ।
अपनत्व, प्रेम का लगा दिया मरहम
क्षत-विक्षत अंगों पर ,

राका के सपने बिछा दिये
सागर की क्षुब्ध तरंगों पर।
चिर दग्ध, उपेक्षित जीवन में
शतदल का बिजना हाथ लिये
मधु मलय-वात बन तुम डोले,
हिंसक पशुओं के घावों को
नवनीत अहिंसा की उँगली से
सहलाया हौले-हौले।
गौतम की शान्त अभय-मुद्रा
मीठी मुसकानों में भर-भर
मृत को जीवित, दुर्द्धर्ष शत्रु को
मित्र बना डाला सत्वर,
गर्वोन्नत अम्बर झुका दिया
भीता धरती के चरणों पर।
वाणी में वंशी सम्मोहन
किल गया कालिया नाग,
झूमता ऐरावत,
युग कर बन्दन में वशीकरण।

श्रम शील भागीरथ,
आज न होता तपःपूत तुम-सा
खो जाता जग अपनी जड़ता के सम्भ्रम-सा
मनु की सन्तान सगर-सुत-सी
सिकता में हो जाती विलीन
जर्जर, पददलिता, दीन-हीन!
सारी संसृति बनती मसान।
घर-घर उलूक, कौवे, शृगाल,
जनपथ भयावने बियावान,
चट-चट-चट चिता सुलगती
गिरते कंकालों पर गिद्ध-श्वान,

खप्पर भर-भर योगिनी
अँतड़ियाँ पहने, करतीं रक्तपान !
तुम थे, जो स्वर्ग उतार सके पृथ्वी पर
जन-गंगा प्रवाह ,
तुम थे, जो मथ-मथ सिन्धु
सुधा दे गये, पी गये
विष, बड़वानल, जलन, दाह !

मेरे दधीचि ,
तुम बार-बार अस्थियाँ लुटाने को आतुर
ऐश्वर्य-मान-मद-मोह छोड़
जन-जन के लिए विधुर कातर
हिल्लोलित क्षुभित महासागर में आशा के कमनीय सेतु !
तुम क्रुद्ध गरुड की तृप्ति हेतु
जीमूतवाहनी आत्मदान
नागों का भी कर रहे त्रास
है निशा-दिवा का एक मान
कोई अपना न पराया
मुक्तात्मा की गरिमा भासमान !
तुम मूर्त्तिमान विश्वास अमर ,
युग की विराट चेतना तुम्हारे श्वास-श्वास में रही सिहर !

ऋत्विज ,
कब यज्ञ विधान तुम्हारा व्यर्थ हुआ ?
साधना तुम्हारी कब निष्फल ?
तुम जीवन की निर्मल परम्परा के वाहक
गंगा की कल-कल गति अविकल !
तुम अपने में ही पूर्ण, सिद्ध, शाश्वत सम्बल !

———

शम्भुनाथ सिंह

मुखरित कर मधुर गान

मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई !
बीते यह गहन रात ,
अब न बहे व्यथा वात ;
झुलसे जीवन-वन में
लहराये मधुर प्रात ;
रह न जाय बीती निशि का बन्धन कोई !

किरण उठे नींद त्याग ,
कुंज-कुंज उठे जाग ,
तरु-तृण, कण-कण में भर
जाये वह मधुर राग :
रह न जाय प्यास-विकल, बेसुध-तन कोई !

सौरभ ले बहे पवन ,
उड़ें विहग ले जीवन ,
कलिका-उर में स्पन्दन
भर दे अलि का गुंजन ;
रह न जाय गति-लय से रहित चरण कोई !

मुसकायें नयन-कमल
खुल जायें उर के दल
लहराये जीवन, हट
जायें तम के बादल ,
गायक ! भू पर उतार स्वर्ण-किरण कोई !
मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई !

—

निषेध

मेरे पीछे-पीछे न चलो !

मैं तोड़ रहा पिछले बन्धन ,
मैं भूल रहा पिछला जीवन ,
पिछले सुख-साधन, आराधन ,
मेरे अतीत की पहचानी मेरी छाया बन कर न छलो !
मेरे पीछे-पीछे न चलो !

मैं देख रहा जग का जीवन
मैं ढूंढ़ रहा जग-सुख-साधन ,
मेरे पथ पर मेरे आँगन
मेरे पिछले युग की रानी ! तुम दीप-शिखा बन कर न जलो !
मेरे पीछे-पीछे न चलो !

मेरे उर को निर्मम जानो ,
पिछले जीवन को भ्रम जानो ,
जग का ऐसा ही क्रम मानो :
इस ज्वाला में, ओ दीवानी ! कंचन-काया बन कर न जलो !
मेरे पीछे-पीछे न चलो !

———

मेरे मन कोई हो

मेरे मन, कोई हो भी तो !
मेरे यौवन के प्याला में
मेरी जीवन-मधुशाला में
जागेगा कौन, अरे भोले ! चिर-यौवन कोई हो भी तो !
मेरे मन, कोई हो भी तो !

मैं दीपक बन जलता प्रति-पल
निज ज्वाला से भर-भर अंचल ,
उर शीतल कौन करे मेरा ? चिर-चन्दन कोई हो भी तो !
मेरे मन, कोई हो भी तो !

मेरे अन्तर में राग ललक
अकुला कर उठते छलक-छलक ,
मैं युग-युग किस में लय होऊँ ? चिर-जीवन कोई हो भी तो !
मेरे मन कोई, हो भी तो !

है छलक रहा मेरा चुम्बन
अँगड़ाई लेता, उर-स्पन्दन
मैं किस बन्धन में बँध जाऊँ ? चिर-बन्धन कोई हो भी तो !
मेरे मन, कोई हो भी तो ।

बहते जाते जल कर प्रति-क्षण
इन नयनों के पागल हिम-कण ,
मैं राधा बन बन किस पर मिट लूँ ? मन मोहन कोई हो भी तो !
मेरे मन, कोई हो भी तो !

तुम्हारा क्या

तुम्हारा क्या, तुम्हारा क्या, तुम्हारा क्या ?

किसी की आँख के सपने अगर टूटे ,
किसी के प्राण से अपने अगर छूटे ,
किसी के प्यार के मधुघट अगर फूटे ,
तुम्हारा क्या, तुम्हारा क्या, तुम्हारा क्या ?
दुखी मन व्यर्थ तुम आँसू बहाते क्यों—
तुम्हें ही है मिला सुख का सहारा क्या ?
तुम्हारा क्या, तुम्हारा क्या, तुम्हारा क्या ?

मिले यदि प्राण बँध कर स्नेह-बन्धन में
बही यदि हास की धारा नयन-मन में ,
खिली नव-दामिनी यदि प्यास के घन में ,
तुम्हारा क्या, तुम्हारा क्या, तुम्हारा क्या !
दुखी मन तुम अधर पर हास लाते क्यों—
तुम्हें भी है मिला मधुमय किनारा क्या !
तुम्हारा क्या, तुम्हारा क्या, तुम्हारा क्या !

जला यदि प्यार की ज्वाला जली दुनिया ,
तपा यदि स्वर्ण की काया गली दुनिया ,
मधुर मधुधार में यदि बह चली दुनिया ,
तुम्हारा क्या, तुम्हारा क्या, तुम्हारा क्या ,
दुखी मन प्यार-पथ पर पग बढ़ाते क्यों—
किसी ने भूल कर तुम को पुकारा क्या !
तुम्हारा क्या, तुम्हारा क्या, तुम्हारा क्या !

——

पुलकन अमर हो

रोम तारों में बँधी पुलकन अमर हो !

एक क्षण का मधुर दर्शन
नयन-घट की स्निग्ध छलकन
युगल उर में युगल जीवन-मिलन का बन्धन अमर हो !
रोम-तारों में बँधी पुलकन अमर हो ।

पलक-घूँघट में लजायी ,
स्नेह के उर में समायी ,
चार आँखों की चुरायी-सी चपल चितवन अमर हो !
रोम-तारों में बँधी पुलकन अमर हो ।

हृदय के मधु भाव शत-शत
निकलते कब लाज प्रतिहत !
मूक भाषा, हृदय-निर्गत यह अधर-कम्पन अमर हो ।
रोम-तारों में बँधी पुलकन अमर हो ।

वेदना-घन का घुमड़ घिर
बरस पड़ना नयन में फिर ,
कसक के बन्दी हुए चिर प्राण की सिहरन अमर हो ।
रोम-तारों में बँधी पुलकन अमर हो ।

विरह-सिंचित प्रेम-अंकुर
पल्लवित हो जाय आतुर ,
स्वप्न के भी मिलन में उर का चपल स्पन्दन अमर हो !
रोम-तारों में बँधी पुलकन अमर हो ।

प्यार के दो फूल

प्यार के दो फूल हैं !

हम मलय के वृन्त पर मधु-मास के वन में पले हैं ,
साधना की होड़ में स्वर की सुरभि बन उड़ चले हैं ,
जीत के दो फूल हैं प्रिय, हार के दो फूल हम हैं !

ओस के दो कण किरण के पन्थ पर आ मिल गये हैं ,
दो दिशाओं से गगन की डाल पर आ खिल गये हैं ।
हास के दो, नयन की जल-धार के दो फूल हम हैं !

कूल पर थे, था तभी मझधार ने हम को पुकारा ,
आ गये मझधार में तो याद आता है किनारा ,
कूल के दो फूल हैं मझधार के दो फूल हम हैं !

बह रहे हम स्वप्न-लहरों में स्वयं को ही मिटाते ,
प्राण-बन्धन में बँधे भी दूर होते, पास आते ,
तृप्ति के दो, प्यास-पारावार के दो फूल हम हैं ।

प्यार के दो फूल हम हैं ।

मैंने क्या किया था ?

मुक्ति-कारा की अचल प्राचीर ! मैंने क्या किया था !

अर्चना मैंने सदा की साधना मैंने सदा की ,
प्राण के मृदु बन्धनों की कामना मैंने सदा की ,
पर मिली यह शून्य की जंजीर ! मैंने क्या किया था !

विश्व में मैंने दिये भर वन्दना के गीत के स्वर
रिक्तता भरने चला निज बन्धनों की प्यास लेकर
मुक्ति पर मुझ को मिली बेपीर ! मैंने क्या किया था !

शून्य में निर्बन्ध जीवन, उड़ रहा बन तूल-सा घन ,
गति अनियमित, पथ अनिश्चित भ्रान्ति ही अब साधना-धन ,
उर्मियाँ मन की न पातीं तीर ! मैंने क्या किया था !

मुक्ति-कारा की अचल प्राचीर ! मैंने क्या किया था !

समय की शिला पर

समय की शिला पर मधुर चित्र कितने
किसी ने बनाये, किसी ने मिटाये !

किसी ने लिखी आँसुओं से कहानी,
किसी ने पढ़ा किन्तु दो बूँद पानी ।
इसी में गये बीत दिन जिन्दगी के—
गयी घुल जवानी गयी मिट निशानी ।

विकल सिन्धु से साध के मेघ कितने
धरा ने उठाये, गगन ने गिराये ।

शलभ ने शिखा को सदा ध्येय माना—
किसी को लगा यह मरण का बहाना ।
शलभ जल न पाया शलभ मिट न पाया,
तिमिर में उसे पर मिला क्या ठिकाना ।

प्रणय-पन्थ पर प्राण के दीप कितने
मिलन ने जलाये, विरह ने बुझाये !

जलधि ने गगन-चित्र खींचा नयन में,
उतरती हुई उर्वशी देख घन में,
अचल किन्तु चलचित्र थे हो न पाये—
कि सहसा बुझी रूप की ज्योति क्षण में ।

जलद-पत्र पर इन्द्र-धनु-रंग कितने
किरण ने सजाये, पवन ने उड़ाये !

भटकती हुई राह में वंचना की
रुकी श्रान्त हो जब लहर चेतना की,

तिमिर-आवरण ज्योति का वर बना जब
कि टूटी तभी शृंखला साधना की।

नयन-प्राण में रूप के स्वप्न कितने
निशा ने जगाये, उषा ने सुलाये !

सुरभि की अनिल-पंख पर मौन भाषा
उड़ी, वन्दना की जगी सुप्त आशा,
तुहिन-विन्दु बन कर बिखर पर गये स्वर
नहीं बुझ सकी अर्चना की पिपासा।

किसी के चरण पर वरण फूल कितने
लता ने चढ़ाये लहर ने बहाये।

तुम्हें लहर पुकारती

तुम्हें लहर पुकारती !
न पास स्वर्ण की तरी, न पास पर्ण की तरी,
न आस-पास दीखती कहीं समुद्र की परी,
अपार सिन्धु सामने मगर न हार मानना,—
असीम शक्ति बाहु में अनन्त स्वप्न के व्रती !
तुम्हें लहर पुकारती !

न पास ज्योति की किरण, न दूर मृत्यु के चरण,
मिटा विभाग काल का मुँदे कि काल के नयन,
तिमिर अभेद्य सामने मगर न हार मानना,—
सहस्रफण समुद्र लो रहा उतार आरती !
तुम्हें लहर पुकारती !

तड़प रहे विनाश-घन न दूर है विनाश-क्षण ,
सवेग डोलती धरा सशब्द काँपता गगन ,
प्रलय-प्रवाह सामने मगर न हार मानना—
अजेय शक्ति साँस में महान कल्प के कृती !
तुम्हें लहर पुकारती !

अशब्द हो चला गगन, न साँस ले रहा पवन ,
विलीन हो चली धरा, ठहर न पा रहे चरण ,
विनष्ट विश्व सामने मगर न हार मानना—
नवीन सृष्टि स्वप्न ले तुम्हें लहर निहारती !
तुम्हें लहर पुकारती ।

मानव का तन मानव का मन

उनका भी है मानव का तन !
निर्मित करते जो भाव-नगर
भू पर भवनों के लिख अक्षर ,
झोपड़ियों में वे जाते मर !
जो पीते रहते जीवन-भर
निज रक्त, स्वेद, आँसू के कण—
उन का भी है मानव का तन !

चित्रित करते जो भू-आँगन
हलकी तूली से कर अंकन ,
भूखों वे दे देते जीवन—
जो जीते रहते जीवन-भर
दुनिया को देने को भोजन—
उन का भी है मानव का तन !

संचित करते हैं जो प्रति क्षण
भू के अन्तर में बिखरा धन,
वे बन जाते मानव-भोजन—
जो करते रहते जीवन-भर
अपना ही अस्थि-चर्म चर्वण—
उन का भी है मानव का तन !

* *

इन का भी है मानव का मन !
ये कठपुतली से नारी-नर
हिलते-डुलते रहते भू पर
ज्यों मुग्ध मन्त्र-कीलित विषधर,
जो युग-युग की परवशता में
हैं भूल गये करना दंशन !
इन का भी है मानव का मन !

ये चित्र-लिखित से नारी-नर
चलते-फिरते रहते भू पर
बन मूक बधिर ज्यों जड़ पत्थर
जो भूल गये परवशता में
अपनी, करना विद्रोह-सृजन !
इन का भी है मानव का मन।

ये प्राणहीन से नारी-नर
औरों से संचालित भू पर
चलते ज्यों कल-पुर्जे बन कर
अपनी युग-युग की परवशता
में भूल गये जो हास-रुदन—
इन का भी है मानव का मन !

———

गतिशील मानव

दो हाथों वाले मानव हम, दो पाँवों वाले मानव हम।

बढ़ते आये हम तोड़-मोड़ युग-युग की सीमा के बन्धन,
यह गति न हमारी बन्द हुई आये कितने उत्थान-पतन,
जलते आये अंगारों से हम चलने वालों के लोचन,
कर सकीं न पथ की बाधाएँ जलने वालों का तेज सहन।
निज भाग्य-विधाता मानव हम, जग के निर्माता मानव हम।

पदचिह्न काल की छाती पर अंकित करते हम अग्नि-चरण,
बढ़ते आये बन प्रगति-दूत ज्योतित करने पथ का कण-कण,
निज जय ध्वनि से मुखरित करने आये हम अम्बर का आँगन,
निज वाणी से करने आये वसुधा में मधुर सुधा-सिंचन।
नव जीवन-द्रष्टा मानव हम, नव-जीवन-स्रष्टा मानव हम।

तम की आँखों में हमने ही भरदी थी पहली ज्योति-किरण,
प्रस्तर के टुकड़ों को हमने दे मन्त्र कर दिया शक्ति-वरण,
इस वसुन्धरा से बल पूर्वक मणि-कंचन-धन कर लिये हरण,
नभ की साँसों से शक्ति मिली सागर का कर डाला मन्थन,
हैं शक्ति-पुजारी मानव हम, सुख के अधिकारी मानव हम।

हम ने युग के कोरे पट पर था किया सभ्यता का अंकन,
जिस की छाया में ले सुख की साँसें बढ़ता आया जीवन।
अपनी ही सत्ता के प्रतिनिधि ईश्वर का भी कर लिया सृजन,
हम ने अपनी रक्षा के हित प्रस्तुत कर लिये नये साधन।
निज गति संचालित मानव हम, निज गति-प्रतिपालित मानव हम।

हम ने राज्यों को जन्म दिया भावी सुख का ले सम्मोहन,
हम ने धर्मों को रूप दिया जाने ले कैसा आकर्षण,
हम ने ही कवि बन काव्य लिखे हम ने ही रच डाले दर्शन,
हम ने केवल इतना सोचा ये सभी हमारे सुख-साधन।
नित आशा सम्बल मानव हम, युग-युग से चंचल मानव हम।

जाने कितने साम्राज्य बने इंगित में जब उठ गये नयन ,
जाने कितने साम्राज्य मिटे जब हम ने किया सिंह गर्जन ,
भय मान सिहरने लगी प्रकृति उसका यों किया मान-मर्दन ,
हम जीर्ण-पुरातन के द्रोही हम से निर्मित होता नूतन ।
जीवन के प्रेमी मानव हम, नूतन के प्रेमी मानव हम ।

फिर पलट गयी युग की काया आया कुछ ऐसा परिवर्त्तन ,
मानव हम बन्धन-ग्रस्त हुए करते थे जो युग पर शासन !
हम दास बने उन के, हम से था किया जिन्हों ने रूप ग्रहण—
शृंखला-बद्ध चलते आये ले बुझे नयन निष्प्रभ आनन ।
अपने को भूले मानव हम, सपने में भूले मानव हम !

फिर युग बदला दुनिया बदली हम में फिर जाग उठा जीवन ,
तानाशाही के शोणित से हम करने लगे स्वयं तर्पण ,
इस भाँति हमारे जीवन में होते आये नव आवर्त्तन ;
हम ने सीखा करना शासन सीखा करना विद्रोह वहन ।
दुःशासन-द्रोही मानव हम, बन्धन-विद्रोही मानव हम ।

हम सहन नहीं करने वाले शृंखला-बद्ध युग का क्रन्दन ,
हम वहन नहीं करने वाले क्षण-भर भी मुर्दों का जीवन ,
जलती आँखों से भस्म बना देंगे जग का यह जीर्ण भवन—
अब अधिक न होने देंगे हम भूतल पर उछृंखल नर्त्तन !
प्रलयंकर शंकर मानव हम, अति-भीम भयंकर मानव हम ।

जादू के पुतले मानव हम, जीवन के पुतले मानव हम ,
हैं प्रलय प्रभंजन, मत समझो हैं दुबले-पतले मानव हम ;
जागृति के पुतले मानव हम नव गति के पुतले मानव हम —
निश्चय ही प्रलय मचा देंगे जिस क्षण भी मचले मानव हम ।
मर मिटने वाले मानव हम, जी उठने वाले मानव हम !

दो हाथों वाले मानव हम, दो पाँवों वाले मानव हम !

——

तोड़ो कारा

तोड़ो कारा, तोड़ो !
टूटे लो जग-बन्धन ,
जाग्रत अब जड़-चेतन ,
तुम भी जड़-बन्धन की ममता-माया छोड़ो !
तोड़ो कारा, तोड़ो !

कण-कण में नव जीवन
करता युग अभिनन्दन
तुम भी बिछुड़े-टूटे मावन-मन को जोड़ो।
तोड़ो कारा तोड़ो !

बीते निशि-तम के क्षण ,
बीते वे भ्रम के क्षण ,
तुम भी जन-गन-मन के भ्रम का विषघट फोड़ो।
तोड़ो कारा, तोड़ो !

करता जग नव-सर्जन
भूला पीड़ा-क्रन्दन
तुम भी जन-जीवन की उलटी धारा मोड़ो !
तोड़ो कारा, तोड़ो !

——

एक क्षण

काँपती पुकार मौन हो गयी—
चीर अन्धकार मौन हो गयी।

मन्द गन्ध-सी लहर पुकार की
काटती अतीत के कगार को ,
वह पुकार स्वप्न-लीन प्यार की
छेड़ती हुई मरे बहार को—
पास आ हृदय-समीप सो गयी—
हो अचेत, चेतना डुबो गयी ।
काँपती पुकार मौन हो गयी ।

एक क्षण अतीत गीत हो उठा ,
एक क्षण कि देशकाल मिट गये ,
वर्त्तमान-सा अतीत हो उठा ,
पास-दूर के सवाल मिट गये ,
नींद सो गयी पुकार खो गयी
प्यास-सिन्धु बीच धार खो गयी ।
काँपती पुकार मौन हो गयी ।

प्रीति-धारा

धारा-सी प्रीति बह रही ,
बन कगार गीति रह रही ।

देते ये ध्वनित गान
पद-पद पर नया ज्ञान
जीवन-सरि प्रवहमान
प्राण की प्रतीति कह रही ।
धारा-सी प्रीति बह रही ।

काट रहा जीवन-रस
आयु के गिने दिन दस,
काल की भुजा में कस
बालू की भीत ढह रही।
धारा-सी प्रीति बह रही।

क्षण-क्षण यह अबुझ चाह
खोज रही नयी राह,
तृप्ति लिये अमिट दाह
प्यास की अनीति सह रही!
धारा-सी प्रीति बह रही।

रजनीगन्धा

दूर निशा के कुंजों में छिप,
रजनी गन्धा! न पुकारो मुझ को।

मादकता यों न भरो,
गन्ध अन्ध यों न करो,
बरबस तुम तन-मन की
चेतनता यों न हरो,
यों न सुरभि की ज्वाला सुलगा कर
लपटों के बीच उतारो मुझ को।

स्वप्न-विहग मैं, पल-भर
कल्पना-तरी ले कर
किरणों से खेल रहा

नभ-सागर बीच उतर ,
दूर किसी तम-गह्वर में छिप कर
सुधियों के तीर न मारो मुझ को ।

मौन सुरभि के क्रन्दन
फैलातीं तुम वन-वन ,
मेरे क्रन्दन केवल
सुनता है नील गगन ,
मैं भी गल कर जल-धारा बनता
प्रस्तर-प्रतिमा न विचारो मुझ को ।

पथ में

जब-जब मुझे ध्यान आया तुम्हारा
मुझ को नयी मंजिलों ने पुकारा ।

जीवन रहा राह, पाथेय पथ-दाह ,
शीतल मिली किन्तु सुधि भी सघन छाँह ,
जब-जब बना कल्पना-कूल कारा ,
मझधार में प्राण तुमने उतारा ।

भूली प्रणय-पीर, रीता नयन-नीर ,
संघर्ष बनता गया द्रौपदी-चीर ,
जब हार कर बन गया आत्म-हारा ,
तुमने मुझे चेतना-तीर मारा !

जब स्वप्न का फूल मिट कर बना धूल ,
जग यदि था और तुम को गया भूल ,
तुम ने नहीं किन्तु मुझ को बिसारा ,
देती रहीं नित्य गति का सहारा !

तुम तृप्ति बन प्यास में आ गयीं पास
था जब लगा टूटने आत्म-विश्वास ,
जब-जब लगे पाँव कसने किनारा ,
तुम स्वप्न बन भर गयीं शक्ति-धारा !
जब-जब मुझे ध्यान आया तुम्हारा ,
मुझ को नयी मंज़िलों ने पुकारा !

मन बेचारा

तुम्हें बुलाता हारा
मन बेचारा !

जग के संकुल पथ पर
बढ़ा अकम्पित पग धर ,
काँटों ने बिलमाया ,
उलझ-उलझ सुलझाया
निज दुकूल ,
जिस में सुधियों के बाँधे तुमने फूल ,
मेरे साथ-साथ इस पथ पर
चलता, मुझ में गति भर ,
छाया बन कर
मधुमय प्यार तुम्हारा ।
फिर भी कितनी दूर दूर
ओ जीवन की ध्रुव-तारा !
तुम्हें बुलाता हारा
मन बेचारा !
तुम्हें भुलाता हारा
मन बेचारा !
पथ अति दुर्गम

तन श्लथ, दिग्भ्रम ,
निद्रालस ये लोचन
जिन में जाग रहे करुणा घन ,
दो मुक्ता-मंडित सीपों से नयन—
बँधे-से खंजन ।
मैं अभिशप्त ,
राह के सूने रंगमंच का नटवर ,
निभा रहा भूमिका भयंकर
अन्तहीन अति दुर्भर ।
अन्धकार का सागर
डूबे धरती-अम्बर ;
अतल गह्वरों से रह-रह कर
आ कर ऊपर तल पर
तैर रहे ज्योतित मछली से मन्थर
युगल नयन
जल के जुगनू-से
जलते-बुझते रह-रह ;
मैं बढ़ता, तैरता धार में बह-बह
जाता निकट कभी ,
हो जाता दूर कभी
दुख दुस्सह ;
यह जीवन या जीवन-नाटक
तुम ने कभी विचारा ?
तुम्हें सुलाता हारा
मन बेचारा !

तुम्हें सुलाता हारा
मन बेचारा !
जिस का कहीं न इति-अथ

यह अनन्त नीरव पथ ,
फिर भी जिस पर प्रति-पल
करता है अतीत कोलाहल ;
मुखरित प्राणों का वन ,
बजती रोम-रोम से मुरली निस्वन
वर्त्तमान से कितना सुखद पलायन !
पर धिक्, रे मन ,
यदि चरणों में है गति
उर में कम्पन
तो अतीत क्या बन सकता है बन्धन ?
ओ निर्बन्ध ,
स्पर्श तो कर लो इस क्षण
सुप्त प्रिया के लोचन ,
धीरे-धीरे पाँव दबा कर
जाओ प्रिया-कक्ष में—
सुमन-रचित शय्या पर
वह देखो वह लेटी बाला
चित्र-सरीखी—
पर क्या
वह तो जाग रही है ,
मेरे अन्तर की प्रतिमूर्त्ति ,
हृदय की स्फूर्त्ति ,
मुझे निरन्तर जो रखती है जाग्रत ,
कर्म-निरत जो—
अन्य नहीं यह, वही वही है !
ओ मुरझायी कली
स्वप्न की छली !
सुरभि अपनी दे-दे कर
भरती क्यों मुझ में गति की बेकली ?
गति मेरी वरदान ,

याद पर तुम्हें
तुम्हारी अनभूली पहचान।
स्वर मेरा निर्बन्ध
बन्धमय किन्तु तुम्हारे गान!
बहुत हो चुका
अपलक निद्राहीन तुम्हारा
बहना प्रति-पल
मेरे जीवन-सागर की लहरों पर चंचल।
अब भी अपने पलक
करो तो बन्द,
स्वप्न का शीतल मिले किनारा!
तुम्हें सुलाता हारा
मन बेचारा!

——

जन देवता

कब तक तुम मौन रहोगे, ओ जन-देवता!
कब तक तुम मौन रहोगे, ओ गण-देवता!

हो गया प्रभात रात घुल गयी,
ज्योति हँसी, दिशा-दिशा धुल गयी,
तम से अवरुद्ध राह खुल गयी,
फिर भी इस स्वप्न-धार में तन्द्रालस लिये
कब तक इस भाँति बहोगे ओ जन-देवता!

रात गयी पर खुली न अर्गला,
मुक्ति मिली पर कटी न शृंखला,
बन्दिनी अभी विमुक्त-कुन्तला;

अपने ही घर में पर यह नवीन दासता—
कब तक चुपचाप सहोगे ओ जन-देवता ?

गगन मिला पर न पंख खुल रहे ,
किरण मिली पर न कमल खिल रहे ,
पन्थ मिला पर न चरण हिल रहे ;
दीप्त सजल नयनों से निज असीम वेदना—
कब तक तुम मौन रहोगे ओ जन-देवता ?

कब तक यह अमृत, यह प्रवंचना ?
कब तक यह करुण अश्रु-अर्चना ?
कब तक यह मोह - मरण - साधना ?
क्रान्ति-शान्ति-समता आनन्द-हेतु क्या कहो ,
प्रलयंकर रुद्र न होगे ओ जन-देवता ?

जन-धारा

जय जय जय जन-धारा !
जय जन - जीवन - धारा !
आदि काल में जड़ ने जब कल्पना-पंख फैलाये ,
सपनों के नीहार-जाल सूने नभ में घिर आये ।
यह तम का अधिकार कि जिसमें जीवन खोया-खोया ,
धरती के तममय उर में अति क्षुद्र बीज ज्यों सोया ।
द्वन्द्वों का वह खेल कि जैसे इन्द्रजाल की माया ,
जड़ घन के परदों पर चेतन इन्द्र-धनुष लहराया ।
ओढ़े किरणों को दुकूल चेतना-परी मुसकायी ,
जाग उठा जड़ ले कर परिवर्तन की मधु अँगड़ाई ।
सृष्टि-स्वप्नगर्भा घनमाला ले विद्युत का कम्पन ,

करने लगी निरन्तर धरती पर जीवन का वर्षण
पुरुष प्रजापति ने सृजन के महामन्त्र के द्वारा ,
जिसे बहाया, तोड़ प्रकृति के अन्ध-गर्भ की कारा ।
जय जीवन की धारा !

जड़-चेतन का अमर द्वन्द्व वह, वह अन्तर का मन्थन !
नर्तन, आकर्षण, संघर्षण बने रूप-परिवर्तन ।
निखरा नव गुण-गन्ध लिये नव-नव रूपों का कंचन ,
आत्म-ज्योति से हुआ प्रकाशित तमस्-भरा अन्तर्मन !
जीवन की संज्ञा जड़-चेतन, तम-प्रकाश का गुम्फन ;
खिली रूप की पृष्ठ भूमि में छवि अरूप की शोभन !
महाशून्य की छाया में नव-सृष्टि चन्द्रिका छायी ,
कहीं ज्योति-कलि खिली, अन्ध-उर कहीं पड़ी परछाईं ।
अमर चेतना की किरणों ने जिस को चूम जगाया ,
एक द्विपद बन कर सहस्र पद कर्म भूमि में आया !
संकल्पों की शक्ति लिये, तर्कों का लिये सहारा
बही अमृत की निर्झरिणी, जिस का मन कभी न हारा !
जय जन-जीवन-धारा !

प्रथम कल्प के अरुणध्वज-शृंगों से जो गति फूटी ,
उस सरिता की धारा शत कल्पों में कभी न टूटी ।
महाकाल के जटाजूट में खोयी यह जन-गंगा ;
खोयी कभी युगों के गिरि-गह्वर में चपल तरंगा ।
मौन मरण ने बार-बार जीवन की गति को घेरा ,
प्राण-तरंगित ज्योति-शिखा को डँसने लगा अँधेरा ।
नव विकास के व्रती, प्रगति की गंगा के अभिमानी ,
जन-जीवन के अमर साधकों ने पर हार न मानी !
खुला पुनः अन्तःसलिला का उत्स गिरि-शिखर तल से ,
ज्योतिर्मय स्वर जल-तरंग के उठे धरा-अंचल से ।

जिसे भगीरथ ने विवेक के धरती बीच उतारा,
स्वप्नों के दीपों से जिस का गतिमय रूप सँवारा!
जय जन - गंगा - धारा!

वह विकास का चरम बिन्दु, वह भौतिकता की माया
मानव ने निज कर्म-कुशलता से सुरत्व-पद पाया।
वह नव-नव आनन्द-महोत्सव, सत-चित की अवहेला!
वह विलास की अन्तिम सीमा, चिर-यौवन का मेला!
जीवन-धारा की अजस्र गति बँधी अगति-बन्धन में,
सतत विश्व - दर्शन की प्रतिभा लगी आत्म-पूजन में।
गतिमय जीवन की धारा पर अधिक नहीं रुक पायी,
निम्नमुखी हो देव-सृष्टि की धरती बीच समायी।
हुआ प्रलय-विस्फोट, क्रान्ति-ज्वालामुखियों का गर्जन,
महानाश की स्मृति-सा जीवित कौन अकेला वह जन?
वह मनु, सृष्टि-बीज, एकाकी, जीवन का ध्रुवतारा,
जिस से सृष्टि-चक्र फिर गतिमय हुआ प्रवर्तित प्यारा।
जय गतिमय जन-धारा!

मनु की प्रजा बनी शतधा बिखरी दिशि-दिशि में भू पर,
वन-गिरि-गह्वर, समतल में, हिम मण्डित ध्रुव के ऊपर।
यह मानवता की सहस्रधारा अनन्त अविनाशी
बनने चली विश्व-संस्कृति का जल-निधि जय विश्वासी।
देशों में जन बँटे, बनीं सरि-सागर की सीमाएँ
धरती बँटी, एक नभ में पर सब के स्वर लहराये।
धर्म जाति रंगों-वर्गों की बनी नयी दीवारें
पर विराट जन-चरण न पथ की बाधाओं से हारे।
मिली एक ही नील गगन से सबको स्वप्निल छाया
हुई एक जीवन-धारा से सब की शीतल काया।
जब-जब अन्यायों ने जनता को पथ में ललकारा
रावण, नीरो, वेणु सभी का टूटा भाग्य-सितारा!
जय अजेय जन-धारा!

इतिहासों के द्वार खुले, बँध गया काल बन्धन में ,
स्वागत किया प्रकृति ने मानव का निज रंग-भवन में ।
खिला ज्ञान का कमल, एक पर एक खुली पंखुरियाँ ,
लिये सत्य-उपहार हुईं साकार स्वप्न की परियाँ ।
उड़ी कल्पना दूर क्षितिज में सतरंगे पर खोले ,
गीतों के शत दीप झील की चपल लहर पर डोले ।
हुई साधना-भूमि प्रकाशित मानस की किरणों में ,
भींग उठा धरती का अन्तर शीतल सुधाकणों से ।
भरा इन्द्र धनुषी चित्रों से जन-गन-मन का आँगन
बँधा स्वरों से मन्द्र-तार बन हृदय-प्राण का कम्पन ।
ले जिससे रस-रंग कला ने अपना रूप निखारा
जिसके कूलों के अंचल में मिटा क्लान्ति-श्रम सारा ।
जय जन-संस्कृति धारा !

पर वह गति की हार, पराजय जन के विश्वासों की ,
वह कलंकमय कथा लोक के उज्वल इतिहासों की ।
जन-धारा की शक्ति व्यक्ति ने बाँधी अपने कर में ,
बदल गयी वह वेगवती धारा अशक्त निर्झर में ।
कर्म-रूढ़िमय तर्क-जाल में फँसी चेतना जन की ,
साध्य धर्म बन गया साधना शोषण-उत्पीड़न की ।
अर्थ-काम की दीपशिखा में जले शलभ जीवन के ,
खिले ज्वाल देशों-वर्गों के हिंसामय घर्षण के ।
वह दुख-भरी प्रवृत्ति न जिस में कहीं मुक्ति की छाया ,
धन-चित्रों के इन्द्रजाल-सी जिस की मोहक माया ।
जिसे बुद्ध ने किया प्रवर्तित धर्मचक्र कह न्यारा ,
सूली पर चढ़ कर ईसा ने जिस का नाम पुकारा—
जय करुणा की धारा !

बही काल-पथ पर फिर वह धारा गति की अभ्यासी
देश-युगों की सीमाओं को तोड़ अमरता-प्यासी ।

वह अबाध अभियान चेतना की स्वर्णिम धारा का !
वह नव-जीवन, वह मानस-बल दुखी सर्वहारा का !
जड़ प्रतिमा बन किन्तु हुए पूजित चिन्मय संन्यासी,
तमस्-घनों में जन मंगल किरणें खोयीं अविनाशी।
फिर पापों के बहे प्रभंजन चला चक्र शोषण का,
व्यक्ति-वर्ग के संघर्षों में लुटा भाग्य जन-गन का।
बँधी अर्थ के भुज-बन्धन में कुक्त कला कल्याणी,
बन्द हुई महलों में संस्कृति जन-जन की पहचानी !
रुका न अवरोधों में फिर भी जिस का स्वप्न दुलारा,
जिसने अन्धकार में भी किरणों का पंख पसारा—
जय जन-जीवन धारा !

वे तृष्णा की प्रबल आँधियाँ, तमस्-घनों का गर्जन,
जिन की प्रलयंकर लीला से सिहर उठा जन-जीवन।
देशों का इतिहास बन गयी अत्याचारों की जय,
लिखी गयी कब कथा किन्तु जन-जीवन की ज्योतिर्मय ?
पीत स्वर्ण की छाया में छिप गयी रक्त की लाली,
आदर्शों के नील गगन में घिरीं निशाएँ काली।
वह भीषण उन्माद कि धरती काँपी जिस के भय से,
मिटे-बने शत राज-राष्ट्र शत झंझावात-प्रलय से।
राज-छत्र तन गया चक्रवर्ती का वन-खँडहर में,
मुरझाये प्राणों के शतदल सूखे जीवन-सर में !
क्रूर बर्बरों ने विषमय शर जिस के उर में मारा,
काल-सर्प-सी जो फिर-फिर जी उठी और फुफकारा—
जय अनन्त जन-धारा !

अर्द्ध निशा में पर धरती-पुत्रों के सपने टूटे,
नये ज्ञान, विज्ञान, कलाओं के नव अंकुर फूटे।
नव-नव आविष्कार और वह कर्मों का कोलाहल,
प्रकृति पराजित हुई, अश्व बन गये धुएँ के बादल।

होने लगा लौह-चक्रों से महासिन्धु का मन्थन ,
प्रकट हुए नव-नव रत्नों से नये देश, नव-नव जन !
सामन्ती दुर्गों में पुतलीघर हो उठे निनादित ,
नयी सभ्यता से धरती का आँगन हुआ प्रकाशित ।
पिंजर-बद्ध बन गया बेबस राजसिंह अभिमानी ,
पूँजी लिखने लगी नये शोषण की नयी कहानी ।
जिन महलों में अस्थि-रक्त के लगे ईंट औ' गारा
धधक उठे वे, दबा नींव में धधक उठा अंगारा !
जय जाग्रत जन-धारा !

राजनीति की मृत्यु-मशालों से जल उठीं दिशाएँ ,
महासमर-शोषण-उत्पीड़न बन छायीं विपदाएँ ।
साम्राज्यों की ध्वजा हिली फिर जन की उछ्वासों से ,
विजय स्तम्भ ढह गये प्रजा के प्रबल अट्टहासों से ।
लगी टूटने युग-युग के बन्दीगृह की प्राचीरें ,
बढ़े क्षितिज के विवर फोड़ विप्लव-घन धीरे-धीरे ।
दिशा-दिशा में गूँजे गर्जन-रव जन-अधिकारों के ,
लगे टूटने एक-एक कर गढ़ अत्याचारों के ।
कहीं बाढ़ में रही डूबती आकुल विश्व-विषमता ,
कहीं निकल आयी नव धरती ले नव-नव सुख-समता ।
अमर मार्क्स-लेनिन-गान्धी ने जिस का पन्थ सुधारा ,
क्रान्ति-महानद बनी तोड़ जो जर्जर कूल-किनारा—
जय असीम जन धारा !

युग-युग की यह रात पार कर प्रात-परी मुसकायी ,
दिशा-दिशा के घन श्रृंगों पर अरुण ध्वजा फहरायी ।
तम-प्रकाश की आँख-मिचौनी रुकी काल-अम्बर में ,
उदित महा शतदल का केसर झरता लहर-लहर में ।
ज्योति-स्तम्भ गड़ गया क्षितिज पर, भू के अन्तस्तल में ,
जिस की हँसी धँसी जनधारा के गम्भीर अतल में !

जल-समाधि लेंगीं पल में वे सोने की नौकाएँ ,
जो कि धार-प्रतिकूल चल रहीं किरण-पाल फैलाये ।
लो विवेक ने उठा दिया श्रद्धा का मुख-अवगुंठन !
यह गतिमय रति, प्रकृति-पुरुष का यह अभेद आलिंगन !
आज सृष्टि-संगीत बना यह कंठ-कंठ का नारा—
'जयति जयति जाग्रत जन-धारा, जय अजस्र जन-धारा !
जय जन - जीवन - धारा !
जय जय जय जन-धारा !'

तमसो मा ज्योतिर्गमय

बुझी न दीप की शिखा, अनन्त में समा गयी !
अमन्द ज्योति प्राण-प्राण बीच जगमगा गयी !
अथाह स्नेह के प्रवाल में पली
अमर्त्य वर्तिका नहीं गयी छली ,
असंख्य दीप एक दीप बन गया
कि खिल उठी प्रकाश की कली-कली ,
घनान्धकार जल गया स्वयं नहीं हिली शिखा
प्रकाश-धार में तमस् भरी धरा नहा गयी ।

अकम्प ज्योति-स्तम्भ वह पुरुष बना
कि जड़ प्रकृति बनी विकास-चेतना ,
न सत्य-बीज मृत्तिका छिपा सकी
उगी, बढ़ी, फली अरूप कल्पना ;
न बँध सका असत्-प्रमाद-पाश में प्रकाश-तन
विमुक्त सत्-प्रभा दिगन्त बीच मुस्करा गयी ।

मरा न काम-रूप कवि बना अमर ,
कि कोटि-कोटि कंठ में हुआ मुखर ,
मिटा न, काल का प्रवाह बन घिरा
असीम अन्तरिक्ष में अनन्त स्वर ,
न मन्त्र-स्वर अमृत सँभाल मृण्मयी धरा सकी ,
त्रिकाल-रागिनी अनन्त सृष्टि-बीच छा गयी !

अनेकता अखंड एक हो गयी ,
अभेद बीच भेद-भ्रान्ति खो गयी ,
अबन्ध गन्ध बँध सकी न कूल में
समष्टि बीच पूर्ण व्यष्टि खो गयी ;
जिसे न पाश तन बना, न छू सका मरण-चरण ,
विराट् चेतना अरूप बन स्वरूप पा गयी !
बुझी न दीप की शिखा, अनन्त में समा गयी ।

——

सात बजे

रात बीत गयी !
दीख रही घास हरी
किरण-कलित ओस भरी
इन्द्र धनुष मयी !

उतर रही तरु-तृण पर
कुहा-धूम्र में छिप कर
धूप-वधू नयी !

धरती पर विहग-रचित—
गूँज रहे गीत हरित
बन कर चम्पई !

जाड़े का मुखर प्रात
टन टन कर बजे सात
एक साथ कई !
रात बीत गयी !

टेर रही प्रिया

टेर रही प्रिया, तुम कहाँ ?
किस की यह छाँह और किस के ये गीत रे ?
बरगद की छाँह और चैता के गीत रे !
सिहर रहा जिया, तुम कहाँ ?
टेर रही प्रिया, तुम कहाँ !
किस के ये काँटे हैं किस के ये पात रे ?
बेरी के काँटे हैं केले के पात रे ।
बिहर रहा हिया, तुम कहाँ ?
टेर रही प्रिया, तुम कहाँ ?
कौन से टिकोरे ये किस के ये फूल रे ?
आम के टिकोरे ये महुए के फूल रे !
बिरम गये पिया, तुम कहाँ ?
टेर रही प्रिया, तुम कहाँ ?
किस की ये आँखें हैं किस की यह रात रे ?
बिरहिन की आँखें हैं मावस की रात रे ।
बुझता यह दिया, तुम कहाँ ?
टेर रही प्रिया, तुम कहाँ ?

पूजा के बोल

बजता है ढोल कहीं पूजा के बोल !
नवमी का चाँद बुझा हवा उठी जाग ,
तैरता अँधेरे पर मिला जुला राग !
गीत की हिलोरों पर रात रही डोल !
नीम का हिंडोला, यह मालिन का द्वार ,
एक बूँद की प्यासी माँ रही पुकार !
यह पुकार नींद के किवाड़ रही खोल !
बाहर की साँय-साँय भीतर की ऊब ,
हलके पद चाप रहे डिम डिम में डूब !
मन में सुगबुगा उठे सपने अनबोल !
गान-लगा जी, जैसे बीन-ठगा साँप ,
उठता-गिरता स्वर की लहरों पर काँप !
पाल खुली, नाव बही सुधि की अनमोल !

पुरवैया धीरे बहो

मन का आकाश उड़ा जा रहा—
पुरवैया धीरे बहो !

बीती बातों पर सर टेक कर
टेर रहा मन भूली नींद को ,
धूप-छाँह की गंगा-यमुना में
डुबा रहा हँस-हँस उम्मीद को !

अपना विश्वास लुटा जा रहा—
पुरवैया धीरे बहो !

सूनेपन की बाहों में फँस कर
रुक-रुक चलती दिन की साँस है !
बदली की दीवारों में कस कर
करता कसमस फागुन मास है !

दुपहर का दीप बुझा जा रहा—
पुरवैया धीरे बहो !

हाड़-मास की गठरी सा जीवन
जीवित जैसे नंगी डाल है !
खड़-खड़ कर उड़ते खग से पत्ते
फैला झिलमिल भू पर जाल है !

आँखों का स्वप्न मिटा जा रहा—
पुरवैया धीरे बहो !

मैं वह पतझर जिस के ऊपर से
धूल-भरी आँधियाँ गुजर गयीं !
दिन का खँडहर जिस के माथे पर
अँधियारी साँझ की ठहर गयी !

जीवन का साथ छुटा जा रहा—
पुरवैया धीरे बहो !

——

कवि-परिचय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ('रसा')

जन्म : काशी, भाद्रपद शुक्ल पंचमी, सं० १९०७ (९ सितम्बर १८५०)।

निधन : ६ जनवरी १८८५।

पिता बाबू गोपालचन्द्र भी कवि थे। हरिश्चन्द्रजी बचपन से ही काव्य-रचना करने लगे। तीन-चार वर्ष कालेज की पढ़ाई के उपरान्त साहित्य और देश-सेवा की ओर विशेष रुचि हुई, अठारह वर्ष की आयु में 'कविवचन-सुधा' पत्रिका निकाली, और पाँच वर्ष बाद 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' भी, जो कुछ अंक निकल कर बन्द हो गया। सन् १७७४ से 'बाल-बोधिनी' निकाली। छोटे-बड़े मिला कर प्रायः १७५ ग्रन्थ रचे या अनूदित किये।

मुख्य रचनाएँ : 'सत्य-हरिश्चन्द्र' 'चन्द्रावली' 'भारत-दुर्दशा' 'भारत-जननी' 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' 'अन्धेर-नगरी' 'नील देवी' आदि नाटक; 'प्रेम-माधुरी' 'प्रेम-फुलवारी' 'प्रेम-प्रलाप' 'फूलों का गुच्छा' 'नये ज़माने की मुकरी' आदि कविता-संग्रह और गाने; 'स्वर्ग में विचार-सभा' 'सबै जाति गोपाल की' 'अँगरेज़ स्तोत्र' 'बकरी-विलाप' 'स्त्री-सेवा-पद्धति' 'उर्दू का स्यापा' आदि परिहास; 'कश्मीर-कुसुम' 'बादशाह-दर्पण' 'अग्रवालों की उत्पत्ति' 'पुरावृत्त-संग्रह' आदि ऐतिहासिक ग्रन्थ; 'श्रीरामानुज स्वामी' 'जयदेव' 'सूरदास' 'कालिदास' 'शंकराचार्य' आदि के जीवन-चरित आदि।

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'भारतेन्दु ग्रन्थावली' : सं० व्रजरत्नदास
'भारतेन्दु ग्रन्थावली' : सं० श्यामसुन्दरदास
'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' : व्रजरत्नदास
'भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र' : राधाकृष्णदास
'भारतेन्दु-भारती' : किशोरीलाल गोस्वामी
'भारतेन्दु की भाषा-शैली' : गोपाललाल खन्ना
'भारतेन्दु-साहित्य' की भूमिका : रामचन्द्र शुक्ल
'भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि' : किशोरीलाल गुप्त
'पूर्व भारतेन्दु-नाटक-साहित्य' : सोमनाथ
'भारतेन्दुकालीन हिन्दी नाटक' : चन्द्रप्रकाश सिंह

'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
'चन्द्रावली' की भूमिका : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
'भारतेन्दु-युग' : रामविलास शर्मा
'सम्मेलन-पत्रिका' 'का 'भारतेन्दु अङ्क' (१९५०)

नाथूरामशंकर शर्मा ('शंकर')

जन्म : हरदुआगंज (अलीगढ़), चैत्र शुक्ल पंचमी संवत् १९१६ (१५ अप्रैल १८५९)।

निधन : भाद्रपद कृष्ण पंचमी, १९८९ वि० (२१ अगस्त १९३२)।

तेरह वर्ष की आयु से कविता करने लगे। पढ़ाई हरदुआगंज में पूरी कर के कानपुर में नहर विभाग में नौकरी की, कुछ वर्ष बाद हरदुआगंज लौट कर वैद्यक चिकित्सा करने लगे, जिसमें ख्याति पायी।

मुख्य रचनाएँ : 'शंकर-सरोज', 'अनुराग-रत्न', 'वायस-विजय', 'गर्भ-रण्डा-रहस्य,' 'शंकर-सर्वस्व'।

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'शंकर-सर्वस्व'
'कविता-कौमुदी' (भाग २) : सं० रामनरेश त्रिपाठी
'हिन्दी कोविद रत्नमाला' : श्यामसुन्दरदास
'कविता-कलाप' : महावीर प्रसाद द्विवेदी
'हिन्दी विश्वकोश' (कलकत्ता)

श्रीधर पाठक

जन्म : जोन्धरी (जिला आगरा), माघ कृष्ण चतुर्दशी, संवत् १९१६ (११जनवरी १८८०)।

निधन : मसूरी, भाद्र, संवत् १९८६।

संस्कृत और फारसी पढ़ कर हिन्दी प्रवेशिका और फिर एंट्रेंस परीक्षा पास की;

कलकत्ते में पहले जन-गणना कमिश्नर के और अनन्तर भारत-सरकार के दफ्तर में नौकरी की। पेंशन ले कर प्रयाग में रहने लगे। व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में कविता करते थे; गोल्डस्मिथ की तीन लम्बी कविताओं का अनुवाद किया।

मुख्य रचनाएँ : 'आराध्य-शोकांजलि', 'जगत-सचाई-सार', 'काश्मीर-सुखमा', 'मनोविनोद', 'देहरादून', 'गोपिका-गीत', 'भारत-गीत'।

अनुवाद : 'एकान्तवासी योगी', 'ऊजड़ग्राम', 'श्रान्त पथिक'।

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'कविता-कौमुदी' (भाग २) : सं० रामनरेश त्रिपाठी।

राय देवीप्रसाद (पूर्ण)

जन्म : जबलपुर, मार्गशीर्ष कृष्ण त्रयोदशी संवत् १९२५।

निधन : ३० जून १९१५।

जबलपुर से वकालत की परीक्षा पास कर कानपुर में वकालत करने लगे। सार्वजनिक जीवन में भी भाग लेते थे। संगीत में भी बड़ी रुचि थी। 'रसिक-वाटिका' और 'धर्म-कुसुमाकर' मासिक निकालते रहे।

मुख्य रचनाएँ : 'चन्द्रकला-भानुकुमार', 'धाराधर-धावन'।

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'पूर्ण-वियोग' : रामरत्न सनाढ्य

'पूर्ण-प्रवाह' : मनोहरप्रसाद दुबे

'पूर्ण-संग्रह' : सं० लक्ष्मीकान्त तिवारी

'हिन्दी साहित्य का विकास और कानपुर' : नरेशचन्द्र चतुर्वेदी

कामताप्रसाद गुरु

जन्म : सागर, पौष १९३२।

निधन : १७ नवम्बर १९४७।

शिक्षा सागर में ही पायी। वहीं शिक्षक हुए, फिर रायपुर, कालाहंडी आदि

रहकर जबलपुर आ गये जहाँ नार्मल स्कूल में शिक्षक रहे। कुछ समय 'सरस्वती' तथा 'बालसखा' के सम्पादक भी रहे।

मुख्य रचनाएँ : 'सत्यप्रेम', 'भौमासुर-वध', 'पद्य-पुष्पावली', 'सहज हिन्दी-रचना', 'हिन्दी-व्याकरण' 'पार्वती और यशोदा' (उपन्यास), 'सुदर्शन' (नाटक)।

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'कविता कौमुदी' (भाग २) : सं० रामनरेश त्रिपाठी
'हिन्दी-व्याकरण' के रूसी अनुवाद की भूमिका : प्योत्र बारान्निकोव
'कविता,कलाप' : महावीरप्रसाद द्विवेदी
'हिन्दी' के निर्माता'

रामनरेश त्रिपाठी

जन्म : कोइरीपुर (जौनपुर), सं० १९४६

हिन्दी-मन्दिर और हिन्दी-प्रेस, प्रयाग के संस्थापक, 'वानर' का सम्पादन और प्रकाशन करते रहे; 'स्वप्न' पर हिन्दुस्तानी एकेडेमी का पुरस्कार मिला था। हिन्दी में लोक-साहित्य के अध्ययन की परम्परा इन्हीं से आरम्भ होती है।

मुख्य रचनाएँ : 'मिलन', 'पथिक', 'स्वप्न,' 'सुभद्रा' (उपन्यास), 'जयन्त' (नाटक), 'प्रेम-लोक', 'घाघ और भड्डरि', 'पेखन', 'हिन्दी पद्य-रचना'। 'तुलसीदास और उनका काव्य' (समीक्षा); 'कविता कौमुदी' (पाँच भाग), 'ग्राम-साहित्य' (दो भाग), (संकलन)।

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'हमारे कवि' : राजेन्द्रसिंह गौड़

गयाप्रसाद शुक्ल (सनेही, त्रिशूल)

जन्म : हड़हा (जिला उन्नाव) श्रावण शुक्ल त्रयोदशी, सं० १९४०

स्कूली शिक्षा समाप्त कर के अध्यापन करने लगे, उस से अवकाश ले कर कानपुर आ बसे; स्कूल में उर्दू ही प्रथम भाषा रही, अतः पहले उर्दू में कविता करते रहे।

मुख्य रचनाएँ : 'प्रेम-पच्चीसी', 'कुसुमांजलि', 'कृषक-क्रन्दन'।

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'सुकवि' के अंक

'हिन्दी साहित्य का विकास और कानपुर' : नरेशचन्द्र चतुर्वेदी

गोपालशरण सिंह

जन्म : नयी गढ़ी (रीवाँ), पौष शुक्ल प्रतिपदा, सं० १९४८।

हिन्दी और संस्कृत पढ़ कर रीवाँ से मैट्रिक पास किया, कुछ समय इलाहाबाद में कालेज में पढ़ते रहे। कविता लिखना ब्रजभाषा में आरम्भ किया, पर शीघ्र ही बोलचाल की भाषा में लिखने लगे।

मुख्य रचनाएँ : 'माधवी', 'कादम्बिनी', 'मानवी', 'सागरिका', 'सुमना', 'ज्योतिष्मती', 'ग्रामीणा', 'संचिता'।

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'सरस्वती' (भाद्र १९८१) में महावीरप्रसाद द्विवेदी का लेख

'आधुनिक कवि : गोपालशरण सिंह' की भूमिका

मैथिलीशरण गुप्त

जन्म : चिरगाँव, (झाँसी)। सावन तीज संवत् १९४३ (सन् १८८६)।

पिता श्री रामचरणजी स्वयं कवि थे। घर ही में शिक्षित हुए और कुल-परम्परानुगत गहरा वैष्णव संस्कार पाया।

'साकेत' पर मंगलप्रसाद पारितोषिक मिला था।

पहली रचना 'सरस्वती' में सन् १९०७ में प्रकाशित हुई।

मुख्य रचनाएँ : 'रंग में भंग' 'जयद्रथ-वध' 'भारत-भारती' 'तिलोत्तमा' (नाटक), 'वैतालिक' 'पंचवटी' 'अनघ' 'स्वदेश-संगीत' 'हिन्दू' 'गुरुकुल' 'झंकार' 'साकेत' 'यशोधरा' 'द्वापर' 'सिद्धराज' 'नहुष' 'कुणाल-गीत' 'पृथिवीपुत्र' 'जयभारत' इत्यादि।

अनुवाद : 'मेघनाद-वध', 'पलासी का युद्ध', 'विरहिणी' व्रजांगना, रुबाइयात उमर खैयाम,' 'वीरांगना', 'स्वप्न-वासवदत्ता' आदि।

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'गुप्तजी की कला' : सत्येन्द्र
'साकेत : एक अध्ययन' : नगेन्द्र
'गुप्तजी की काव्य-धारा' : गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'
'मैथिली-मान-ग्रन्थ' [अप्रकाशित] के कुछ लेख
'गुप्तजी की काव्य-साधना' : उमाकान्त
'मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता' : उमाकान्त
'गुप्त-काव्य में कारुण्य-धारा' : धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
'विशाल भारत' में प्रकाशित 'साकेत'-सम्बन्धी पत्र-व्यवहार।
'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में नन्ददुलारे वाजपेयी का 'साकेत'-विषयक लेख
'पृथ्वीपुत्र' का ए. जी. शिरेफ़ कृत अनुवाद—'आर्टस् एंड लेटर्स' में प्रकाशित।
'व्यक्ति और वाङ्मय' : प्रभाकर माचवे

माखनलाल चतुर्वेदी

जन्म : जिला होशंगाबाद, चैत्र शुक्ल ११ सं० १९४५ (सन् १८८८)।

माता-पिता जयपुर के रानोली ग्राम से आ कर होशंगाबाद बस गये थे। 'कर्मवीर' (खंडवा) के सम्पादक।

मुख्य रचनाएँ : 'कृष्णार्जुन-युद्ध' (नाटक), 'हिम-किरीटिनी' 'हिम-तरंगिणी' 'साहित्य-देवता' (गद्य काव्य), 'समर्पण' 'युग-चरण'।

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'हमारे साहित्य-निर्माता' : शान्तिप्रिय द्विवेदी
'मिट्टी की ओर' : 'दिनकर'
'व्यक्ति और वाङ्मय':—प्रभाकर माचवे
'विशाल-भारत' में रामवृक्ष बेनीपुरी का लेख : 'एक भारतीय आत्मा',
'संगम' का माखनलाल चतुर्वेदी विशेषांक
'युगान्तर' का विशेषांक
'हितचिन्तक' का विशेषांक

सियारामशरण गुप्त

जन्म : चिरगाँव, (झाँसी) । भाद्र पूर्णिमा सं० १९५२ वि० (सन् १८९५) राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के अनुज। अग्रज की भाँति घर में ही शिक्षा पायी। पहली रचना सन् १९१० में काशी के 'इन्दु' में प्रकाशित हुई।

मुख्य रचनाएँ : 'मौर्य्य-विजय' 'अनाथ' 'आर्द्रा' 'विषाद' 'दूर्वादल' 'गोद' (उपन्यास), 'मानुषी' (कहानियाँ), 'पुण्य-पर्व' (नाटक), 'पाथेय' 'अन्तिम-आकांक्षा' (उपन्यास) 'मृण्मयी' 'बापू' 'नारी' (उपन्यास) 'झूठ-सच' (निबन्ध), 'उन्मुक्त' 'नकुल' 'नोआखाली में' 'जयहिन्द' 'गीता-संवाद'

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'सियारामशरण गुप्त' : सम्पादक नगेन्द्र

'आलोचनांजलि' : कन्हैयालाल सहल

'हंस' का रेखा-चित्रांक

'प्रताप' का 'सियारामशरण गुप्त' अंक

'ग्रामीण' का विशेषांक

'आधुनिक भारतीय साहित्य' का हिन्दी

'पथ के साथी' : महादेवी वर्मा

बालकृष्ण शर्मा (नवीन)

जन्म : शुजालपुर, सन् १८९७।

'प्रताप' और 'प्रभा' के सम्पादक रहे; राष्ट्रीय आन्दोलन में कई बार जेल गये; अब राज्य-सभा के सदस्य हैं।

मुख्य रचनाएँ : 'कुंकुम', 'अपलक', 'क्वासि', 'ऊर्मिला'

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'व्यक्ति और वाङ्मय' : प्रभाकर माचवे

'हिन्दी साहित्य का विकास और कानपुर' : नरेशचन्द्र चतुर्वेदी

'आजकल' में भगवतीचरण वर्मा का लेख

जयशंकर 'प्रसाद'

जन्म : काशी, माघ शुक्ल १० संवत् १९४६ वि० (सन् १८८९)।

पिता श्री देवीप्रसाद 'सुंघनी साहु' के नाम से प्रसिद्ध थे। मिडिल पास कर के 'प्रसाद' जी ने १२ वर्ष की आयु में स्कूल छोड़ दिया।

'कामायनी' पर मरणोत्तर मंगलाप्रसाद पुरस्कार दिया गया था।

मुख्य रचनाएँ : 'करुणालय' 'राज्य-श्री' (नाटक), 'चित्राधार' 'अजातशत्रु' (नाटक), 'प्रतिध्वनि' 'आँसू' 'जनमेजय का नाग यज्ञ' (नाटक), 'कामना' (नाटक), 'झरना' 'स्कन्दगुप्त' (नाटक,), 'आकाशदीप' (कहानियाँ) 'कंकाल' (उपन्यास), 'एक घूँट' (नाटक), 'चन्द्रगुप्त' (नाटक), 'आँधी' (कहानियाँ), 'ध्रुवस्वामिनी' (नाटक), 'तितली' (उपन्यास), 'लहर' 'इन्द्रजाल' (कहानियाँ), 'कामायनी' इत्यादि।

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'कवि प्रसाद की काव्य-साधना' : रामनाथ 'सुमन'
'प्रसाद जी के दो नाटक' : कृष्णानन्द गुप्त
'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' : जगन्नाथप्रसाद शर्मा
'प्रसाद जी की कला ' : सं० गुलाबराय
'कामायनी : अनुशीलन' : रामपालसिंह
'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन' : द्वारकाप्रसाद
'प्रसाद के नाटक' : परमेश्वरीलाल गुप्त
'पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त' : रामधारीसिंह 'दिनकर'
'प्रसाद साहित्य-कोष' : हरदेव बाहरी
'प्रसाद काव्य-कोष : सुधाकर पाण्डेय
'कामायनी-मीमांसा' : फतेहसिंह
'आँसू : एक अध्ययन' : विनयमोहन शर्मा
'हिमालय' और 'नई धारा' में प्रकाशित राय कृष्णदास के संस्मरण
'प्रतीक' में 'इडा' पर शिवचन्द्र का लेख
'संगम' का 'प्रसाद' अंक
'भारत' का 'प्रसाद' अंक

'जयशंकर प्रसाद' : नन्ददुलारे वाजपेयी
'प्रसाद का काव्य' : सं० महावीर अधिकारी
संस्मरण : विनोदशंकर व्यास, वाचस्पति पाठक।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जन्म : महिषादल, मेदिनीपुर में माघ शुक्ल ११ संवत् १९५५ (सन् १९९८)। पिता रामसहाय त्रिपाठी महिषादल राज्य के कर्मचारी थे। मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त करके 'निराला' जी ने दर्शन और बंगला साहित्य का विशेष अध्ययन किया। पहली काव्य-रचना १७ वर्ष की आयु में की। 'मतवाला' के सम्पादक भी रहे।

मुख्य रचनाएँ : 'अनामिका' 'परिमल' 'अप्सरा' (उपन्यास) 'अलका' (उपन्यास) 'प्रबन्ध-पद्म' (निबन्ध) 'गीतिका' 'तुलसीदास' 'प्रबन्ध-प्रतिमा' (निबन्ध) 'बिल्लेसुर बकरिहा' (उपन्यास) 'कुकुर मुत्ता' 'अपरा' 'अर्चना' 'आराधना'

समीक्षात्मक, और अन्य सन्दर्भ :

'निराला' : रामविलास शर्मा
'महाप्राण निराला' : गंगाप्रसाद पांडेय
'क्रान्तिकारी कवि निराला' : बच्चनसिंह
'कवि निराला और उनका काव्य-साहित्य : गिरीशचन्द्र तिवारी
'निराला-अभिनन्दन-ग्रन्थ' : जानकीवल्लभ शास्त्री
'त्रिशंकु' : 'अज्ञेय'
'नया साहित्य' का 'निराला अंक'
'संगम' का 'निराला अंक'
'साहित्य' में प्रभाकर माचवे का लेख—अतियथार्थवाद और व्यंग्य-कवि 'निराला'
'हंस' में प्रकाशित शिवमंगल सिंह 'सुमन' की कविता
'नये भारत के नये नेता' : राहुल सांकृत्यायन
'राका' का विशेषांक

सुमित्रानन्दन पन्त

जन्म : कोसानी, जिला अल्मोड़ा, २४ मई सन् १९०० ।

पिता का नाम श्रीगंगादत्त पन्त । सन् १९१९ में मैट्रिक पास कर के म्योर सेन्ट्रल कालेज इलाहाबाद में प्रवेश किया; १९२० में कालेज छोड़ दिया और घर ही पर हिन्दी, बँगला, संस्कृत और अँगरेजी साहित्य का अध्ययन करते रहे ।

पहली रचना 'उच्छ्वास' सन् १९२१ में प्रकाशित हुई । इस से पहले सन् १९१५ में 'हार' नाम का उपन्यास लिखा था जो अप्रकाशित ही खो गया ।

मुख्य रचनाएँ : 'उच्छ्वास' 'पल्लव' 'वीणा' 'ग्रन्थि' 'गुञ्जन' 'ज्योत्स्ना' (नाटक) 'पाँच कहानियाँ' 'युगान्त' 'युगवाणी' 'ग्राम्या' 'स्वर्ण-किरण' 'स्वर्ण-धूलि' 'उत्तरा' 'रजत शिखर' (काव्य रूपक) 'अतिमा' 'चिदम्बरा'

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'सुमित्रानन्दन पन्त' : नगेन्द्र
'साहित्यिकी' : शान्तिप्रिय द्विवेदी
'ज्योति-विहग' : शान्तिप्रिय द्विवेदी
'सुमित्रानन्दन पन्त' : विश्वम्भरनाथ मानव
'पन्त और उन का काव्य युग' : यशदेव 'शल्य'
'पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त' : रामधारी सिंह 'दिनकर'
'पन्त और गुंजन' : हरिहरनिवास द्विवेदी
'त्रिशंकु' : 'अज्ञेय'
'गुञ्जन : एक अध्ययन' : नगेन्द्र
'पन्त और परवर्त्ती दर्शन' : विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
'व्यक्ति और वाङ्मय' : प्रभाकर माचवे
'छायावाद युग' : शम्भुनाथ सिंह
'छायावाद' : नामवर सिंह
'नये भारत के नये नेता' : राहुल सांकृत्यायन
'सुमित्रानन्दन पन्त' : सं० शचीरानी गुर्टू
'गीतिकाव्य' : रामखेलावन पाण्डेय
'प्रतीक' में प्रकाशित 'बच्चन' का लेख : 'पन्तजी'
'पल्लव', 'उत्तरा', 'आधुनिक कवि पन्त', 'युग-पथ' आदि की भूमिकाएँ ।

महादेवी वर्मा

जन्म : फरुखाबाद, संवत् १९६४ वि० (सन् १९०७) ।

पिता का नाम श्रीगोविन्दप्रसाद । संस्कृत विषय लेकर इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम. ए. कर के महादेवीजी निरन्तर अध्यापन करती रही हैं । कुछ समय 'चाँद' की सम्पादिका भी रहीं ।

पहली रचना 'चाँद' में प्रकाशित हुई ।

मुख्य रचनाएँ : 'नीहार' 'रश्मि' 'नीरजा' 'सान्ध्यगीत' 'यामा' (उपर्युक्त चारों का संग्रह) 'अतीत के चलचित्र' (संस्मरण) 'दीप-शिखा' 'स्मृति की रेखाएँ' (संस्मरण) 'शृंखला की कड़ियाँ' (निबन्ध) 'पथ के साथी' इत्यादि ।

महादेवी जी ने कुछ वैदिक ऋचाओं के पद्यबद्ध अनुवाद भी किये हैं। 'रघुवंश' का पद्यानुवाद अभी अप्रकाशित है ।

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'महादेवी की विरह-साधना' : विश्वम्भरनाथ 'मानव'
'साहित्यिकी' : शान्तिप्रिय द्विवेदी
'महादेवी वर्मा' : सं० शचीरानी गुर्टू
'महादेवी का गीतिकाव्य' : शिवमंगलसिंह 'सुमन'
'महादेवी वर्मा' : शिवचन्द्र नागर
'महादेवी और उनका आधुनिक कवि' : सुरेशचन्द्र गुप्त
'महीयसी महादेवी' : गंगाप्रसाद पाण्डेय
'यामा', 'सान्ध्यगीत' और 'आधुनिक कवि' : महादेवी वर्मा की भूमिकाएँ
'संगम' का विशेषांक
'आजकल' में भगवतीचरण वर्मा का लेख

रामकुमार वर्मा

जन्म : सागर, १५ नवम्बर १९०५ ।

प्रयाग से एम० ए० कर के नागपुर से डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। 'चित्ररेखा' पर देव पुरस्कार और 'चन्द्रकिरण' पर चक्रधर पुरस्कार मिला ।

मुख्य रचनाएँ : 'अंजलि' 'रूपराशि' 'चित्ररेखा' 'हिम-हास' 'चन्द्रकिरण' 'चित्तौड़ की चिता' 'अभिशाप' 'निशीथ' 'पृथ्वीराज की आँखें' 'रेशमी टाई', 'कौमुदी-महोत्सव' (नाटक); 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' 'कबीर का रहस्यवाद' ।

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :
'चित्ररेखा' में रामचन्द्र श्रीवास्तव का लेख
'एकांकी और एकांकीकार' : रामचरण महेन्द्र
'आधुनिक हिन्दी नाटक' : नगेन्द्र

सुभद्राकुमारी चौहान

जन्म : प्रयाग, श्रावण शुक्ल पंचमी, सं० १९६१ (१९०५) ।

निधन : माघ शुक्ल पंचमी सं० २००४ (१५ फरवरी १९४८) ।

राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेती रहीं; 'मुकुल' और 'बिखरे मोती' दोनों पर अलग-अलग सेकसरिया पुरस्कार प्राप्त हुआ । शैशव से ही कविता की ओर रुझान था । पहली कविता 'मर्यादा' (प्रयाग) में सन् १९१५ में प्रकाशित हुई ।

मुख्य रचनाएँ : 'मुकुल', 'बिखरे मोती', 'सीधे-सादे चित्र', 'त्रिधारा' ।

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :
'प्रहरी' और 'हितचिन्तक' के विशेषांक
'हंस' में संस्मरण
स्नेह, सेवा और संघर्ष : जगदीशप्रसाद व्यास, रामेश्वर गुरु ।
जनभारती (कलकत्ता) का सुभद्रा विशेषांक ।

रामधारीसिंह (दिनकर)

जन्म : सेमरिया, जिला मुंगेर, संवत् १९६५ वि० (सन् १९०९) ।

सेमरिया ग्राम के विषय में अनुश्रुति है कि मैथिल-कोकिल विद्यापति के लिए गंगा इस की ओर मुड़ आयी थी । सन् १९३२ में इतिहास विषय ले कर बी. ए. (आनर्स) की परीक्षा पास की । बिहार सरकार के प्रचार विभाग के अधिकारी और अनन्तर लंगटसिंह कालेज, मुजफ्फरपुर में प्राध्यापक रहे; अब राज्य सभा के सदस्य हैं ।

'कुरुक्षेत्र' पर साहित्यकार संसद् से पुरस्कार मिल चुका है ।

मुख्य रचनाएँ : 'रेणुका' 'हुंकार' 'रसवन्ती' 'द्वन्द्वगीत' 'मिट्टी की ओर' 'कुरुक्षेत्र' (निबन्ध), 'सामधेनी 'रश्मिरथी' 'धूपछाँह' 'इतिहास के आँसू' 'नीलकुसुम' 'चक्रवाल' 'संस्कृति के चार अध्याय' आदि।

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'दिनकर' और उनका काव्य : कपिल
'दिनकर' : शिवचन्द्र शर्मा
'दिनकर की काव्य-कला' : कामेश्वर शर्मा
'प्रगतिवाद' : शिवचन्द्र शर्मा
'नीलकुसुम' और 'चक्रवाल' की भूमिकाएँ
'दिनकर के काव्य' : लालधर त्रिपाठी

भगवतीचरण वर्मा

जन्म : शफीपुर, सन् १९०३।

वकालत की परीक्षा पास की; साप्ताहिक और मासिक पत्रों का और कुछ समय एक दैनिक का भी सम्पादन किया। कुछ समय बम्बई में फिल्म क्षेत्र में और कुछ वर्ष आल इंडिया रेडियो में कार्य किया।

मुख्य रचनाएँ : 'मधुकण' 'प्रेम-संगीत' 'मानव'; 'चित्रलेखा' 'टेढ़ेमेढ़े रास्ते' 'तीन वर्ष'; 'इंस्टालमेंट' 'दो बाँके'।

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' : नन्ददुलारे वाजपेयी
'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास' : लक्ष्मीनारायण लाल

हरिवंशराय 'बच्चन'

जन्म : प्रयाग, २७ नवम्बर १९०७।

काशी से एम. ए. कर के प्रयाग विश्वविद्यालय में अँगरेज़ी के अध्यापक रहे, केम्ब्रिज से डाक्टरेट पायी, अब भारत सरकार के विदेश मन्त्रालय में हैं।

मुख्य रचनाएँ : 'मधुशाला, 'मधुबाला' 'मधु-कलश' 'निशा-निमन्त्रण'

'एकान्त-संगीत' 'आकुल अन्तर' 'सतरंगिनी' 'बंगाल का अकाल' 'हलाहल' 'सूत की माला' 'मिलन-यामिनी' 'प्रणय-पत्रिका' 'आरती और अंगारे' 'जन गीता' 'बुद्ध और नाचघर'

समीक्षात्मक और अन्य सन्दर्भ :

'त्रिशंकु' : 'अज्ञेय'

'प्रारम्भिक रचनाएँ : बच्चन की भूमिका

'कल्पना' में अजितकुमार का लेख

नरेन्द्र शर्मा

जन्म : जहाँगीरपुर (बुलन्दशहर), सन् १९१३ ।

प्रयाग विश्वविद्यालय से एम. ए. । कुछ समय आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी के कार्यालय में रहे, सुमित्रानन्दन पन्त के साथ 'रूपाभ' का सम्पादन किया, बम्बई में फिल्मों के लिए गीत और संवाद लिखते रहे, अब आल इण्डिया रेडियो से सम्बद्ध हैं ।

मुख्य रचनाएँ : 'शूल-फूल' 'प्रभात फेरी' 'प्रवासी के गीत' 'पलाशवन' 'कामिनी' 'मिट्टी और फूल' 'हंसमाला' 'रक्त-चन्दन' 'अग्निशस्य, 'कदलीवन'; 'कड़वी मीठी बातें' ।

बालकृष्ण राव

जन्म : सन् १९१९ ।

भारतीय सिविल सर्विस में रहे; अब 'लीडर' से सम्बद्ध हैं और स्वतन्त्र पत्रकारिता भी करते हैं ।

मुख्य रचनाएँ : 'कौमुदी' 'आभास' 'रात बीती' 'हमारी राह' अनुवाद : 'विक्रान्त सेमसन' (मिल्टन)

समीक्षात्मक सन्दर्भ : 'कल्पना' में नयी कविता पर लेख-माला

हंसकुमार तिवारी

जन्म : सन् १९१८ ।

कई पत्रिकाओं का सम्पादन करते रहे । बंगला से कई पुस्तकों का अनुवाद भी किया है ।

मुख्य रचनाएँ : 'रिमझिम' 'अनागत' 'संचयन' 'साहित्यिकी' ।

समीक्षात्मक सन्दर्भ :

'नयी कविता' : विश्वम्भर 'मानव'

शिवमंगलसिंह (सुमन)

जन्म : सन् १९१६ ।

काशी विश्वविद्यालय से 'डाक्टर आफ़ लिटरेचर' की उपाधि पायी; उज्जैन और इन्दौर में महाविद्यालयों में हिन्दी पढ़ाते रहे; अब नेपाल में भारतीय दूतावास में हैं ।

मुख्य रचनाएँ : 'हिल्लोल' 'जीवन के गान' 'विश्वास बढ़ता ही गया' 'पर आँखें नहीं भरीं' ।

शम्भुनाथ सिंह

जन्म : सन् १९१७ ।

काशी विश्वविद्यालय से डाक्टर की उपाधि प्राप्त की, अब वहीं संस्कृत विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ाते हैं ।

मुख्य रचनाएँ : 'रूप-रश्मि' 'छायालोक' 'उदयाचल' 'दिवालोक' 'मन्वन्तर' 'माध्यम : मैं'; 'छायावाद युग' ।

समीक्षात्मक सन्दर्भ :

'नयी कविता' : विश्वम्भर 'मानव'

मुख्य रचनाएँ : 'रिमझिम' 'भूनागत' 'संचयन' 'साहित्यिकी' ।

समीक्षात्मक सन्दर्भ :

'नयी कविता' : विश्वम्भर 'मानव'

शिवमंगलसिंह (सुमन)

जन्म : सन् १९१६ ।

काशी विश्वविद्यालय से 'डाक्टर आफ् लिटरेचर' की उपाधि पायी, उज्जैन और इन्दौर में महाविद्यालयों में हिन्दी पढ़ाते रहे; अब नेपाल में भारतीय दूतावास में हैं ।

मुख्य रचनाएँ : 'हिल्लोल' 'जीवन के गान' 'विश्वास बढ़ता ही गया' 'पर आँखें नहीं भरीं' ।

शम्भुनाथ सिंह

जन्म : सन् १९१७ ।

काशी विश्वविद्यालय से डाक्टर की उपाधि प्राप्त की, अब वहीं संस्कृत विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ाते हैं ।

मुख्य रचनाएँ : 'रूप-रश्मि' 'छायालोक' 'उदयाचल' 'दिवालोक' 'मन्वन्तर' 'माध्यम : मैं'; 'छायावाद युग' ।

समीक्षात्मक सन्दर्भ :

'नयी कविता' : विश्वम्भर 'मानव'